पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तिः

महायाज्ञिकपाठकश्रीगङ्गाधरकृता

प्रथमकाण्डात्मिका

सम्पादिका

डॉ० माया मालवीय



गङ्गानाथझापरिसरः

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (मानितविश्वविद्यालयः)

आजादोद्यानम्, प्रयागः-211 002

गङ्गानाथझापरिसरमूलग्रन्थमाला

प्रसूनम् - 61

प्रधानसम्पादकः

प्रो. सर्वनारायण झा

महायाज्ञिकपाठकश्रीगङ्गाधरकृता

पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तिः

(प्रथमकाण्डात्मिका)

सम्पादिका

डॉ. माया मालवीय



राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

गङ्गानाथझापरिसरः

आजादोद्यानम्, इलाहाबाद-211 002

2011

गङ्गानाथझापरिसरमूलग्रन्थमाला
प्रसूनम् - 61

प्रधानसम्पादकः
प्रो. सर्वनारायण झा

महायाज्ञिकपाठकश्रीगङ्गाधरकृता

पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तिः

(प्रथमकाण्डात्मिका)

सम्पादिका
डॉ॰ माया मालवीय



राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
गङ्गानाथझापरिसरः
आजादोद्यानम्, इलाहाबादः 211002

2011

प्रकाशकः प्राचार्यः
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
मानित-विश्वविद्यालयः
गङ्गानाथझा-परिसरः,
इलाहाबादः -2

संस्करणम् -प्रथमम्

प्रकाशनवर्षम् - 2011

मूल्यम् :

मुद्रणम् : एकेडमी प्रेस,
दारागंज, इलाहाबाद

Ganganatha Jha Campus Text Series No. 61

General Editor

Prof. Sarvanarayan Jha

Pāraskaragṛhyasūtravṛttiḥ

(Prathamakāṇḍātmikā)

by

Mahāyājñika Śrí Gaṅgādhara Pāṭhaka

Edited by

Dr. Maya Malaviya



Rashtriya Sanskrit Sansthan

Ganganatha Jha Campus

Chandrashekhar Azad Park

Allahabad - 211 002

2011

Published by : Principal
Rashtriya Sanskrit Sansthan
Ganganatha Jha Campus
Chandrashekhar Azad Park
Allahabad - 211 002 (U.P.) India

First Edition : 2011

Price :

Printed At :

दो शब्द

।।ऊँ नमश्चण्डिकायै।। वेदाध्ययन के साथ-साथ ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और वेदाङ्गों का आदरपूर्वक अध्ययन और पाठ की भारतीय परम्परा रही है क्योंकि इनके माध्यम से वेदोपलब्ध ज्ञान परिपुष्ट होता है। वेदार्थ-प्रतिपादन और गूढ़ार्थ संकेतों के अध्ययन में सहायता मिलती है। गूढ़ार्थ संकेतों का पल्लवन हो पाता है। इसी उद्देश्य से वेद विहित यज्ञानुष्ठानादि को व्यवस्थित स्वरूप देने के लिए सभी शाखाओं के सूत्र-ग्रन्थों की रचनाएँ हुईं जो श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्बसूत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्रौतसूत्र में श्रुति प्रतिपादित यज्ञों का विचार, गृह्यसूत्र में गृह्याग्नि से सम्पन्न होने वाले कर्मों (संस्कारों) का विचार, धर्मसूत्र में वर्णाश्रम धर्म आदि का विचार और शुल्बसूत्र में ज्यामितीय गणनाओं के आधार पर यज्ञवेदी निर्माण आदि का विचार किया गया है।

पारस्करगृह्यसूत्र शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस पर महायाज्ञिक पं. गङ्गाधर ने वृत्ति लिखी है जो पारस्करगृह्यसूत्रवृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है। आदरणीया डा. माया मालवीय जी द्वारा किया गया इसका वैदुष्यपूर्ण सम्पादन हम सभी के लिए उपादेय है। डा. मालवीय वैदिक वाङ्मय की गम्भीर विदुषी हैं। उनका अपने विषय के प्रति और इस गङ्गानाथ झा परिसर के प्रति इतना अधिक अनुराग है कि सेवानिवृत्ति के बाद भी इस ग्रन्थ-सम्पादन परियोजना को सम्पन्न कर प्रकाशनार्थ सहर्ष समर्पित किया है। आज भी उनका उत्साह अनुकरणीय है।

मैं संस्था की ओर से उनके प्रति सादर सस्नेह आभार प्रकट करता हूँ और व्यक्तिगत रूप से श्रद्धा एवं आदर सहित प्रणाम करता हूँ साथ ही उनके दीर्घायु की कामना करते हुए आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ रत्न विद्वानों एवं समाज के आम लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

सर्वनारायण झा

।। श्रीः ।।

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

महायाज्ञिक पं० गङ्गाधर की वृत्ति '**पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तिः**' शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के विख्यात गृह्यसूत्र '**पारस्करगृह्यसूत्र**' पर की गई टीका है अतः सर्वप्रथम '**पारस्करगृह्यसूत्र**' पर ही प्रकाश डालना उचित होगा।

दुर्बोध वेदों के अर्थ को समझने और उसके कर्मकाण्ड के अनुष्ठानों में सहायक एवं उपकारक शास्त्रों को वेदाङ्ग के अन्तर्गत माना गया है। ब्राह्मण साहित्य में वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-यागादि के अत्यधिक विस्तृत और जटिल हो जाने के कारण उनको सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध, व्यावहारिक, संरक्षित और संक्षिप्त करने की दृष्टि से कल्पसूत्रों का प्रणयन प्रत्येक शाखा में हुआ जो श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्बसूत्र के रूप में चार प्रकार के हैं। ये एक प्रकार से 'निदर्शिका' हैं। श्रौत-सूत्रों में श्रुतिप्रतिपादित यज्ञों यथा दर्श, पूर्णमास, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, सोमयाग, सत्र, गवामयन, वाजपेय, सौत्रामणी, पुरुषमेध, राजसूय, एकाहयाग, अहीन, अश्वमेध यज्ञों का वर्णन है। गृह्यसूत्रों में गृह्याग्नि में सम्पन्न होने वाले कर्मों, संस्कारों का वर्णन है, यथा उपनयन, विवाह, श्राद्धादि। धर्मसूत्रों में चारो वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्यों विशेषतः राजा के कर्त्तव्यों, अतिथि-सत्कार, प्रायश्चित्त आदि के नियमों का वर्णन है। शुल्ब-सूत्रों में आर्यों की प्राचीन ज्यामितीय गणनाओं के आधार पर अग्न्यायतन, वेदियों की निर्माण-प्रक्रिया का विधान वर्णित है। प्रवर-सूत्रों में विविध गोत्रों के प्रवरों का संग्रह है। श्रौतकर्मों का अनुष्ठान गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नामक अग्नियों की सहायता से किया जाता है, जब कि गृह्य-कर्मों का सम्पादन विवाह के समय स्थापित अग्नि में किया जाता है।

गृह्यसूत्रों का व्यापक क्षेत्र

गृह्यसूत्रों में गृहस्थ से सम्बद्ध कर्मों, संस्कारों एवं सामाजिक प्रथाओं का विवेचन है। इसके वर्ण्य-विषयों में विवाह, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, उपनयन, समावर्तन, पञ्चमहायज्ञ, देवताओं, पितरों के लिये बलिकर्म, समिदाधान, तर्पण, भवननिर्माण के समय के कर्म, नवान्न-ग्रहण-कर्म, पृथ्वी-शयन-विधान, विभिन्न कामनाओं के पूर्त्यर्थ किये जाने वाले अभिचार कर्म और श्राद्ध कर्म आते हैं। गृह्यसूत्रों में ग्यारह से लेकर अठारह संस्कारों तक का विवेचन है। **पारस्करगृह्यसूत्र** में तेरह संस्कारों का वर्णन है।

गृह्यसूत्रों में प्राचीन भारत के धार्मिक एवं सामाजिक इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री है। इनमें प्रातः और सायं काल की दैनिक आहुतियाँ, दैनिक बलिकर्मों एवं प्रतिमास के बलिकर्मों, वार्षिक कर्मों, अग्न्याधान, घर बनाने के लिये भूमि का चुनाव, स्तम्भ रखने की विधि, उपाकरण, स्वाध्याय का सत्र-समापन, अनध्याय, अन्त्येष्टि, पितृ-कर्म, आभिचारिक क्रियाओं एवं प्रायश्चित्तों का वर्णन है, इनके अतिरिक्त यात्रा पर जाते समय एवं लौटते समय के मन्त्र, सभा में प्रवेश के समय के मन्त्रों का भी विधान वर्णित है।

गृह्यसूत्रों में वर्णित विषयों की प्राचीनता

ऋग्वेद के दशम मण्डल के अनेक सूक्तों में विवाह, गर्भाधान और अन्त्येष्टि का वर्णन प्राप्त होता है। **शतपथ ब्राह्मण** १.४.२.१० तथा १.७.१.३ एवं १४.९.४.१८ में पाकयज्ञ और स्थालीपाक का उल्लेख है। **शतपथ ब्राह्मण** ११.५.४ में उपनयन धर्म का निरूपण, ११.५.६ में पञ्च महायज्ञ, ११.५.७. में स्वाध्याय प्रशंसा, १४.९.४.१३-१७ में गौर वर्ण, कपिल, श्यामवर्ण एवं लोहिताक्ष-पुत्र, विदुषी पुत्री एवं पण्डित-पुत्र की इच्छा करने वालों के लिये अनुष्ठान बताया गया है। श.प.ब्रा. १४.९.४.११ में आभिचारिक क्रिया का वर्णन है। इसी प्रकार सोष्यन्ती कर्म, आयुष्यकर्म, जातकर्म, मेधा-जनन, आदि का भी विवरण गृह्यसूत्रों की शैली में प्राप्त होता है। इससे पता चलता है कि गृह्यसूत्रों का क्षेत्र अति व्यापक तो है ही, साथ ही इसकी परम्परा प्रागैतिहासिक काल तक जाती है। केवल वैदिक काल तक ही यह सीमित नहीं है। गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कार किसी न किसी रूप में बहुत पहले भी प्रचलित रहे होंगे। मन्त्र भले ही बाद में संयुक्त किये गये हैं पर भावपूर्ण हार्दिक उद्गार तो संयुक्त रहे ही होंगे। गृह्यसूत्रों में भारोपीयजनों में प्रचलित भाषा के अतिरिक्त रीतियों, प्रथाओं के रूप भी अवश्य सुरक्षित मिलेंगे।

गुरुवर पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी ने अपने ग्रन्थ **'वेदावित्तप्रकाशिका'**[1] में वेद और अवेस्ता में प्राप्त भाषा और कर्मकाण्ड विषयक समानताओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है। वैदिक गृह्य और श्रौतकर्मों की तरह जरठोष्ट्रीय कर्मकाण्ड भी हैं। वहाँ भी अग्न्याधान है। वहाँ सोमयाग के समान हओम-याग है। जरठोष्ट्रीय लोगों में भी

---

[1] ***वेदावित्तप्रकाशिका पं. क्षेत्रेशचन्द्रचट्टोपाध्यायविरचिता।*** राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नवदेहली, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ ग्रन्थावली- *(१३)*, गं.झा के.सं.वि. इलाहाबाद, १९९७, पृ. १५, २०५

उपनयन, विवाह और मृतक संस्कार रूप गृह्यकर्म हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि प्रागैतिहासिक युग में भी भारोपीय परिवारों में गृह्यकर्म प्रचलित थे।

गृह्यकर्म मानव एवं आध्यात्मिक शक्तियों को जोड़ने वाली कड़ी हैं। इनमें जीवन के हर नये मोड़ एवं विभिन्न अवसरों पर देवताओं का आवाहन एवं उनसे प्रार्थनायें की जाती हैं। मानव-जीवन की प्रमुख घटनाओं, अवस्थाओं या परिवर्तनों को महत्त्व एवं वैशिष्ट्य प्रदान कर, उन्हें उच्चतम अलौकिक शक्तियों से सम्बद्ध किया जाता है और इस प्रकार मानव-मन की अनुभूतियों को धार्मिक एवं आध्यात्मिक स्तर का स्पर्श प्रदान किया जाता है। उद्देश्य है दुष्प्रभावों का निराकरण और अभीष्ट गुणों, प्रभावों और योग्यता का आधान।

गृह्यसूत्र प्रत्येक वेद और उसकी शाखाओं के प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद के गृह्यसूत्र आश्वलायन, शांखायन और कौषीतकि हैं। कृष्ण-यजुर्वेद के गृह्यसूत्र बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशि, वैखानस, आग्निवेश्य, मानवगृह्यसूत्र, वाराह और काठक हैं। सामवेदीय गृह्यसूत्रों में गोभिल गृह्य, खादिर और जैमिनीय हैं। अथर्ववेद का एक मात्र गृह्यसूत्र कौशिक गृह्यसूत्र है। **पारस्करगृह्यसूत्र** शुक्लयजुर्वेद की काण्व और माध्यन्दिन दोनों शाखाओं का प्रतिनिधित्व करता है। अतः निश्चय ही यह प्राचीनतम गृह्यसूत्रों में एक है।

श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्र-सम्बन्ध

परम्परा-निर्वहण के रूप में गृह्यसूत्रों में प्रारम्भ में ही यह उद्घोषणा प्राप्त होती है कि "श्रौतकर्मों के विधान के अनन्तर अब गृह्यकर्मों का कथन होगा । यथा-

"अथातो गृह्यकर्माण्युपदेक्ष्यामः"- **गोभिल गृह्यसूत्र** (१.१.१)। तथा-

"उक्तानि वैतानिकानि गृह्याणि वक्ष्यामः"- **आश्वलायन गृह्यसूत्र** (१.१.१)।

तथा- "अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म"- **पारस्करगृह्यसूत्र** (१.१.१)।

कर्काचार्य के मतानुसार इस सूत्र का आनन्तर्य-प्रज्ञप्ति-प्रयोजन है। "यस्मात् श्रौतान्यभिहितानि स्मार्त्तान्येवानुशिष्यन्ते अतस्तानि वक्तव्यानीति"। 'अथ' शब्द यहाँ आनन्तर्यार्थ प्रयुक्त है।

के.पी. ऐथल के अनुसार[1] "Gṛhyasūtra is a continuation of the Śrauta-sūtra".

इस प्रसंग में कर्काचार्य जी (**पा.गृ.सू. १.१.१**) का वक्तव्य ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं- "प्रत्यक्षा हि श्रुतयः श्रौतेषु, स्मार्त्तेषु च पुनः कर्तृसामान्यादनुमेयाः श्रुतयः। स्मार्त्तानामपि हि वेदमूलत्वमुक्तम्। तस्मात्प्रत्यक्षश्रवणात्तान्येव पूर्वमभिधीयन्ते न गर्भाधानादीनि।"

इससे यह स्पष्ट है कि श्रौतसूत्रों का कथन पहले इसलिये किया गया है क्योंकि वे साक्षात् श्रुति से सम्बद्ध हैं। गृह्यकर्मों को स्मार्त्त कर्म भी कहते हैं क्योंकि वे वेदों से परोक्षतया सम्बद्ध हैं। इसमें श्रुतिप्रामाण्य का अनुमान करना पड़ता है। गृह्यसूत्रों का महत्त्व घट कर है, यह सिद्ध नहीं होता। स्मार्त्तसूत्रों की भी वेदमूलकता है। गृह्यसूत्रकारों ने अपने कथन की पुष्टि के लिये प्रायः "इति श्रुतेः" कह कर वेदों का प्रामाण्य स्थापित किया है। वस्तुतः श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों का काल–प्रवाह समानान्तर रहा है। दोनों ही में परस्पर सम्बन्ध रहा है। गृह्यसूत्रों में श्रौतसूत्रों का प्रायः प्रत्यक्ष सन्दर्भ प्राप्त होता है।

डा. के.पी. ऐथल ने **आश्वलायनगृह्यसूत्रभाष्य** की अपनी भूमिका में आश्वलायन गृह्यसूत्र में प्राप्त **आश्वलायन श्रौतसूत्र** के प्रत्यक्ष सन्दर्भों की सूची, पृ. XXIII पर दी है।

पारस्करगृह्यसूत्र और कात्यायन श्रौतसूत्र का घनिष्ट सम्बन्ध

पारस्करगृह्यसूत्र के अनेक सूत्रों में कात्यायन श्रौतसूत्र के सूत्रों का सन्दर्भ प्राप्त होता है –

पारस्करगृह्यसूत्र	कात्यायन श्रौतसूत्र
१. आज्यमुद्वास्योत्पूयावेक्ष्य प्रोक्षणीश्च पूर्ववदुपयमनान् .....जुहुयात् १.१.४	सव्ये कृत्वा दक्षिणेनोदिङ्गयति.......इति। २.३.३४
२. बर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति। १.२.१२	बर्हिः 'सम्बर्हि' इति। ३.८.५.
३. प्रोष्येत्य गृहानुपतिष्ठते पूर्ववत्। १.१८.१	एत्य च। गृहा मा बिभीतेति गृहानुपैति। ४.१२.२०–२१

---

[1] **आश्वलायनगृह्यसूत्रभाष्यम् देवस्वामिकृतम्**, अडयार लायब्रेरी एण्ड रिसर्च सेन्टर, वाल्युम-१११, पृ. XXII

४. दीक्षावदेके दीर्घसत्रमुपेतीति वचनात्। २.२.१३	मुखसम्मितमौदुम्बरं दण्डं प्रयच्छति (७.४.१)। उच्छ्रयस्वेत्येनमुच्छ्रयति (२) तं दक्षिणत......वाग्यमने। ७.४.१-४
५. कालातिक्रमे नियतवत्। २.५.४१	अविज्ञाते........ सर्वप्रायश्चित्तं च। २५.१.१२
६. तेषां संस्कारेप्सु व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा ......वचनात्। २.५.४३	व्रात्यस्तोमेनिष्ट्वा....व्यवहार्या भवन्ति। २२.४.२९-३०
७. अहतं वासो धौतं वा ....छादयीत। २.६.२०	स्नातवस्यं वाऽमौत्रधौतं....रिति। ७.२.१६
८. स्वाहाकारप्रदाना .... निवृत्तिः। २.१७.१२	उपविष्टहोमाः स्वाहाकार......जुहोतयः। १.२.७
९. प्रेताय पिण्डं दत्त्वाऽवनेजनदान ... नामग्राहम्। ३.१०.२७	असाववनेनिक्ष्वेति.....त्रीन्। ४.१.१०
१०.परिव्ययणोपाकरण .... कुर्याद्यच्चान्यत्। ३.११.२	परिवीयमाणायानुवाचयति ...... परिवीरसीति। ६.३.१३, ६.३.२३-२४, ६.३.२७
११.परिपशव्ये हुत्वा.......पञ्च। ३.११.३	स्वाहा देवेभ्य....। देवेभ्यः.... जुहोति। ६.५.२१, ६.५.२३

निम्नलिखित सूत्रों में पर्याप्त सादृश्य दृष्टिगोचर होता है –

पारस्करगृह्यसूत्र	कात्यायनश्रौतसूत्र
त्र्येण्या शलल्या विनीय त्रीणि...ओषध इति। २.१.१०	त्र्येण्या शलल्या.......इति। ५.२.१५
इन्द्रं दैवीरिति जपति। २.१५.९	इन्द्रं दैवीरिति जपति। १८.४.२५
अप्स्ववदानहोमः। ३.१२.४	अप्स्ववदानहोमः। १.१.१६
भूमौ पशुपुरोडाशश्रपणम्। ३.१२.५	भूमौ पशुपुरोडाशश्रपणम्। १.१.१५

उपर्युक्त उद्धरणों के अतिरिक्त निम्नलिखित सूत्र भी साम्य-दृष्ट्या ध्यातव्य है-

पा. २.१.९. -का.५.२.१४.
पा. २.१.११.-का.५.२.१७.
पा. २.१५.५.-का.१८.४.२३.

श्री गंगाधर जी ने वृत्ति में सूत्रों की व्याख्या कात्यायन श्रौत्रसूत्र के परिप्रेक्ष्य में की है जिसकी प्रस्तुति यहाँ आवश्यक एवं उचित है। निदर्शनार्थ केवल दो कण्डिकाओं में प्राप्त **का.श्रौ.सू.** के सन्दर्भ नीचे दिये जा रहे हैं-

पा.गृ.सू. (प्रथम कण्डिका) १.१.१	**का.श्रौ.सू.** १.१.१, १.१०.१४, १८.४.१०, ६.१०.१७, १.२.२, ६.२.५, ६.२.६, ६.२.७, ६.२.८, ८.२.१९. ८.२.२०, ८.२.२१. ८.२.२२-२३, ८.३.१९, ६.१०.२६, ६.१०.२७. ६.१०.२८, ६.१०.२९, ६.१०.१७, ६.१०.२९., ६.१०.२९. ६.१०.३०, ६.१०.२९, ६.१०.१७, ६.१०.२३.
१.१.२	१.७.२६, १६.७.३२, ५.३.२२, ४.१.७, ४.८.१४, १.८.२६, ५.४.१७, ४.८.१४, ७.५.१४, ६.१०.३४, १.८.२९, १.७.२२, २.३.६, १.७.२५, १.८.२४, १.७.२४, २.३.९, २.३.३२, २.३.३४-३६, १.७.२५, १.८.२४, १.१०.१४
१.१.३	१.८.४४, २.६.३९, ४.१४,२१, १.८.२६, १.८.४४, ६.१०.२६, ६.१०.२७, १.९.१-४, ६.१०.३१, ६.१०.३२-३३
१.१.४.	४.२.२८-३१, १.१०.७-८, १.१०.७, १.३.१८, २.८.१,
१.१.५.	७.१.२२.

पा.गृ.सू. (द्वितीय कण्डिका)	का.श्रौ.सू.
१.२.१	१.५.१६, २.५.१७, २.५.१७
१.२.२	X
१.२.३-६	४.७.१४, ४.७.१५, ४.८.९, ४.७.२०,
१.२.७-८	१.५.११, १.८.३७
१.२.९-१३	१.८.३७, ८.५.३३. ६.१०.२६, ६.१०.२७

इस तरह से आगे की कण्डिकाओं में भी व्याख्या में का.श्रौ.सू. के सन्दर्भ मिलेंगे, जिन्हें ग्रन्थ में देखा जा सकता है।

पारस्करगृह्यसूत्र का सामान्य परिचय

पारस्करगृह्यसूत्र सभी गृह्यसूत्रों में सर्वाधिक प्रचलित और प्राचीन है। प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत, बंगाल, कश्मीर, और दक्षिण भारत के भी कुछ भागों में इसी के अनुसार गृह्यकर्म सम्पादित होते हैं। परम्परया महर्षि 'पारस्कर' इसके रचयिता माने जाते हैं। 'पारस्करप्रभृतीनि संज्ञायाम्' इस पाणिनीय सूत्र में 'पारस्कर' शब्द ऋषि-वाचक भी है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन काण्डों में विभाजित है जिसमें प्रथम काण्ड में उन्नीस कण्डिकायें, द्वितीय काण्ड में सत्रह, और तृतीय काण्ड में पन्द्रह-इस प्रकार कुल इक्यावन कण्डिकायें है। इसमें अपनी शाखा के मन्त्रों के प्रतीक मात्र दिये गये हैं लेकिन अन्य शाखाओं के पूर्ण मन्त्र उद्धृत किये गये हैं। इसमें कुल तेरह संस्कारों का वर्णन है। प्रथम काण्ड में होम के साधारण धर्म, आवसथ्याधान, मधुपर्क विधि, विवाह-विधि, औपासनहोम, वधू के प्रथम बार पति के घर जाने पर किया जाने वाला कर्म, चतुर्थी कर्म, पक्षादि कर्म, पुंसवन कर्म, सीमन्तोन्नयन, सोष्यन्ती कर्म, जातकर्म, नामकरण, प्रवास से लौटने पर कृत्य और अन्नप्राशन का वर्णन है।

द्वितीय काण्ड में चूडाकरण, केशान्त, उपनयन, समावर्तन, पञ्चमहायज्ञ, श्रवणाकर्म, सीतायज्ञ का प्रतिपादन है।

तृतीय काण्ड में नवान्नप्राशन, आग्रहायणी, अष्टका, शालाकर्म, मणिकावधान, शिरोवेदना-चिकित्सा, उतूलपरिमेह, शूलगव, वृषोत्सर्ग, अन्त्येष्टि, अवकीर्णिप्रायश्चित्त, सभा-प्रवेश, आदि गृह्यकर्मों या स्थालीपाक कर्मों का वर्णन है।

पारस्करगृह्यसूत्र के परिशिष्ट (कात्यायन-प्रोक्त) में वापी, कूप, तडागादि की स्थापन-विधि, शौचविधि, आभ्युदयिक श्राद्धप्रयोग भी वर्णित हैं।

पारस्करगृह्यसूत्र की प्रसिद्धि और लोकप्रियता के कारण इसके ऊपर अनेक उद्भट विद्वानों द्वारा वृत्तियाँ, टीकायें, भाष्य एवं पद्धतियाँ लिखी गईं। इन टीकाओं आदि से स्मृतियों, प्राचीन टीकाकारों, आचार्यों और उनकी रचनाओं आदि की सुरक्षा के साथ-साथ मूल ग्रन्थों के मन्तव्य को समझने में भी सहायता मिलती है।

पारस्करगृह्यसूत्र के प्रकाशित संस्करणों, अनुवादों एवं भाष्य आदि की सूची निम्नलिखित है –

संस्करण एवं अनुवाद

१. ए.एफ. स्टेन्स्लेर कृत पारस्करगृह्यसूत्र का जर्मन अनुवाद लीपजिग से सन् १८७६-१८७८ में दो भागों में ।

२. एच. ओल्डेनबर्ग कृत अंग्रेजी अनुवाद 'सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' ग्रन्थमाला में भाग २९ में प्रकाशित।

३. लाघाराम शर्मा सम्पादित सभाष्य संस्करण १८८९, मुम्बई।

४. कर्क, जयराम, हरिहर, एवं गदाधर की टीकाओं के साथ, १८९६ बनारस।

५. कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर, विश्वनाथ कृत पाँच भाष्यों सहित विशद संस्करण १९१७ में गुजराती प्रेस, मुम्बई से प्रकाशित। महादेव गङ्गाधर बाक्रे (स०) काशी, १९२० में मुद्रित। हरिहर को पद्धति यजुर्वेदियों में अत्यधिक लोकप्रिय है।

६. हरिहर, गदाधर भाष्यद्वय के साथ हिन्दी अनुवाद सहित, चौखम्बा, वाराणसी।

७. राजाराम कृत हिन्दी अनुवाद १९०९ लाहौर।

८. गृह्यसूत्र-संग्रह, हिन्दी व्याख्या सहित, श्रीरामशर्मा आचार्य द्वारा। आश्वलायन, शांखायन, गोभिल, पारस्करगृह्यसूत्रों से युक्त।

९. पं. हरदत्त शास्त्री, अनुवाद, भारतीय विद्याभवन।

१०. श्री सुधाकर मालवीय, वाराणसी, हिन्दी अनुवाद १९८० ईं०।

टीकायें, भाष्यादि

१. अमृत व्याख्या, नन्द पण्डित, लगंभग १५५० ई०।

२. अर्थभास्कर, भास्कर (राघवेन्द्रारण्य के शिष्य)कृत।

३. प्रकाश, वेदमिश्र लिखित।

४. संस्कारगणपति-प्रयाग भट्ट के पौत्र रामकृष्ण कृत। चौखम्भा संस्कृत सीरीज नं. ४२८, ४२९, ४३०, ई. १९३४।

५. सज्जन-वल्लभ-भाष्य, जयराम कृत १२००-१४००।

६. कर्क भाष्य-कर्काचार्य कृत।

७. परिशिष्ट कण्डिका-कामदेव भाष्य।

८. गदाधर भाष्य, वामन पुत्र गदाधर कृत।

९. भर्तृयज्ञ टीका।

१०. पारस्करगृह्यमन्त्रों पर मुरारिमिश्र कृत टीका।

११. वागीश्वरी दत्त की टीका।

१२. वासुदेव दीक्षित कृत टीका।

१३. विश्वनाथ-भाष्य, विश्वनाथ कृत।

१४. हरिशर्मा कृत टीका।

१५. हरिहर कृत टीका, भाष्य एवं पद्धति।

१६. पारस्करगृह्यसूत्रपद्धति-वासुदेव कृत।

१७. पारस्करश्राद्धसूत्र-वृत्त्यर्थ संग्रह, उदयशंकर कृत।

१८. पारस्करगृह्यसूत्रपद्धति, कामदेवकृत।

१९. पारस्करगृह्यसूत्रपद्धति, भास्करकृत।

२०. गृह्यकारिका-रेणुकाचार्य कृत १२६६ ई०।

२१. पारस्करगृह्यसूत्रम् , (सं०) विधाधर शर्मा, वेणीराम गौड़कृत विवृति सहित, सम्वत् १९९५, वाराणसी।

उपर्युक्त सूची के अतिरिक्त अभी सम्भवतः कितनी ही अप्रकाशित टीकायें भी होंगी, जिनमें कुछ अपूर्ण होंगी और जिन्हें कोई पूर्ण करने या प्रकाशित करने वाला न मिला होगा। कुछ तो लापरवाही के कारण नष्ट भी हो गई होंगी। इन्ही एक में पं० गङ्गाधर पाठक की पारस्करगृह्यसूत्रवृत्ति है जो प्रथम काण्ड की १-१२ कण्डिका तक

ही प्राप्त है। यह अनेक विशिष्टताओं से युक्त है। इसी को प्रकाश में लाना यहाँ अभीष्ट है।

पारस्करगृह्यसूत्रवृत्ति : मातृका-परिचय

पारस्करगृह्यसूत्र पर काशी के महायाज्ञिक श्री रामचन्द्र पाठक के पुत्र महायाज्ञिक श्री गङ्गाधर पाठक कृत **पारस्करगृह्यसूत्रवृत्ति** की हस्तलिखित प्रति प्रयागस्थ श्री गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (अब मानित विश्वविद्यालय, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, गङ्गानाथ झा परिसर) के हस्तलेखागार में संरक्षित है। यह अपूर्ण है और प्रथम काण्ड की बारह कण्डिकाओं तक ही प्राप्त है। 'महायाज्ञिक' उपाधि से विभूषित, काशी के उद्भट वैदिक विद्वान् श्री गङ्गाधर पाठक की यह उनकी वृद्धावस्था की अन्तिम कृति थी जो सम्भवतः उनके निधन से अपूर्ण ही रह गई और उपेक्षित पड़ी रह गई। श्री गङ्गाधर जी के बाद उनके वंश की पाँचवीं पीढ़ी में, बलभद्र के पुत्र देवभद्र पाठक ने संवत् १८२५ में, अपने सगोत्री के घर से पा.गृ.सू.वृ. की हस्तलिखित, जीर्ण और इतनी ही लिखी, खण्डित प्रति को लाकर, उसका शोधन कर प्रतिलिपि तैयार की। अतः यह द्वितीय प्रति है और देवभद्र पाठक की है, ऐसा उन्होंने स्वयं घोषित किया है–

"अतः परं वृद्धैर्नैवेयं वृत्तिर्व्याख्याता सम्वदष्टादशशताधिके पञ्चविंशे १८२५ वर्षे मार्गशीर्षशुक्लतृतीयायां चन्द्रेऽस्या वृत्तेः कर्त्तुर्वंशसम्भूतेन पाठकश्रीबलभद्रात्मजेन देवभद्रेण काश्यामस्य ग्रन्थकर्त्तुर्हस्तलिखितं जीर्णमेतावदेव खण्डितं पुस्तकं गोत्रजस्य गृहाल्लब्ध्वं दृष्ट्वा तत्र च हंसकाकपदचिह्नयोर्विना पत्रसमासेष्वध ऊर्ध्वं तिर्यक् च लिखितान् शोधान्सम्यक् परिभाव्य ग्रन्थस्य खण्डितत्वात्कण्डिकान्ते नामालंकारं प्रक्षिप्य लिखितमस्त्येतावत्कालं वृद्धैः पुस्तकान्तरन्नैव लिखितमत इदमेव द्वितीयं पुस्तकमित्यत्र न सन्देह इति"।

श्री देवभद्र पाठक के इस कथन से यह निश्चित है कि वृद्ध गङ्गाधर पाठक की जीर्ण खण्डित प्रति से देवभद्र ने परिश्रम पूर्वक द्वितीय प्रति तैयार की। लेखक का वैदुष्य इसमें मुखर है। पचपन पृष्ठों की यह मातृका छोटे अक्षरों में खूब गठी हुई लिखी है। इसी की दूसरी प्रति जो संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्राप्त है, वह एक सौ चौंतीस पृष्ठों की है जो बड़े अक्षरों में है। यह हमारा ही दुर्भाग्य है कि यह कृति पूर्ण नहीं हो सकी। खण्डित होने पर भी जितनी भी सामग्री है वह अत्यन्त उपयोगी है अतः प्रकाशन के योग्य है क्योंकि इससे एक संस्कृत विद्वान् की अमूल्य धरोहर को सुरक्षित रखा जा सकेगा। कृति के प्रकाशन के मूल में यही भावना है।

ध्यातव्य है कि वामनदीक्षित के पुत्र गदाधर का भाष्य केवल दूसरे काण्ड तक ही उपलब्ध है, और विश्वनाथ कृत भाष्य की अन्तिम पाँच कण्डिकाओं का भाष्य विश्वनाथ के पितृव्य अनन्त के प्रपौत्र लक्ष्मीधर ने सम्वत् १९६२ में स्वयं लिख कर पूरा किया था।

मातृका-विवरण

पा.गृ.सू.वृ. का सम्पादन-कार्य निम्नलिखित दो प्रतियों के आधार पर किया गया है। अन्य समुचित उपलब्ध नहीं हो सकी।

ग प्रति –

गृह्यसूत्र-	५
स्थान-	राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान हस्तलेखागार, गङ्गानाथ झा परिसर, इलाहाबाद।
प्रवेश संख्या-	३६१९
नाम-	पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तिः।
लेखक :	गङ्गाधरः रामचन्द्रसूनुः।
लिपि :	देवनागरी। प्रथम काण्ड, १-१२ कण्डिका। ३०×१४: १६:५२, Fair पृ. १-५५ संवत्-१८२५

स प्रति -

स्थान-	संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
प्रवेश संख्या-	४८९१०, क्रम संख्या २१५
नाम-	पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तिः, प्रथमकाण्डम्
लेखक :	रामचन्द्रसुनुः, श्रीगङ्गाधरः
पत्रसंख्या-	१-१३४ लिपिकालः- संवत् १८२५
आकार :	११×५:४
अक्षर पंक्तौ-	३८, पृष्ठे पंक्ति संख्या-९

लिपि : देवनागरी, आ–७७३४, प्रवेश संख्या– ००१८१६
आफरेख्ट सूची में अनुपलब्ध

प्रारम्भ– "श्री गुरुगणपतिबटुकशारदाभ्यो नमः। श्रीरामचन्द्रगुरुपादसरोरुहं श्रीविघ्नेश्वरं बटुकमीश्वरमम्बिकाञ्च। कात्यायनं स्थपतिगर्गपदं प्रणम्य, गृह्यस्य वृत्तिरिह गर्गमतेन कुर्वे।"

पुष्पिका– "इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठक–श्रीरामचन्द्रसूनुमहायाज्ञिक–श्रीगङ्गाधरकृतायां पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तौ प्रथमकाण्डे प्रथमा कण्डिका।"

ग प्रति–अन्त –

"संवत् १८२५ वर्षे मार्गशीर्षशुक्लतृतीयायां चन्द्रे इदं पुस्तकं लिखितं पाठकश्रीबलभद्रात्मजदेवभद्रेण काश्यां कालभैरवसन्निधौ। अतो देवभद्रपाठकस्यैवेदम्पुस्तकम्"।।श्रीः।।

स प्रति– अन्त –

अतः परं वृद्धैर्नैवेयं वृत्तिर्व्याख्याता........अत इदमेव द्वितीयं पुस्तकमित्यत्र न सन्देह इति।। अथास्य ग्रन्थकर्त्तुः पूर्वजानारभ्याद्य यावद्वृद्धैः परिगणिता पुस्तकपृष्ठेषु लिखिता मच्छ्रुता च गोत्रजानामवबोधायोत्तरत्र सापिण्ड्य– निर्णयार्थं वंशावली लिख्यते" ।।छें।।छें।। ।।छें।।

उपर्युक्त ग प्रति में वंशावली के बाद का अंश प्रस्तुत किया गया है। स प्रति में वंशावली नहीं दी गई है पर उसका संकेत है। उतना अंश लिपिकार से किसी कारण–वश अथवा भूल से छूट गया प्रतीत होता है।

ग प्रति में प्रति पृष्ठ बाँयी तरफ ग्रन्थ नाम **पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तिः** लिखा है। पृष्ठसंख्या बाँयी ओर ऊपर और दाहिनी ओर नीचे लिखी गई है। दाहिनी ओर नीचे, मार्जिन में पृष्ठ संख्या के ऊपर 'शिव' लिखा है।

स प्रति में दाहिनी ओर मार्जिन में 'राम' लिखा है। ग प्रति के समान ही स प्रति में भी पृष्ठ संख्या दाहिनी ओर ऊपर और बाँयी ओर नीचे दी गई है।

ग प्रति में कई पृष्ठों के अक्षर, शब्द और कभी–कभी पंक्तियाँ छूट गई हैं, जिन्हें यथोचित रूप से बाँये, दाहिने या ऊपर नीचे काक–पद लगा कर, पंक्ति संख्या डाल कर लिखा गया है। समझने में कभी भी भ्रम या संशय नहीं होता। अक्षर छोटे, पर स्पष्ट हैं। प्रति प्रायः शुद्ध है। अगर कहीं अशुद्धि है तो स प्रति में भी वही है।

स प्रति में पार्श्व में कुछ भी नहीं लिखा गया है। सब क्रम से लिखा गया है। लेकिन इस प्रति में अक्षर शब्द और पंक्तियाँ प्रायः छूट गई हैं, अशुद्धियाँ भी बहुत हैं और पंक्तियाँ कभी-कभी दोहरा भी गई हैं।

सूची-पत्रों में ग्रन्थ या ग्रन्थकार विषयक उल्लेख

विभिन्न सूचीपत्रों में अनेक नृसिंह, रामचन्द्र और गङ्गाधर-नामों का उल्लेख मिलता है लेकिन नाम-साम्य होने पर भी गौतम गोत्र, पाठक उपनाम एवं पिता-पुत्र सम्बन्ध पर भी ध्यान देना होगा। गङ्गाधर के पिता का नाम रामचन्द्र था और रामचन्द्र नृसिंह के पुत्र थे और सभी पाठक उपनामधारी थे।

श्री गङ्गाधर के नाम से कात्यायन सूत्र-टीका की चर्चा "ए कैटा. आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स कन्टेन्ड इन दि प्राइवेट लायब्रेरीज़ आफ गुजरात, काठियावाड कम्पाइल्ड अन्डर दि सुपरिन्टेन्डेन्स ऑफ जी. बुहलर, बाम्बे" १८७१-७३ (बी.१६४) में है, लेकिन **पा.गृ.सू.वृ.** का उल्लेख नहीं है। लेखक सम्बन्धी विवरण भी पूर्ण नहीं है।

आधान पद्धति, कात्यायन सूत्रटीका और **पाकयज्ञपद्धति** की चर्चा गङ्गाधर के नाम से " ए कैटा. आफ मैन्यु. इन दि लायब्रेरी आफ दि बनारस संस्कृत कालेज", पब्लिश्ड ऐज़ ए सप्लीमेन्ट आफ दि "पण्डित" वाल्युम III-IX, बनारस, १८६४-७४ में है। लेकिन **पा.गृ.सू.वृ.** एवं गङ्गाधर के गोत्रादि का उल्लेख नहीं है।

न्यू कैटा. कैटालागरम् वाल्युम V मद्रास, १९६९ में गङ्गाधर की पाँच कृतियों- प्रकृतिविकृतियागकालविवेक, प्रवासकृत्यकारिका, सर्वतोमुखपद्धति, हविर्यज्ञकालनिर्णय, कात्यायनशुल्बसूत्रभाष्य की चर्चा है।

आफरेख्ट के **कैटा. कैटालॉगरम्.** में कर्क, गदाधर, जयराम, महीधर, मुरारिमिश्र, रामकृष्ण, रेणुकाचार्य, वागीश्वरीदत्त, वेदमिश्र, कामदेव (**पा.गृ.सू. पद्धति**), वासुदेव दीक्षित, और हरिहर की टीकाओं की ही चर्चा है। **पा.गृ.सू.वृ.** का नाम नहीं है।

कैटा.कैटा. में गङ्गाधर याज्ञिक कृत कर्क भाष्य का उल्लेख है और याज्ञिक नारायण को रामचन्द्र का पुत्र बताया है। इस प्रकार याज्ञिक नारायण गङ्गाधर के भाई हुये। लेकिन देवभद्र की 'वंशावली' में 'नारायण' नाम नहीं है। काणे ने भी ऐसा उल्लेख नहीं किया है। ये गङ्गाधर याज्ञिक किस गोत्र के थे, पता नहीं चलता ।

गदाधर ने अपनी व्याख्या में प्राचीन आचार्यों "रेणुकगङ्गाधरहरिहरा:" (पा.गृ.सू. १.२) का स्मरण किया है पर ये गङ्गाधर 'पाठक' नही हैं।

कैटा. आफ संस्कृत ऐण्ड प्राकृत मैन्यु., बम्बई के अनुसार गङ्गाधर याज्ञिक के नाम से एक अपूर्ण भाष्य है जो केवल 'स्नान' तक सीमित है (मैन्यु. नं. ९२१, ९२२)। लेकिन इससे भी वृत्तिकार गङ्गाधर पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

पा.गृ.सू.वृ. में गङ्गाधर ने "शुल्बवार्तिके रामचन्द्राचार्या:" कहा है। पर सम्भवतः ये रामचन्द्र इनके पिता 'रामचन्द्र' से भिन्न हैं। 'शुल्बवार्तिक' का उल्लेख काणे ने अपनी सूची में नहीं किया है। काणे ने (पृ. ७१०) में रामचन्द्र के पुत्र नृसिंह का विवरण दिया है और उन्हें कौण्डिन्य गोत्र का बताया है जो 'प्रयोगपरिजात' के लेखक थे। उसी पृष्ठ पर अन्यत्र 'शेष' उपनामधारी नृसिंह का भी उल्लेख है जो रामचन्द्राचार्य के पुत्र हैं। **पा.गृ.सू.वृ.** की 'वंशावली' के अनुसार रामचन्द्र नृसिंह के पुत्र हैं। अतः निश्चित है कि वे रामचन्द्राचार्य गङ्गाधर के पिता नहीं हैं।

पारस्करगृह्यसूत्रवृत्ति में दी गई वंशावली

सम्वत् १८२५ में पं गङ्गाधर की जीर्ण प्रति से प्रतिलिपि तैयार करने के बाद पं. देवभद्र ने अन्त में गोत्रजों के परिज्ञान और सापिण्ड्य- निर्णयार्थ 'वंशावली' भी जोड़ दी है जिससे अनेक अर्थों में जिज्ञासुओं का परम उपकार हुआ है। इसके कारण **पा.गृ.सू. वृत्तिकार** गङ्गाधर की अनेक गङ्गाधर नामधारी विद्वानों के बीच पहचान सरल हो गई है। कठिनाई तब होती है जब सूत्रीपत्रों में केवल लेखक और ग्रन्थ नाम दिया रहता है। गोत्र और पिता का नाम देने से ही व्यक्ति की वास्तविकता का ज्ञान होता है। वंशावली के अनुसार श्री गङ्गाधर गौतम गोत्र के थे और गौतम, आंगिरस और औतथ्य-ये तीन इनके प्रवर थे। सभी काशीवासी थे और नागर जाति के थे। सभी यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के अनुयायी थे और 'पाठक' उपनामधारी थे। सभी वेदशास्त्र-निष्णात और कात्यायन सूत्रानुसार याज्ञिक थे। आदि-पुरुष महानन्द पाठक थे। द्वितीय रामकृष्ण, तृतीय नृसिंह, चतुर्थ रामचन्द्र और पाँचवें गङ्गाधर स्वयं थे। छठवें पुनः रामकृष्ण, सातवें महादेव, आठवें रामभद्र, नवें बलभद्र और दसवें उनके पुत्र देवभद्र थे जिन्होंने 'प्रतिलिपि' तैयार की। वंशावली में इन्होंने भाइयों और चाचा आदि का भी विवरण दिया है और अपने को कालभैरव के निकट रहने वाला बताया है।

श्री गङ्गाधर की वृत्ति की विशेषता

पा.गृ.सू.वृत्ति जितनी भी उपलब्ध है, उससे उसका महत्त्व और वैशिष्ट्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। यास्क ने निरुक्त (१.५) में लिखा है कि परम्परागत ज्ञान प्राप्त करने वालों में श्रेष्ठ वह है जिसने अधिक अध्ययन किया हो, जो अधिक विद्यावान् हो। "पारोपर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयो विद्यः प्रशस्यो भवति इति।" तात्पर्य है कि वेदार्थ को समझने के लिये परम्परा-ज्ञान की, तथा न्याय, मीमांसा, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि के गहन अध्ययन की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से **पा.गृ.सू.वृ.** के रचनाकार गङ्गाधर का नाम प्रामाणिक तथा मान्य टीकाकारों में लिये जाने योग्य है। प्राचीन भाष्यकारों की तरह ही इन्होंने सूत्रानुसार प्रत्येक आवश्यक पद की व्याख्या की है। कुछ भी अभीष्ट छोड़ा नहीं है और कुछ भी अनपेक्षित कहा नहीं है। सम्बद्ध सब कुछ यथोचित कहीं संक्षेप और कहीं विस्तार में समझाया है। व्याख्या करते समय शाखान्तर और नाना मतों का उपस्थापन किया है, आलोचना भी की है, आवश्यक होने पर व्याकरण दृष्ट्या भी समझाया है। इस प्रकार शास्त्रों में किया गया इनका परिश्रम तथा अधिकार अत्यन्त स्पष्ट लक्षित होता है। शास्त्रों के साथ ही पं० गङ्गाधर वैदिक कर्मकाण्ड और शुल्बशास्त्र के ज्ञाता और कात्यायन सूत्रानुसार याज्ञिक अनुष्ठानों की प्रयोग विधि में निष्णात थे। अपनी वृत्ति में इन्होंने यथास्थान **कात्यायन श्रौतसूत्र** के सूत्रों का सन्दर्भ दिया है जिससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। इन्होंने अनेक बार "भगवता कात्यायनेन" कह कर आदर व्यक्त किया है। इसी प्रकार देवयाज्ञिक के लिये कई बार 'आर्यचरणाः" शब्द का प्रयोग मिलता है। कर्काचार्य और भर्तृयज्ञ के लिये भी आदर भाव व्यक्त हुआ है।

श्री गङ्गाधर की कृतियाँ एवं उनका काल

श्री गङ्गाधर ने **पा.गृ.सू.वृ.** में प्रसंगवश अपनी तीन कृतियों- **प्रवासकृत्यकारिका**, **पर्वनिर्णय** और **प्रकृतिविकृतियागकालविवेक** का उल्लेख किया है। **पर्वनिर्णय** को देखने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। एक स्थान पर उन्होंने अपने मातामह श्री विश्वनाथ द्विवेदी की कृति **'कुण्डरत्नाकर'** की भी चर्चा की है। काणे की सूची (धर्म. का इति., पृ. ७४०) में विश्वनाथ द्विवेदी का काल १४५०-१६१५ ईसवी बताया गया है।

सरस्वती भवन पुस्तकालय में प्राप्त **प्रवासकृत्यकारिका** की मातृका तीन पृष्ठात्मक है जिसमें ४७ कारिकायें हैं। अन्तिम दो कारिकाओं में लेखक ने अपना परिचय दिया है। विनीत भाव द्रष्टव्य है -

"श्री मन्नृसिंहात्मजरामचन्द्रसुतेन गङ्गाधरसंज्ञकेन। प्रवासकृत्यं लिखितं स्वमत्या, प्रीणातु तेनाखिलदेवशम्भुः ।।४६।।

न्यूनाधिकं यल्लिखितं मयात्र, तच्छोधनीयं प्रयतैः सुतज्ञैः। बद्धोंजलिस्तेषु परोपकारिणश्चरन्ति सन्तो जगतीतलेऽस्मिन् ।।४७।।

इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठकश्रीरामचन्द्रसूनुगङ्गाधरविरचिता प्रवासकृत्यकारिका समाप्ता।। गोवर्द्धननाथ।।

इसमें काल नहीं दिया गया है लेकिन 'वंशावली' की सत्यता प्रमाणित होती है कि नृसिंह के पुत्र रामचन्द्र थे और गङ्गाधर रामचन्द्र के पुत्र थे और 'पाठक' थे। काणे द्वारा निर्दिष्ट विवरण (पृ. ६९१) में **प्रवासकृत्य** को कैम्बे में रचित बताया है और इसका काल १६०६-७ ईसवी बताया है। 'रामचन्द्र पुत्र' कहा है लेकिन नाम के साथ 'पाठक' नहीं जोड़ा गया है।

श्री गङ्गाधर की एक अन्य कृति **प्रकृतिविकृतियागकालविवेक** है। काणे की सूची में इसका उल्लेख नहीं है। इसके मङ्गलाचरण में भी "रामचन्द्रं गुरुं नत्वा" है जैसा कि **पा.गृ.सू.वृ.** में प्राप्त होता है। मुझे प्राप्त मातृका त्रुटित है। इसमें १-७७ तथा ८९-११७ पृष्ठ हैं। मातृका का प्रारम्भ इस प्रकार है-

जयत्येको जगत्यां श्रीहरिशंकरदीक्षितः।

......रामचन्द्रं गुरुं नत्वा गर्गकर्कादियाज्ञिकान् । ......"।।

मातृका का ग्रन्थान्त निम्नलिखित है-

"इति श्री मन्महायाज्ञिकश्रीहरिशंकरचरणानुगृहीतश्रीमहायाज्ञिकपाठक-श्रीरामचन्द्रसूनुना गङ्गाधरेण कृतः प्रकृतिविकृतियागकालविवेकः समाप्तः। श्रीरस्तु। सम्वत् १७०४ समये पौष शुद्ध ९ दिने सम्पूर्णम् । शिवरा....येदं पुस्तकम् "।

लिपिकार का नाम अस्पष्ट है। नीचे ग्रन्थ सं. १८२५ लिखा है।

मातृका के प्रारम्भ एवं अन्त से ज्ञात होता है कि हरिशंकर दीक्षित इनके परम पूज्य थे। सम्भवतः पिता रामचन्द्र की गुरु रूप में वन्दना की है। **पा.गृ.सू.वृ** में कई बार 'आर्यचरणाः' "आर्यपादाः" शब्दों का प्रयोग मिलता है। **प्रकृति०** में रचनातिथि संवत् १७०४ दी गई है। अर्थात् इसकी रचना के १२१ साल बाद देवभद्र ने **पा.गृ.सू.वृ.** की प्रतिलिपि तैयार की थी । इतने लम्बे समय में मातृका का जीर्ण हो जाना स्वाभाविक है।

कात्यायनशुल्बसूत्रभाष्य भी श्री गङ्गाधर पाठक की कृति है। 'डिस्क्रिप्टिव कैटा. आफ मैन्यु इन मिथिला'', वाल्युम ४, पटना १९४०, नम्बर २८ में ग्रन्थ के समाप्ति सूचक श्लोक से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार द्वारा जहाँ विवृति छूट गई थी उसे गङ्गाधर के पुत्र रामकृष्ण ने पूरा किया था।

''रामचन्द्रतनूजेन (श्री) गङ्गाधरशर्मभिः पितृचरणैः सूत्रेऽस्मिन् कातीये शुल्बसंज्ञके।

विवृतिं यत्ततः शिष्टं तदिह विवृतं मया। गङ्गाधरतनूजेन रामकृष्णेन धीमता''।।

गङ्गाधर के पुत्र रामकृष्ण थे, यह वंशावली से भी पुष्ट है। अन्त में 'समाप्ति' इस प्रकार है-

''इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठकश्रीगङ्गाधरकृतं कात्यायनशुल्बभाष्यं समाप्तिमफाणीदिति शिवम्''।

इसमें कोई कालसूचना नहीं दी गई है। सम्भवतः यह गङ्गाधर जी की वृद्धावस्था की कृति है।

'कैटालागस् कैटालागरम्' में गङ्गाधर जी की **सर्वतोमुखपद्धति**, **पर्वनिर्णय** तथा **हविर्यज्ञकालनिर्णय** का उल्लेख किया गया है। काणे ने इन तीनों का निर्देश नहीं किया है। संस्कृत विश्वविद्यालय के हस्तलेखागार में **सर्वतोमुखपद्धति** उपलब्ध है।

श्री गङ्गाधर ने राघवेन्द्रारण्य के शिष्य भट्टभास्कर कृत **पा.गृह्यसूत्र** के भाष्य **अर्थभास्कर** की प्रतिलिपि भी कराई थी। प्रतिलिपि का समय है संवत् १६६२। मातृका का अन्त इस प्रकार है –

''समाप्तं च अर्थभास्करभाष्यम्। पाठकगङ्गाधरलिखायितम्। सम्वत् १६६२ वर्षे कार्तिकमासे शुक्लपक्षे १३ सोमे।''

अर्थात् श्री गङ्गाधर ने आज से ४०६ साल पूर्व उपर्युक्त मातृका की प्रतिलिपि कराई थी। **कात्यायनशुल्बसूत्रभाष्य** और **पा.गृ.सू.वृ.** सम्भवतः वृद्धावस्था की रचनायें हैं। **का.शु.सू.भा.** के छूटे अंशों को रामकृष्ण ने पूरा किया और दूसरे की प्रतिलिपि देवभद्र ने १८२५ में तैयार की जिसे ग्रन्थ का जीर्णोद्धार कहा जा सकता है।

इस प्रकार हमारे पास श्री गङ्गाधर के जीवनकाल से सम्बन्धित दो प्रामाणिक सूचनायें हैं। पहला **अर्थभास्कर** जिसकी प्रतिलिपि स्वयं गङ्गाधर ने कराई सम्वत् १६६२ में । दूसरा **प्रकृतिविकृतियागकालविवेक**, जिसकी रचनातिथि सम्वत् १७०४ है। अर्थात् सम्वत् १६६२ से सम्वत् १७०४ तक तो निश्चित ही है कि पं. गङ्गाधर जी का जीवन काल यज्ञ-यागादि कार्यों एवं माँ सरस्वती की सेवा में व्यतीत हुआ।

अर्थभास्कर की प्रतिलिपि का कार्य आज से चार सौ छः साल पूर्व हुआ था। इस प्रकार अनुमानतः श्री गङ्गाधर जी का काल सम्वत् १६०० के पूर्वार्ध से सम्वत् १७०० के पूर्वार्ध तक किसी समय माना जा सकता है।

परिवार के अन्य विद्वानों की कृतियाँ

श्री देवभद्र द्वारा दी गई 'वंशावली' में आदि-पुरुष का नाम महानन्द पाठक है। इस नाम से एक कृति 'अश्वमेधयज्ञपद्धति' (पृ. १-३१३) सरस्वती भवन पुस्तकालय में प्राप्त है। सम्भव है ये वही हों।

श्री गङ्गाधर के मातामह श्री विश्वनाथ द्विवेदी काशी के थे। इनकी कृति **कुण्डरत्नाकर** 'कुण्डग्रन्थविंशति' में प्रकाशित है।

पिता रामचन्द्र पाठक की कृति का नाम '**रुद्रजपसिद्धान्तशिरोमणि**' है (काणे, पृ. ७३१)। रामचन्द्राचार्य इनके पिता रामचन्द्र से भिन्न प्रतीत होते हैं। काणे ने (पृ. ७३० पर) रामचन्द्र को '**शुल्बवार्तिककार**' नहीं बताया है।

गङ्गाधर के पुत्र रामकृष्ण ने **कात्यायनशुल्बसूत्रभाष्य** की कुछ विवृतियों को पूरा किया। इसके अतिरिक्त रामकृष्ण के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है।

गङ्गाधर की पाँचवी पीढ़ी के देवभद्र पाठक की निम्न कृतियाँ प्राप्त हैं-

१- **आज्यतन्त्रकुशकण्डिकाप्रयोग**।१-१२ पृष्ठ, लिपिकाल १८९२।

२- **कात्यायनश्राद्धसूत्रप्रयोग "प्रयोगसार"** (गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा)। इसमें देवभद्र ने गङ्गाधर पाठक का उल्लेख किया है। (काणे, पृ.७०४ **प्रयोगसार**)।

३- **दशमुखकोटिहोमप्रयोग**, पृ.५३ (काणे, पृ.७०३), १८९७-१९०१।

४- **माध्यन्दिन-मौन-मन्त्रः** (१-२२पृ.) पूर्ण। (बलभद्रात्मज), सं.वि.वि., वाराणसी। काणे ने निर्देश नहीं किया है। सरस्वती भवन पुस्तकालय में प्रति उपलब्ध है।

५- **पार्वणश्राद्ध प्रयोग** (वाजसनेयी)। काणे (पृ.७०३)। पाठक उपनाम नहीं लिखा है।

पारस्करगृह्यसूत्रवृत्ति का वर्ण्य-विषय

पारस्करगृह्यसूत्रवृत्ति महर्षि पारस्कर प्रणीत **पारस्करगृह्यसूत्र** पर महायाज्ञिक पं० गङ्गाधर पाठक द्वारा विरचित वृत्ति है। इसमें उक्त गृह्यसूत्र के सूत्रों पर तत्सम्बन्धित सभी गूढ़ एवं सूक्ष्म विषयों पर श्रुति-स्मृति-वेदाङ्गों, प्राचीन आचार्यों और प्रमाणभूत ग्रन्थों से पोषित एवं प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है जो अन्यत्र दुर्लभ है। गृह्यकर्मों की व्याख्या करते समय प्रायः साथ-साथ उसका श्रौत आधार तथा सम्बन्ध भी तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया है जो वृत्तिकार की विद्वत्ता और वैदिक कर्मकाण्ड पर उसके अधिकार का परिचायक है। प्रथमकाण्ड की मात्र बारह कण्डिकाओं तक ही उपलब्ध इस वृत्ति की प्रथम कण्डिका में विभिन्न सन्दर्भों में ७१ बार, द्वितीय कण्डिका में १३ बार और आगे की दस कण्डिकाओं में कुल मिलाकर लगभग १०९ बार 'कात्यायन श्रौतसूत्र' को उद्धृत या संकेतित किया गया है। इससे स्मार्त्त कर्मों का वैदिक मूलत्व सिद्ध होता है।

अपने मङ्गलाचरण में पं. गङ्गाधर ने कात्यायन को प्रणाम निवेदित किया है (कात्यायनं स्थपतिगर्गपदं प्रणम्य), और **पारस्करगृह्यसूत्र** की 'वृत्ति' गर्गमत से करने का संकल्प व्यक्त किया है।

'वृत्ति' में सूत्रान्तर्गत व्याख्येय सभी शब्दों एवं प्रत्यक्षतः ही नहीं, प्रासंगिक रूप से भी सम्बद्ध कर्मकाण्डीय सभी विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

प्रथम कण्डिका में गृह्यकर्म की अपेक्षा प्रत्यक्ष श्रुतिमूलक होने से श्रौतकर्मों का पूर्वत्वस्थापन, 'गृह्य' का गार्हस्थ्याग्नि का वाचकत्व और आवसथ्य, लौकिक, औपासन, पाक, पचन, वैवाहिक से उसका अनर्थान्तर, गृह्य-अग्नि में स्थाली में तैयार किये गये पाक से अनुष्ठानों के सम्पन्न होने के कारण गृह्यस्थालीपाकसंज्ञा, 'दारकाल' अथवा 'दायाद्यकाल' में अग्न्याधान, स्मार्त्त कर्मों का दर्विहोमत्व, पौर्णमासप्रकृतिकत्व एवं पाकयज्ञों में शेष-प्राशन, अग्न्यायतन संस्कार, आयतन के प्रकार, चतुरश्र, परिमण्डल, समचतुरश्र आदि की निर्माण विधि, मेखलाकरण, आयतन में अग्नि की स्थापना, पञ्चभू-संस्कार, आज्यतन्त्र, उपघात होम, उपस्तीर्णाभिघारित होम, स्विष्टकृत् होम, समित्प्रमाण एवं संख्या तथा समिदाधान आदि का बड़े ही विस्तार से देवयाज्ञिक, कर्काचार्य, आपस्तम्बशुल्बसूत्र भाष्यकारद्वय सुन्दरकरविन्द, शुल्बवार्तिककार रामचन्द्राचार्य, शांखायनगृह्य, गोभिलगृह्य, परिशिष्ट आदि को उद्धृत करते हुये वर्णन किया गया है।

द्वितीय कण्डिका में आवसथ्य, गृह्य या शालाग्नि का आधान दारकाल में अथवा कुछ के मत से दायाद्य काल में, शाला के बांहर किये जाने वाले कर्म में

लौकिक-अग्नि, सपिण्डीकरण, नान्दीश्राद्ध, विभाग काल, आधान का अधिकार, आवसथ्याधान न हो सकने की स्थिति में चान्द्रायण व्रत, बहुत पशुओं वाले वैश्य के घर से अग्नि का आहरण, अग्न्याधेय देवताओं के लिये स्थाली पाक तैयार करके आज्याहुतियाँ, स्विष्टकृत्, शेषप्राशन, ब्राह्मण-भोजन आदि वर्णित हैं।

तृतीय कण्डिका में षडर्घ्यों अर्थात् आचार्य, ऋत्विक्, जामाता, राजा, प्रिय, स्नातक का सत्कार कब, कैसे करने की विधि, विष्टर-कूर्चादि में दर्भ-संख्या, विष्टर-पाद्यार्घ्याचमनीयमधुपर्क का प्रदान, ग्रहणादि विधि, पुत्र या शिष्य को उच्छिष्ट-प्रदान, गौ का आलम्भन आदि विषय वर्णित हैं।

चौथी कण्डिका में पाकयज्ञ की परिभाषा, उनके चार प्रकार-हुत अर्थात् सायंप्रातः कालीन अग्निपरिचरणादि, **अहुत** अर्थात् होमाभाव यथा भूतयज्ञ, सर्पबलि, स्रस्तरारोहण आदि, **प्रहुत** अर्थात् होम-बलिहरण दोनों, यथा पक्षादि श्रवणाकर्मादि, **प्राशित** अर्थात् केवल प्राशन यथा अतिथियों, ब्राह्मणों को भोजन या खीर खिलाना,. अनुपदिष्ट होते हुये भी पाँचवाँ प्रकार ब्रह्मयज्ञ, अगृह्य या बाह्य लौकिक अग्नि में तथा बाह्यशाला या मण्डप में सम्पन्न होने वाले कर्म विवाहादि, शान्तिक-पौष्टिकादि-व्रताङ्ग-भूत-होमादिक कर्मों का आवसथ्य अग्नि में निष्पादन, ग्रहयज्ञ तथा प्रायश्चित्ताङ्गभूत होम के आरम्भ में, तथा कृच्छ्रादि की समाप्ति में आज्य से शालाग्नि में होम, विनायक-शान्ति प्रकरण में लौकिक अग्नि में चरुश्रपण, 'उपलिप्त उद्धतावोक्षिते' स्थण्डिल में लौकिक अग्नि या कुछ के मत से निर्मन्थ्याग्नि की स्थापना, उदगयन आपूर्यमाण पक्ष में शुक्रास्तादि दोषरहित चन्द्रतारानुकूलसहित ज्योतिः शास्त्रोक्त लक्षणयुक्त शुभ दिन में कुमारी का पाणिग्रहण, गृह्यसूत्रोक्त अन्य कर्मों में पृथक्-पृथक् काल-विधान, आभ्युदयिक, पाणिग्रहण में नक्षत्र-नियम, कुमारी को अहत रक्त-वास-परिधापन, 'अहत' पर नाना मत, वरवधू का परस्पर चक्षुरञ्जन, कन्यादान, ब्राह्म-दैव-प्राजापत्य-आर्ष-गान्धर्व आदि विधियाँ, दानानंतर स्व स्व कुलाचार-ग्रामवचन पालन, परस्पर समीक्षणादि वर्णित हैं। इसी कण्डिका में श्राद्ध के प्रसंग में वृत्तिकार ने अपनी कृति **प्रवासकृत्यकारिका** का उल्लेख किया है।

पाँचवीं कण्डिका में अग्नि के पश्चिम ओर तृणपूलक या चटाई पर, वर के उत्तर ओर आचार्य और दक्षिण वधू, आचार्य द्वारा आघार-संज्ञक आज्याहुतियाँ, महाव्याहृतियाँ, सर्वप्रायश्चित्त, प्राजापत्य, स्विष्टकृदादि आहुति-प्रक्षेपण, उतूलपरिमेहाहुति एवं अवकीर्णिप्रायश्चित्ताहुति, विवाह में राष्ट्रभृदादि अनुक्त काल होमों का काल-नियम, राष्ट्रभृत् संज्ञक आहुतियाँ, जयाभ्यातान होम-फल जान कर ज्ञानपूर्वक आहुतियाँ, प्राशन इत्यादि कर्मकाण्ड वर्णित है।

छठी कण्डिका में कुमारी के भाई द्वारा शमी-पलाश मिश्रित लाजों को कुमारी की अञ्जलि में डालना, उपस्ताराभिघारण-प्रत्यभिघारण, लड़की द्वारा अञ्जलि से उन लाजों को अर्यमा देव के लिये मन्त्र पूर्वक अग्नि में प्रक्षेपण, लाजा-होम के बाद वर द्वारा मन्त्रपूर्वक कुमारी का सांगुष्ठ दक्षिण हाथ ग्रहण करना वर्णित है।

सातवीं कण्डिका में पाणिग्रहण के बाद अग्नि के उत्तर ओर स्थित 'अश्म' पर आचार्य द्वारा वधू को 'आरोहेममश्मानम्' इस मन्त्र से दक्षिण पाद से आरोहण कराना, 'सरस्वति प्रेदमव' इस मन्त्र रूप गाथा का गान, वधूवर-परिक्रमण, दो बार पुनः लाजादि-कुमार्या-भ्राता इत्यादि परिक्रमणान्त कर्म, चौथे परिक्रमण में कुमारी के भाई द्वारा शूर्प में अवशिष्ट सभी लाजों को कुमारी की अंजलि में डालना, कुमारी द्वारा 'भगाय स्वाहा' मन्त्र से चौथी बार 'लाजा होम', अन्त में प्राजापत्य वर्णित है।

अष्टमी कण्डिका में होमानन्तर उदङ्मुखी वधू को 'विष्णुस्त्वा नयतु' मन्त्र से जुड़े 'एकमिष' इत्यादि सात मन्त्रों से वर द्वारा परिक्रमण कराना, वर के भाई द्वारा वापी-कूप-तडागादि से उदकुम्भ पूर्ण करके दक्षिण स्कन्ध पर रख कर विवाहाग्नि के दक्षिण अथवा कुछ के मत से उत्तर स्थित होना, उदकुम्भ से जल लेकर आचार्य द्वारा वधू के सिर पर अभिसिंचन, पश्चात् वधू को सूर्य की ओर दृष्टिपात कराना, पति द्वारा पत्नी के दक्षिण स्कन्ध के ऊपर हाथ ले जाकर "मम व्रते ते" मन्त्र से हृदय का स्पर्श, आचार्य द्वारा वधू को देखते हुये, मन्त्र से अभिमन्त्रित करना, किसी जितेन्द्रिय दृढपुरुष द्वारा वधू को गवाक्षादि रहित गृह में 'आनडुह'के रोहित चर्म पर "इह गाव" मन्त्र से बैठाना, ग्राम-वचन (कुलवृद्धों तथा कुलाचार आदि) का पालन, **आश्वलायन** मतानुसार "जनपदधर्माः ग्रामधर्माश्च तान् विवाहे प्रतीयात्", आचार्य को वर-प्रदान, अस्तमित सूर्य होने पर उदीची दिशा में ध्रुव नक्षत्र को वर द्वारा वधू को दिखाना, तीन रात "अक्षारालवणाशिनौ" रहने, जमीन पर सोने, ब्रह्मचर्य पालन-सम्वत्सर, द्वादश रात्र, षड्रात्र अथवा तीन रात तक-का निर्देश वर्णित है।

नवमी कण्डिका में औपासन या आवसथ्याग्नि का परिचरण, सूर्य के अस्तमितानुदित होने पर यावज्जीवन करने का निर्देश, मुख्य कालातिक्रम होने पर गौणकाल-निरूपण, मुख्य काल में प्रमादवश पक्षादि-पिण्डपितृयज्ञ-वैश्वदैव कर्म न हो सकने पर, दिनान्तर में गौणकाल में प्रायश्चित्त होम करके तदनुष्ठान करना वर्णित है। वृत्तिकार ने इस सन्दर्भ में अपनी कृति **पर्वनिर्णय** का उल्लेख किया है।

इसके पश्चात् परिचरण-होम सायं प्रातः गव्यदधि से, या तण्डुल (व्रीहिश्यामाकयवादि) या अक्षत (अकण्डितयवः) से करने का विधान, सायंकाल में किये गये द्रव्य से ही प्रातः होम-विधान, प्रातः सायंकालीन कालव्यवस्थापूर्वक देवता-

निरूपण, सूतक-प्रवास-अशक्ति आदि होने पर, स्वयं होमाकरण असंभव होने पर प्रतिनिधि से कराने का विकल्प, यजमान की गर्भकामा पत्नी द्वारा "अग्नये स्वाहा" इस पतिकर्तृक होम के स्थान पर "पुमांसौ मित्रावरुणौ" इत्यादि से प्रथमाहुतिप्रदान, उत्तराहुति स्वयं यजमान द्वारा (१.९.५) आदि कर्मकाण्ड वर्णित है।

यहाँ वृत्तिकार ने गोभिल गृह्यसूत्र (२.४.६-९) का सन्दर्भ दिया है जिसमें पति के घर के द्वार पर लाई गई वधू को "पतिपुत्रशीलसम्पन्ना" ब्राह्मणियाँ सवारी से उतार कर "इह गावः प्रजायध्वं" मन्त्र से, बिछाये गये गोचर्म पर बैठाती हैं और वधू की गोद में, उनमें से एक ब्राह्मणी अपनी गोद का लड़का देती है। पश्चात् वे बालक की अञ्जलि में खेलने को सुन्दर खिलौने (शकलोटान्) या खाने के लिये आम्रादि मधुर फल या "कह्लारकुमुदनीलोत्पलमूलानि" देती हैं। यह 'पुत्रवती' होने की कामना से किया गया कर्म है और शान्तिक-पौष्टिक-कर्मान्तर्भूत है। उत्तरभारत में भी यह प्रथा प्रचलित है।

दसवीं कण्डिका में राजा के रथ के अक्षभेद, रथ के युगादि बन्धन के टूट जाने, रथ के कुछ विपरीत या टेढ़े आदि होने पर या अन्य किसी विपत्ति यथा घोड़े या छतरी आदि के नष्ट होने और विवाह के पश्चात् पिता के घर से प्रथम बार पतिगृह ले जाई जाती वधू के मार्ग में इस तरह की विपत्ति आने पर नैमित्तिक रूप में राजा की सेनाग्नि को और स्त्री के उद्वहन में विवाहाग्नि को उपलेपनादि से संस्कारित की गई भूमि पर स्थापित करके, आज्य संस्कार करके, "इह रति" इत्यादि मन्त्रों से स्वाहाकारान्त तक दो आज्याहुतियाँ डालना; महाव्याहृतियाँ, दक्षिणादान आदि के बाद, अन्य यान की व्यवस्था करके पुरोहित द्वारा राजा को बैठाना; 'उद्वाह' की स्थिति में वर वधू को "प्रतिक्षत्र" इस मन्त्र से आरम्भ करके "प्रतितिष्ठामि यज्ञे" तथा आ त्वाहार्षमिति" ऋचा से यान पर बैठाना वर्णित है। "तमेवाग्निमुपसमाधाय" से यह सूचित है कि राजा की 'सेनाग्नि' शान्तिक-पौष्टिकार्थ लौकिक हो जाती है। दो बलीवर्द दक्षिणा हैं।

रथाङ्ग-व्यापत्ति होने पर यह प्रायश्चित्ति है, अतः नियम से करना ही चाहिये। याथाकाम्य नहीं है। कर्म की समाप्ति होने पर ब्राह्मण भोजन।

ग्यारहवीं कण्डिका में नैमित्तिक के पश्चात् विवाहाङ्गभूत चतुर्थी कर्म। विवाह के दिन से चौथी तिथि को, रात्रि के पश्चिम प्रहर में, घर के मध्य में (बहिःशाला में नहीं), वैवाहिक अग्नि को उपलेपनादि तीन संस्कारों से युक्त भूमि पर स्थापित करके, दक्षिण तरफ ब्रह्मा को बैठा कर, अग्नि के उत्तर ओर जलयुक्त पात्र स्थापित करके, स्थाली-पाक पका कर पाँच आज्याहुतियाँ " अग्ने प्रायश्चित्त" इत्यादि और चरु की

"प्रजापतये स्वाहा" आहुति, प्रत्येक आहुति के बाद उदपात्र में संस्रवों को डाल कर उस संस्रव-प्रक्षेप-जल से वधू के मस्तक पर "या ते पतिघ्नी प्रजाघ्नी पशुघ्नी" इत्यादि मन्त्र से अभिसिञ्चन, वर द्वारा वधू को स्थालीपाक का "प्राणैस्त" इत्यादि मन्त्रों से प्रतिमन्त्र प्राशन रूप क्रिया-विधि से पति के प्राण, अस्थि, मांस, त्वचा से पत्नी के प्राण, अस्थि, मांस, त्वचा का ऐक्य-स्थापन, ऐक्य-करण-विद्-श्रोत्रिय की पत्नी से अभिगमन की इच्छा करने वाला उस श्रोत्रिय का परम शत्रु "उत ह्येवं वित्परो भवति"(**शतपथब्राह्मण**, १४.९.४.११ आदि), तत्पश्चात् अभिचार की क्रियाविधि का वर्णन, काम्यगर्भाधान, गर्भधारण योग्य-कालादि के विषय में विभिन्न आचार्यों के मत, पति द्वारा "यत्ते सुशीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्" इत्यादि मन्त्र से पत्नी का हृदयालम्भन वर्णित है।

बारहवीं कण्डिका में गृह्याग्नि में दर्शपूर्णमास, स्थालीपाक कर्म का वर्णन। सर्वपक्षादि में नित्य स्थालीपाक विधि से चरु पका कर दर्शपूर्णमास देवताओं के लिये आहुतियाँ डाली जाती हैं। पौर्णमास पक्षादि में पौर्णमास देवताओं के लिये होम करके "ब्रह्मणे प्रजापतये" इत्यादि से आहुति एवं दर्शकाल पक्षादि में दर्शदेवताओं को आहुति प्रदान करके "ब्रह्मणे प्रजापतये" इत्यादि से होम किया जाता है। पौर्णमास देवतागण अग्नि, अग्निषोमौ हैं और दर्श देवतागण अग्नि, विष्णु और इन्द्राग्नी हैं। इसमें पक्षादि में याग-विधान होने से पक्षान्तों में उपवास सिद्ध होता है। पक्षान्त में उपवास और पक्षादि- में याग। उपवास और यागकाल के निर्णय के सन्दर्भ में वृत्तिकार ने यहाँ अपनी कृति **प्रकृतिविकृतियागकालनिर्णय** का उल्लेख किया है,

इसके बाद, दूसरा सूत्र **'विश्वेभ्यो देवेभ्यो बलिहरणं भूतगृह्येभ्यः आकाशाय च'** है जिसकी व्याख्या वृत्तिकार द्वारा नहीं की जा सकी और वृत्ति यहीं खण्डित हो जाती है।

सम्पादन के विषय में

प्रत्येक कण्डिका को समग्र रूप से देखने एवं अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक कण्डिका के प्रारम्भ में **पारस्करगृह्यसूत्र** का मूल जोड़ा गया है जो **पारस्करगृह्यसूत्रवृत्ति** की 'मातृका' का अंश या भाग नहीं है। यह 'मूल' महादेव गङ्गाधर बाक्रे सम्पादित ग्रन्थ से लिया गया है।

वृत्तिकार श्री गङ्गाधर ने सूत्रों की व्याख्या करते समय अनेक आचार्यों एवं ग्रन्थों को उद्धृत किया है। कभी कभी उद्धृत अंशों में सम्पादित एवं मुद्रित मूल ग्रन्थों

से पाठभेद मिलता है। ऐसी स्थिति में मुद्रित ग्रन्थ के पाठ को ऊपर रख कर मातृकाओं के पाठ को नीचे टिप्पणी भाग में रख दिया गया है।

जिज्ञासु अध्येताओं की सुविधा की दृष्टि से कहीं कहीं कर्कादि विभिन्न आचार्यों के मतों को पादटिप्पणी के रूप में उपस्थापित किया गया है।

वृत्तिकार ने **गोभिलगृह्यसूत्र** के लिये सर्वत्र छन्दोगगृह्यसूत्र संज्ञा प्रयुक्त की है। एक बार '**गोभिलसूत्र**' (१.९.२.) भी मिलता है।

'मनुसूत्रात्' (१.२.२.) का सन्दर्भ प्राप्त नहीं हुआ।

कहीं-कहीं लिपिकार-जन्य दोषों के कारण, शब्दों और अर्थों की अस्पष्टता की स्थिति में, शब्द के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया गया है।

मातृका में उपलब्ध पाठ के अनुपयुक्त प्रतीत होने की स्थिति में उसके पाठ को टिप्पणी भाग में रखकर, अनुमानित पाठ को ऊपर रख दिया गया है।

पारस्करगृह्यसूत्रवृत्ति में उल्लिखित आचार्य एवं ग्रन्थ

पं. गङ्गाधर ने विविधमतों के उपस्थापन के लिये अनेक ऋषियों, आचार्यों को उद्धृत किया है। यथा भरद्वाज, जमदग्नि, बृहस्पति, गौतम, विश्वामित्र, वसिष्ठ, नारद, यास्क, मनु, याज्ञवल्क्य, गार्ग्य, देवल, अंगिरा, गोभिल, कण्व, लघु हारीत, कात्यायन, शाट्यायन, उशनस्, पुलस्त्य, सुमन्तु, जाबाल, शंख, वृद्ध वसिष्ठ, कश्यप, हारीत, आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, आशार्क, हेमाद्रि, अपरार्क, कर्कोपाध्याय, भर्तृयज्ञपाद, देवयाज्ञिक, अनन्तयाज्ञिक, रेणु, सुन्दर-करविन्द, (मातामह) विश्वनाथ द्विवेदी, मण्डन, रामचन्द्राचार्य इत्यादि।

इसी प्रकार विषय को गहराई और विस्तार से समझने के लिये वृत्तिकार ने अनेक ग्रन्थों के अंश उद्धृत किये हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं-

शतपथ ब्राह्मण, कात्यायन श्रौतसूत्र, शांखायन श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्र एवं कारिका, छन्दोग गृह्य एवं परिशिष्ट, आथर्वण सूत्र, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, मानवगृह्यसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र, याज्ञवल्क्य स्मृति, मनुस्मृति, स्मृत्यर्थसार, स्मृतिचन्द्रिका, कालादर्श, मदनपरिजात, गृह्यासंग्रह, आदि। शांखायन गृह्यसूत्र एवं गोभिलगृह्यसूत्र सर्वाधिक उद्धृत हुये हैं।

आचार्यों एवं ग्रन्थों की सूची अलग परिशिष्ट में दी गई है।

गृह्यसूत्रों की प्रासंगिकता

गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कारों में व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को धर्म और नैतिक मूल्यों से एवं उसके परिवार और समाज से जोड़ने के लिये विभिन्न देवताओं यथा अग्नि, सूर्य, वरुण, मित्र, विश्वेदेवा:, सोम, आप: आदि का आवाहन कर उन से विशिष्ट इच्छाओं की पूर्त्ति एवं अनिष्ट और अशुभ के निवारण के लिये प्रार्थनायें की गई हैं। ये प्रार्थनायें वेदमन्त्र हैं जिनमें पवित्र और सामर्थ्यवान् ऋषियों की संकल्प-शक्ति अनुस्यूत है, जिनके उच्चारण मात्र से सम्पूर्ण वातावरण में एवं संस्कारित व्यक्ति के हृदय में पवित्रता, आनन्द और सात्त्विक भावनाओं का उद्रेक होता है।

जब मन्त्र किसी साधक पवित्रात्मा पुरोहित या व्यक्ति द्वारा उच्चरित होते हैं तब ऋषियों की संकल्प-शक्ति काम करती है और संस्कारित व्यक्ति के समग्र जीवन को स्पर्श एवं प्रभावित करती है।

वेद-मन्त्र सामान्य नहीं हैं। ये सदा से थे। ये मन्त्र दिव्य तरंगें या स्पन्दन हैं जो सदा से सूक्ष्म धरातल पर अस्तित्व में थे, और विश्व का आधार हैं। जब ऋषियों की समग्र चेतना ध्यान की उच्चतम अवस्था में, चेतना के सर्वोच्च बिन्दु से एकाकार थी, उस समय उन्होंने हृदय में शाश्वत सत्य का दर्शन किया। इस प्रकार ऋषि वेदमन्त्र द्रष्टा थे, स्रष्टा नहीं। लोगों के हित के लिये, सत्य को समझाने के लिये उन्होंने उसे भाषा दी। गृह्यसूत्रों में वेदमन्त्रों का, व्यक्ति के जीवन के विशिष्ट अवसरों पर कर्मकाण्ड के रूप में उपयोग बताया गया है। यह गृह्यसूत्रों की महती उपयोगिता है।

वैदिक कर्मकाण्ड में शुद्ध मन्त्रोच्चारण, मुहूर्त्त का पालन, होता, यजमान, उपयोग में आने वाली सामग्री और विधानों की शुद्धता और उनके पालन आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है। व्यक्ति या पुरोहित आस्थावान्, साधक श्रेणी का एवं कर्मकाण्ड-विधि में दक्ष होना चाहिये। तभी अनुष्ठानों का लाभ मिल सकता है, अन्यथा नहीं।

वैदिक कर्मकाण्ड कितना ही महत्वपूर्ण और उपयोगी क्यों न हो, उसकी एक सीमा है।, धर्म वह है, जिससे व्यक्ति की भौतिक उन्नति के साथ-साथ आत्यन्तिक या आत्मिक कल्याण हो। "यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:"। धार्मिक अनुष्ठानों या वैदिक यज्ञ-यागों का महत्त्व तभी है जब वह अन्तत: आत्मां रूप परम सत्ता से एकात्मता की ओर ले जाये। उसकी सार्थकता तभी है जब वह व्यक्ति को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करे, उसके लिये पृष्ठभूमि तैयार करे। गृह्य-कर्मकाण्डों का उद्देश्य मन को शुद्ध करके सात्त्विकता की ओर ले जाना है, उसे पदार्थ की भूमि से ऊपर उठाना है। तभी आध्यात्मिकता का पुष्प खिलेगा और शनै: शनै: यथा समय

झड़ने के बाद किसी बिरले में आत्मज्ञान, रूप फल की सम्भावना भी हो सकती है। इस प्रकार गृह्यसूत्र-साहित्य इस लक्ष्य की ओर सोपानवत् है।

गृह्यसूत्रों का एक सच्चरित्र, सात्त्विक वृत्ति के व्यक्ति के निर्माण में योगदान है जो परिवार, समाज और विश्व के लिये हितकारी है। इस परिवर्तनशील संसार में हम गृह्यसूत्रों की संस्कृति में वापस तो नहीं जा सकते हैं, लेकिन अपनी प्राचीन आर्य-संस्कृति में, उस समय की जीवन-पद्धति में, जो कुछ भी उत्कृष्ट है, जो जीवन-मूल्य हैं, उन्हें अपना कर हम अपने जीवन में सुख, शान्ति पा सकते हैं।

जब तक भौतिक जगत् की आवश्यकतायें है, हमारी आस्था है, हमारी संस्कृति है, तब तक हमें मन्त्रों का बल चाहिये ही। तब तक हमें देवताओं का और अपने पुरखों, पूर्वजों का आशीर्वाद भी चाहिये। इसलिये गृह्यसूत्रों की आवश्यकता एवं उसकी उपयोगिता सदा बनी ही रहेगी। यह शाश्वत सत्य है।

मन्त्रों में स्तुत सूर्य, अग्नि, वायु, जल, पृथिवी आदि विभिन्न देवता दृश्यमान प्रकृति-जगत् के मूलभूत तत्त्व हैं जो मानव जीवन के पोषक एवं रक्षक हैं। हमारी प्राचीन संस्कृति में इन सभी को देवता माना गया है। इन्हें प्रदूषित एवं नष्ट करना इनका असम्मान करना है जो अधर्म है, पाप है। अगर इस भाव को सभी धारण कर लें तो पर्यावरण एवं 'ग्लोबल वार्मिंग' आदि की समस्या ही न रहेगी।

कृतज्ञता-ज्ञापन

सर्वप्रथम मैं विश्वविश्रुत, वेद, अवेस्ता, इतिहास, दर्शन आदि के उद्भट विद्वान्, बहुभाषाविद्, सरलता की प्रतिमूर्ति, ऋषिकल्प अपने गुरुदेव (स्व०) पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी का पुण्यस्मरण कर, उनकी पवित्र चरणरज को शिरोधार्य करती हूँ, जिन्होंने मुझे शोधपूर्ण आलोचनात्मक दृष्टि प्रदान की, जो सदा मेरा पाथेय और मेरी पथ-प्रदर्शिका रही। उनकी कृपा से ही मैं अप्रकाशित पं. गङ्गाधर पाठक कृत **पारस्करगृह्यसूत्रवृत्ति** का सम्पादन-कार्य कर सकी। मैं इस अवसर पर अपनी श्रद्धेया आदरणीया माता जी का भी सप्रेम स्मरण कर उनका चरण-स्पर्श करती हूँ जिन्होंने सदा मुझे बहुत प्यार दिया।

मैं अपने पूज्य पिता जी (स्व०) पं० रामचन्द्र मालवीय (परीक्षाधिकारी, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) एवं अपनी माँ (स्व०) श्रीमती हेमवती मालवीय के श्री-चरणों में अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित करते हुये यह ग्रन्थ उन्हीं की पावन-स्मृति को समर्पित करती हूँ जिन्होंने मुझे संस्कृत पढ़ाया, पूर्ण शिक्षा-प्रदान की

और जो आज अगर होते तो बहुत अधिक प्रसन्न होते, ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ते और आत्मीयों से चर्चा करते ।

मैं वेद, अवेस्ता, विविध शास्त्रों एवं भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान्, प्रोफेसर गयाचरण त्रिपाठी (नेशनल फेलो, राष्ट्रपति निवास, शिमला) के प्रति हृदय से आभार प्रकट करती हूँ, जिनके प्राचार्यत्व में यह कार्य प्रारम्भ हुआ और जिन्होंने अत्यन्त कृपापूर्वक अत्यधिक व्यस्त होते हुये भी आद्योपान्त मेरे कार्य को देखने का कष्ट किया और आवश्यक निर्देश दिये। इससे मुझे बड़ा मानसिक बल मिला। महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है "आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।" इसके लिये मैं उनके प्रति हार्दिक-कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

मैं वेद, तन्त्रादि विविध विषयों के मर्मज्ञ विद्वान्, प्रोफेसर एवं प्राचार्य प्रकाश पाण्डेय जी के प्रति भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिनके कार्यकाल में ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य को गति मिली। डॉ० पाण्डेय जी ने मेरे कार्य से सम्बन्धित कई मातृकाओं की फोटो-प्रतियाँ मुझे लाकर दी थीं जिनसे मुझे अपने कार्य में सहायता मिली। तदर्थ मैं उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

मैं ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् एवं वर्तमान प्राचार्य, प्रोफेसर सर्वनारायण झा जी के प्रति भी हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करती हूँ जिनके कार्यकाल में बहुत समय से लम्बित इस कृति के प्रकाशन कार्य के पूर्ण होने का सुअवसर आया।

मैं अपने पति श्री रमेश चन्द्र मालवीय जी के प्रति भी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होंने वर्षों तक प्रेस सम्बन्धी बाधाओं से ग्रस्त रहे इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हुये गतिरोध से उत्पन्न मेरे नैराश्य को दूर किया, प्रेस से बराबर सम्पर्क बनाये रखा, मेरा उत्साह-वर्धन किया और यथोचित परामर्श प्रदान कर मेरा मार्गदर्शन किया। उनके सहयोग के बिना यह कार्य संभवतः पूरा न हो पाता।

मैं गङ्गानाथ झा परिसर के हस्तलेख विभाग एवं पुस्तकालय-विभाग के सभी अधिकारियों एवं कर्मचारियों को हार्दिक धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने सदैव अत्यन्त आत्मीयता एवं सौहार्द्र से मुझे सभी आवश्यक सुविधायें प्रदान कीं जिनके अभाव में कार्य-सम्पादन सुचारु रूप से नहीं हो सकता था। मैं मातृका की फोटो-प्रतियों के लिये सरस्वती भवन पुस्तकालय, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, के प्रति भी हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

अन्त में, मैं श्री विनोद कुमार द्विवेदी जी को इस ग्रन्थ के लिपि-संयोजन कार्य के लिये हार्दिक धन्यवाद देती हूँ, जिसके बिना यह ग्रन्थ प्रकाश में ही न आ पाता।

अल्प बुद्धि मेरे द्वारा इतने उद्भट वैदिक विद्वान् की इस कृति के सम्पादन का कार्य हाथ में लेना कालिदास के शब्दों में 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' ही कहा जायेगा। पर संभवतः ग्रन्थकार ने ही मुझे अपनी वृत्ति के प्रकाशन–कार्य के लिये चुन रखा था।

न चाहते हुये भी मेरी असावधानतावश और विवशतावश, अनेक अशुद्धियाँ एवं कमियाँ रह गई हैं जिनके लिये मेरी प्रार्थना एवं आशा है कि विद्वद्जन मुझे क्षमा करेंगे। यदि यह ग्रन्थ संस्कृत विद्वानों के लिये थोड़ा भी उपयोगी हो सका तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगी।

माया मालवीय

इलाहाबाद
२१.११.२०११

पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तिः

(प्रथमकाण्डात्मिका)

श्रीगङ्गाधरपाठककृता

प्रथमं काण्डम्

(प्रथमा कण्डिका)

मूलम् - *अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म।१। परिसमुह्योपलिप्योल्लिख्योद्धृत्याभ्युक्ष्याग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य प्रणीय परिस्तीर्यार्थवदासाद्य पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीः संस्कृत्यार्थवत्प्रोक्ष्य निरुप्याज्यमधिश्रित्य पर्यग्नि कुर्यात्।२। स्रुवं प्रतप्य सम्मृज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात्।३। आज्यमुद्वास्योत्पूयावेक्ष्य प्रोक्षणीश्च पूर्ववदुपयमनान्कुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्युक्ष्य जुहुयात्।४। एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः।५। (१)*

श्रीगुरुगणपतिबटुकशारदाभ्यो नमः।

श्रीरामचन्द्रगुरुपादसरोरुहं श्री-
विघ्नेश्वरं बटुकमीश्वरमम्बिकां च।
कात्यायनं स्थपतिगर्ग्गपदं प्रणम्य
गृह्यस्य वृत्तिमिह गर्ग्गमतेन[1] कुर्वे ।।१।।

श्रौतानि दर्शपूर्णमासादिप्रवर्ग्यान्तानि कर्माण्युक्तानि। तदनन्तरं स्मार्त्तान्यनुविधीयन्ते। तत्रैतदादिमं सूत्रम्।

।।श्रीः।। अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म्म (१.१.१) ।।

व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः। तत्रायमथशब्दो[2] मङ्गलार्थः।

ओंकारश्चाथकारश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
गण्डौ भित्त्वा विनिष्क्रान्तौ तेन मांगलिकावुभौ।।

---

१ विश्वनाथोऽपि *पारस्करगृह्यसूत्रस्य* गृह्यसूत्रप्रकाशिकाटीकायां "गर्गसिद्धान्तपद्मानां प्रकाशोदयहेतवे .....वन्देऽत्र गर्गं वेदार्थवित्तमम्" इति गर्गं प्रणामं निवेदयति।

२ शब्दा – स

इत्युक्तेः[१]। आनन्तर्यार्थश्च[२]। मंगलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथेत्यमरोक्तेः[३]। न च सकृदुच्चारितस्य कथमर्थद्वयाभिधायकत्वमिति वाच्यम्। विषयभेदात्। उच्चारितो हि मंगलं जनयति दध्यादिदर्शनवत्। आनन्तर्यं त्वभिधावृत्त्या। आनन्तर्यं[४] च नयतः कुतश्चित्। किन्तु श्रौतकर्मापेक्षया। श्रौतकर्मानुविधानसमनन्तरं[५] स्मार्त्तान्यनुविधीयन्त इति। आनन्तर्यप्रयोजनं तु श्रौतसूत्रे[६] अधिकार इत्यारभ्योपस्पृशेदप[७] इत्येवमन्तं[८] सर्वकर्मसाधारणं यद्विहितं तस्याप्यत्र प्राप्तिर्यथा स्यादिति। तथा तिष्ठन्त्समिधः सर्वत्रेत्यादेश्च[९]। तथा च **शांखायनगृह्यसूत्रे**[१०]। यज्ञोपवीतीत्यादि[११] च संभवत्सर्वं कल्पैकत्वादिति[१२]। अपि

---

१ ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्मांगलिकावुभौ।
अण्डं भित्त्वा इति पाठः गोभिलपुत्रस्य गृह्यासंग्रहे (२.९)। ''मृदङ्गादिध्वनिवदथ-शब्दश्रवणमात्रेण माङ्गल्यसिद्धेरिति'' पराशरमाधवे, पृ० ३४

२ तर्श्चा - स

३ *अमरकोषः* ३.३.२४७। अपि च-
अथाथो संशये स्यातामधिकारे च मंगले।
विकल्पानन्तरप्रश्नकात्स्न्र्यारम्भसमुच्चये।। (मेदिनी १८१.३५)

४ र्यां - स

५ समनतरं- स

६ *का०श्रौ०सू०* १.१.१

७ ०पृशदेप- स

८ *का०श्रौ०सू०* १.१०.१४ ''रौद्रं राक्षसमासुरमाभिचारिकं मन्त्रमुक्त्वा पित्र्यमात्मानं चालभ्योपस्पृशेदप उपस्पृशेदपः।

९ *का०श्रौ०सू०* १८.४.१० सर्वत्र तिष्ठता समिदाधानम्।'' पलाशखदिराश्वत्थ-शम्युदुम्बरजा समित्। अपामार्गार्कदूर्वाश्च कुशाश्चेत्यपरे विदुः।।'' इति स्मृत्यर्थसारे समिल्लक्षणम्।

१० *शां०गृ०सू०* सम्पा० एस०आर० संहगल, १९६०

११ ०पवीत्यादि- ग, स

१२ *शां०गृ०सू०* १.१३

च। श्रौतस्मार्त्तकर्मणोः सन्निपाते श्रौतानुष्ठानं पूर्वं यथा स्यादिति। तदुक्तं भरद्वाजेन[1]–

[2]होमं वैतानिके कृत्वा स्मार्त्ते कुर्याद्विचक्षणः।
स्मृतीनां वेदमूलत्वात्स्मार्त्तं केचित्पुरा विदुः।। इति

तथा **शांखायनगृह्यकारिकायाम्**। पाठक्रमादनुष्ठानक्रमोऽप्यत्रावसीयते। स्मार्त्तानां श्रौतपूर्वत्वं यौगपद्ये तयोरितीति। पूर्वं प्रवृत्तश्च श्रौतकर्मणामुपनिबन्धन-मित्येतत्सूत्रकारप्रवृत्त्या ज्ञायते। यथा प्रोक्षणीश्च पूर्ववदिति[3]। तथा प्रोष्येत्य गृहानुपतिष्ठते पूर्ववत्।[4] तथा कालातिक्रमे[5] नियतवदिति[6] तथा न पूर्वचोदितत्वात् सन्देह[7] इत्यादि। अतः शब्दो हेत्वर्थः। यस्माद्दर्शपूर्णमासादीनि प्रवर्ग्यान्तानि कर्माण्यभिहितानि स्मार्त्तान्ये[8]वावशिष्यन्ते, अतस्तान्युच्यन्त इति। नन्वनुष्ठानक्रमेणैव कर्मणामभिधानं युक्तम्। तच्च पूर्वं गर्भाधानाद्यावसथ्यान्तानां स्मार्त्तानां पश्चाच्च श्रौतानामिति। तदुक्तं स्मृतौ–

निषेकाद्यावसथ्यान्तैः स्मार्त्तैर्यः संस्कृतो द्विजः

---

१ द्रष्टव्या पराशरस्मृतिः माधवाचार्यवृत्तिसहिता (परा०माध०) दि एशियाटिक सोसाइटी, १९७४, प्रथम, आचार का०, पृ० २९२

२ ''होमं वैतानिकं कृत्वा स्मार्तं कुर्याद्विचक्षणः'' इति पराशरमाधवे पाठः, पृ० २९२ ''वैतानिका गार्हपत्यादयः। यस्य पुनः श्रौतस्मार्त्ताग्निद्वयं तस्यानुष्ठानप्रकारमाह भरद्वाज'' इति माधवाचार्यः।

३ पूर्ववदिति- स। *पा०गृ०सू०* १.१.४

४ *पा०गृ०सू०* १.१८.१ प्रोषितः सन्नेत्य गृहोपस्थानं करोति। पूर्ववद् गृहमाबिभीतेति इति कर्कः। पूर्ववद् श्रौतवत्।

५ कालगति – स

६ *पा०गृ०सू०* २.५.४१ गर्भाधानादीनां नियतकालकर्त्तव्यानां कर्मणां नियत-कालस्यातिक्रमे लङ्घने सति प्रायश्चित्तं नियतवत् नित्यवत् नित्ये श्रौतकल्पे नैमित्तिकेषु यद्विहितं तत् अनादिष्टं प्रायश्चित्तं सर्वत्र भवति। कृतप्रायश्चित्तस्य अतिक्रान्तकालेऽपि संस्कारकर्मण्यधिकारः सम्पद्यत एवेति वेणीरामशर्मकृतायां विवृतौ।

७ *पा०गृ०सू०* २.१७.४

८ स्मात्ता- स

उत्तरेष्वधिकारी स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः।। इति

तथा –

आवसथ्यमनादृत्य त्रेतायां यः प्रवर्त्तते।
सोऽनाहिताग्निर्भवति परिवेत्ता स उच्यते।। इति

अत्रोच्यते। पूर्वं श्रौतानामेवोपनिबन्धनं युक्तम्[१]। प्रत्यक्षश्रुतिमूलकत्वात्। स्वस्वशाखायां हि सर्वत्र प्रत्यक्षाः श्रुतयः श्रौतेषु। स्मार्त्तेषु पुनर्न तथा। तेषां हि नानाशाखान्तरगतनानाप्रकरणस्थविप्रकीर्णश्रुतिमूलकत्वात्।

।।श्रीः।। गृह्यस्थालीपाकानां कर्म (१.१.१)।।

गृह्यशब्देन गार्हस्थ्योऽग्निरुच्यते। आवसथ्याधानं दारकाले। दायाद्यकाल एकेषामिति[२] वक्ष्यमाणत्वात्। गृह्य आवसथ्य[३] औपासनः[४] पाकः पचनो वैवाहिकः शाल इत्यनर्थान्तरम्। स्थाल्यां पच्यन्ते ते स्थालीपाकाः। गृह्यस्य स्थालीपाका गृह्यस्थालीपाका[५]स्तेषां कर्म क्रिया कृतिर्व्याख्यास्यत इति सूत्रशेषः। गृह्यग्रहणं [६]लौकिकाग्नेरप्युपलक्षणार्थम्। सन्ति ह्यत्राऽगृह्याग्निसम्बन्धिकर्माण्यपि। यथा –

पञ्चसु बहिःशालायां विवाहे चूडाकरण उपनयने केशान्ते सीमन्तोन्नयन[७] इति। तथा दावाग्निमुपसमाधाय घृताक्तानि[८] कुशेण्ड्वानि जुहुयादिति[९]। स्थालीपाकग्रहणमाज्यपुरोडाशधानालाजाशाकपृषातक[१०]पश्वादेरप्युपलक्षणार्थम्।

---

१ मुक्तम् - स
२ *पा०गृ०सू०* १.२.१,२
३ आवर्स. - स
४ पासनः - स ('औ' न प्राप्यते)
५ गृह्यस्थालीपाका- न प्राप्यते 'स' मातृकायाम्।
६ यौ० – स
७ *पा०* १.४.२
८ घृताक्तनि - स
९ जुहुयादिति- स, *पा०गृ०सू०* ३.७.४
१० पृषातकपदस्य पुनरावृत्तिः स-मातृकायाम्।

तस्याप्यत्र [१]वक्ष्यमाणत्वात्। कर्मपदस्यासमासोच्चारणमहोमरूपस्रस्तरा[२]-रोहणगर्भाधान-पुंसवना[३]देरप्यत्रोपनिबन्धनसूचनार्थम्। अत्र स्मार्त्तानां[४] दर्विहोमत्वेन पौर्णमासप्रकृतिकत्वम्[५]। दर्विहोमाः पौर्णमासधर्मा जुहोत्यविशेषादित्युक्तेः[६]। न च त्र्यम्बकादीनां श्रौतानामेव दर्विहोमत्वम्। अविशेषात्। अत्र च दर्विहोमा इति सूत्र आहुः कर्काचार्याः[७]। यजति जुहोत्योर्यतोऽविशेषः। उभयत्र हि द्रव्यदेवता[८]वत्त्वम्। त्रैयम्बकान्निर्वपति रौद्रानेककपालानिति निर्वपतिशब्देनौषधमवगम्यते। सौम्यादिषु[९] दृष्टत्वात्। तथान्यत्र धानाभिर्जुहोति सक्तुभिर्जुहोतीति[१०] द्रव्यविधानम्[११]। मान्त्रवर्णिकी[१२] देवता। तेनोभयत्र द्रव्यदेवतावत्वाद्यजति जुहोत्योरविशेषः। अधर्मकाश्च दर्विहोमाः।[१३] धर्मापेक्षायां (च) सत्यां द्रव्यदेवता(व)त्त्वसामान्यात् पौर्णमासधर्मा इति युक्तरूपतेति। अत्रैतत्सूत्रकर्कभाष्यगतहेतोरप्यविशिष्टत्वात्।

---

१ व्र०- स

२ दारोहण० - स

३ पुंसवभादेरप्य – स; ०नादरेप्य – ग

४ ० त्तानां - स

५ "दविहीमेषु पाकयज्ञेषु पक्षादिप्रभृतिषु पौर्णमासधर्माणां कात्यायनचरणैरतिदिष्टत्वात्प्रकृते च पाकयज्ञानां परिभाषासूत्रार्थस्य पर्यालोच्यमानत्वादतिदेशप्राप्ताः ग्रहणासादनप्रोक्षणादयः पौर्णमासधर्मा अपि लिख्यन्ते" इति विश्वनाथः गृह्यसूत्रप्रकाशिकायाम्। (महादेव गङ्गाधरबाक्रेण सम्पादिते पारस्कर-गृह्यसूत्रग्रन्थे, पृ० ११)

६ *का०श्रौ०सू०* ६.१०.१७

७ कर्कभाष्यम् (६.१०.१७ *का०श्रौ०सू०*) "दविहीमास्त्रैयम्बकादयः। ते पौर्णमासधर्मा भवन्ति। पौर्णमासशब्देन दर्शस्याप्युपलक्षणार्थम्"। पाठभेदः।

८ देवतात्वम् - ग, स

९ द्वि - स। कर्कभाष्ये 'सौयादिषु' पाठः।

१० लाजैजुहोति इत्यधिकं कर्कभाष्ये।

११ ० नां - स

१२ मान्त्रवर्णिक्योऽत्र- ग, स

१३ होमानाः - स

दृश्यते चात्र[1] द्रव्यदेवतासंयोगस्तद्धितेन चतुर्थ्या मन्त्रवर्णेन च। पायसमैन्द्रꣳ श्रपयित्वेति[2] तथा अग्न्याधेयदेवताभ्यः स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वेति[3] तथा [4]दधिपृषातकमञ्जलिना जुहोत्यूनम्म[5] इति। नन्वधर्मकत्वे सति धर्मप्राप्तिर्युक्ता। अस्ति त्वत्र धर्माम्नानं[6] परिसमुह्यत्येत्याद्येष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम[7] इत्यन्तेन। सत्यम्। परन्तु तदाम्ना[8]नमन्यार्थम्। कोऽन्योऽर्थ इति चेत्। प्रकृतिप्राप्तानां केषाञ्चित्सन्नि-पत्योपकारकाणामारादुपकारकाणाञ्च परिसंख्यार्थम्[9]। केषाञ्चिदपूर्वाणां विधानार्थञ्च। न चैतावताऽप्रकृतिकत्वम्[10]। विकृतीष्टिपश्वा[11]दौ च तथा दर्शनात्। तथाहि—

परिस्तरणपात्रसꣳसादनप्रोक्षणाज्यनिर्वपणाधिश्रयणानि कृत्वोत्तर-परिग्रहादिकरोत्याज्यासादनात्[12] सपृषदाज्यमाज्यग्रहणम्[13]। बर्हिषि प्लक्षशाखास्तृणाति[14]। देवस्य त्वेत्यभ्रि[1]मादाय यूपावटं

---

१ चात्र दृश्यते— स। कर्कभाष्यं, (*का०श्रौ०सू० १.२.२*) "व्रीहियवपश्वादिद्रव्यम्। देवताशब्दस्तु चोदनालक्षणः। या तत्र चोद्यते सा तत्र देवता। न हि जात्या काचिद्देवताऽस्ति वैदिके व्यवहारे। तद्धितेन द्रव्यं प्रति देवतात्वं गम्यते, चतुर्थ्यन्तेन वा"।

२ *पा०गृ०सू०* २.१६.२ दधिमधुघृतमिश्रं जुहोतीन्द्रायेत्यादिः।

३ *पा०गृ०सू०* १.२.७

४ *पा०गृ०सू०* २.१६.३

५ ऊनं मे पूर्यतां पूर्णं मे मा व्यगात्स्वाहेति। प्राशनान्ते दध्ना मिश्रमाज्यमञ्जलिना 'ऊनम्मे० मन्त्रेण जुहोति।२

६ धर्मान्ना – स

७ *पा०गृ०सू०* १.१.२–५

८ तदम्ना – स

९ संन्यार्थ – स.

१० मत्वम् —ग, स

११ चा - स

१२ *का०श्रौ०सू०* ६.२.५

१३ *का०श्रौ०सू०* ६.२.६

१४ *का०श्रौ०सू०* ६.२.७

परिलिखतीदमहमितीति[१]। तथा। परिस्तरणपात्रसङ्सादन[२]-प्रोक्षणाज्यनि[३]र्वपणाधिश्रयणानि[४] कृत्वा स्फ्यादि करोति।[५] बर्हिषः प्रच्छेदङ्हरति[६]। मदन्तीरिति वा प्रेष्यति[७]। मात्रावदिध्मा बर्हिः[८]। स्रुवतृतीयाः स्रुचः सम्मार्ष्टी[९]त्यादिकोटिशोदाहरणानि।

प्रणीय परिस्तीर्यार्थवदासाद्य पवित्रे कृत्वे[१०]त्यादि प्रकृतिलिङ्ग-संयोगाच्च। न हि प्रकृतिविकृतिभावं विना तत्तद्धर्माणामत्र प्राप्तिः स्यात्। किं च। प्रणीयेत्युक्ते कथमेकान्ततोऽपामेव प्रणयनं प्रतीयते। उपदेशातिदेश[११]योरभावात्। न चेह प्रणीयेति नामातिदेशाद[१२]पामेव प्रणयनमिति वाच्यम्। अपः प्रणयति। अग्निं[१३]प्रणयति[१४]। आज्यानि प्रणयन्ति। चितीः प्रणयन्तीति प्रदेशान्तरे तत्तत्प्रणयने प्रणयन[१५]शब्दस्य दृ[१६]ष्टत्वात्। न च परिस्तरणसाहचर्यादपामेवेति वाच्यम्। परिस्तरणकर्मीभूतैक-पदार्थव्यवहितस्य द्वितीयान्तत्वे[१७]न श्रुतस्य सिंहा[१८]-

---

१ म्रि – स। *का०श्रौ०सू०* ६.२.८

२ ध– स.

३ निर्वणा– स,ग

४ वि–स

५ *का०श्रौ०सू०* ८. २.१६

६ *का०श्रौ०सू०* ८.२.२०

७ *का०श्रौ०सू०* ८.२.२१

८ *का०श्रौ०सू०* ८.२.२२

९ *का०श्रौ०सू०* ८.२.२३

१० *पा०गृ०सू०* १.१.२

११ मो–स

१२ दथा०– स

१३ अग्नि–स

१४ अग्निं प्रणयति– *का०श्रौ०सू०* ८.३.१६; *शां०गृ०सू०* १.५.३ अग्निं प्रणीय।

१५ प्रणयत–स.

१६ पृष्ठ० – स.

१७ ० येन–स

१८ सिंहासव– स

वलोकनन्यायेनाग्नेरेवो[1]पस्थापितत्वात्[2]। न च श्रुतपरित्यागे[3]ऽश्रुत-परिकल्पनेऽतिदेशातिरिक्तं दृढतरं प्रमाणमस्ति येनापां प्रणयनमुपस्थाप्यते। तस्मात् पौर्णमासाति[4]देशतोऽपां प्रणयनमिति। अतएव श्रौते दर्वि[5]होम उपक्रान्ते स्मार्त्ते पुनर्विशेषधर्मविधानम्। पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वहोमः[6]। हुत्वा शेष[7]प्राशनम्[8]। अग्नि[9]होत्रे तदस्य पाकयज्ञस्येवेति श्रुते[10]रितीत्युपपद्यते। अन्यथाऽप्रसक्तकथनं स्यात्। किञ्च। द्रव्यसामान्यात्स्थालीपाकादौ पौर्णमासधर्मातिदेशमुक्त्वा[11] प्राणिसाधनकत्वसामान्या[12]-त्पाकयज्ञपशुष्वग्नीषोमीय[13]विध्यन्तातिदेशपूर्वकं धर्मविशेषाम्नानं युक्तम्। पशोरपि पौर्णमासप्रकृतिकत्वात्। यथा प्राणिसाधनकत्वसामान्या[14]त्पाक-यज्ञपशुष्वग्नीषोमीयधर्मातिदेशस्तथौषधादिद्रव्यसामान्यात् स्थालीपाकादौ

---

१ ॰रेनो– स

२ ०थपित्वात्– स.

३ ॰ परिस्तत्यागे– स.

४ पौर्णमायामि – स.

५ दर्शि –स.

६ *का०श्रौ०सू०* ६.१०.२६

७ शेप – स.

८ *का०श्रौ०सू०* ६.१०.२७

९ मानिहोत्रे– स.

१० *का०श्रौ०सू०* ६.१०.२८ पाकयज्ञशब्देन च स्मार्त्ता होमा उच्यन्ते। तत्र होमाय यदवत्तं तस्य असर्वस्य होमः कर्त्तव्यः। अग्निहोत्रे हि शेषप्राशनं विहितं "अथैतदग्नौ हुत्वोत्सृप्याचामति निर्लेढि" इति। तस्य पाकयज्ञेन संस्तवं करोति" तदस्य पशव्यं रूपं पशव्यो हि पाकयज्ञ इति। यदि पाकयज्ञे प्राशनमुचितं तत एतदुपपद्यते नान्यथेति कर्कभाष्यम् (*का.श्रौ.सू.* ६.१०. २६–२८)।

११ त्त्का– स,ग

१२ सामान्मात्– स

१३ ० मीम– स

१४ सामात्– स

पौर्णमासातिदेशो युक्तः। अतिदेशप्राप्तानां धर्माणां पुन[1]रभिधानस्य तुल्यत्वात्। तस्माद्यथाऽग्नीषोमीया[2]त्पशुष्विति[3] श्रौतस्मार्त्तसाधारणं तथा दर्विहोमाः पौर्णमासधर्मा[4] इत्यपि चोभयसाधारणम्। अत्राग्नीषोमीयात्पशुष्वित्यादिसूत्रे[5] व्याख्यातं च कर्काचार्यैः "पाकयज्ञपशुष्वग्नीषोमीयविध्यन्त इष्यते"। तथा "प्राणिसाधनकत्वसामान्या-दग्नीषोमीयविध्यन्तप्रवृत्ताविदमाह[6]" शाखानियोजनमितीति[7]। अग्नी-षोमीयात्पशुष्वित्यु[8]भयार्थम्। दर्विहोमाः पौर्णमासधर्मा[9] इत्येकार्थमित्यत्र शपथा एवेति नात्र युक्त्यन्तरावकाशः। अतएव श्रीमद्भर्तृयज्ञपादै[10]र्दर्विहोमा इत्यस्मिन्सूत्रे दर्विहोमाः स्मार्त्ताश्चेति व्याख्यातम्। अभिमतं चैतदार्यपादानाम्। तादृक् प्रयोगोपनिबन्धनात्।

तथा चोक्तं **शांखायनसूत्रे**[11] पाकयज्ञान्प्रकृत्य[12] त एते प्रयाजा अननुयाजा अनिला अनिगदा असामिधेनीकाश्च सर्वे पाकयज्ञा भवन्तीति[13]। यत्तु कर्का[14]चार्यैरुक्तं[15] "स्थालीपाकग्रहणं चाज्यपुरोडाशधाना-

---

१ पुनरा.–स

२ षोमा–स

३ *का०श्रौ०सू०* ६.१०.२६

४ *का०श्रौ०सू०* ६.१०.१७

५ *का०श्रौ०सू०* ६.१०.२६

६ कर्कभाष्यं *का०श्रौ०सू०* ६.१०.२६

७ स्मार्त्तपशुषु शाखायां पशुनियोजनम्। कर्कभाष्यं *का०श्रौ०सू०* ६.१०.३०

८ *का०श्रौ०सू०* ६.१०.२६

९ *का०श्रौ०सू०* ६.१०.१७

१० ०द्वैर्दर्वि – ग,स.

११ ०त्रै–स

१२ *शां०गृ०सू०* १.१०.७ हुतोऽग्निहोत्रहोमेनाऽहुतो बलिकर्मणा। प्रहुतः पितृकर्मणा प्राशितो ब्राह्मणे हुतः।

१३ *शां०गृ०सू०* १.१०.५

१४ कका – स

१५ कर्काचार्याः पारस्करकृतस्मार्त्तसूत्रव्याख्यायाम्, पृ. २।

सक्त्वाद्युपलक्षणार्थम्। कथं ज्ञायते। येन स्थालीपाकमुपक्रम्याज्यमुपसंहरति निरुप्याज्यमधिश्रित्येत्येवमादि। आज्यग्रहणमपि स्थालीपाकाद्युपलक्षणार्थम्।[1] आज्यपुरोडाशधानादीनां "सर्वेषामेव[2] साधारणं[3] कर्मोच्यते। नह्यत्र प्रकृतिविकृतिभाव इति[4]। विध्यादिविध्यन्तवती [5]प्रकृतिरुच्यते। यत्र पुनर्विध्यादिमात्रन्न विध्यन्तोऽस्ति सा विकृतिः। न चात्र विध्यादिविध्यन्तस्वरूपता। सर्वाण्येतानि स्थालीपाकादीनि प्रकृत्य धर्माम्नानमिति[6]"। युक्तञ्चैतत्। नह्यत्रेति। अत्र स्मार्त्ते परस्परं प्रकृतिविकृतिभावो नास्तीत्यर्थः[7]। अतएव न चात्रेत्यादिना प्रकृतित्वन्निराकृतम्। न तु विकृतित्वम्। यच्च सर्वाण्येता[8]नीति तद्विकृतित्वेऽपि विशेषधर्माम्नानमुपपद्यत एव। न पुनरेतावता दर्विहोमत्वेन प्राप्तस्य पौर्णमासविध्यन्तस्य निवृत्तिः कर्त्तुं शक्यते। किञ्च। कर्कोपाध्यायपादैश्च दर्विहोमत्व[9]मिष्यते।

---

१ कर्कभाष्यं *पा०गृ०सू०* १.१.१ (मुन्शीराम मनोहर लाल, गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस, पारस्करगृह्यसूत्रम् भाष्यपञ्चकसमलंकृतम्, गंगाधर बाक्रे, पृ. २)।

२ सर्वेषा – स

३ धारणं स (सा नास्ति)

४ इति भ – स

५ ०यती– स

६ धर्मविधानम् इति कर्कभाष्ये। येन स्थालीपाकमुपक्रम्य...........धर्माम्नानमिति कर्कभाष्यं मातृकायां भेदेन प्राप्यते।

७ यत् प्रधानविधिरङ्गविध्यन्वितः पठ्यते सा प्रकृतिः। यथा दर्शपूर्णमासौ। यत्प्रधानविधिरङ्गविधिरहितः पठ्यते सा विकृतिः। यथा सौर्यः। न च दर्शपूर्णमासविधौ प्रयाजविधेरिव एतत्कर्मविधेः कस्मिंश्चित्प्रधानविधौ शेषभावोऽस्ति यतः सर्वाण्येव कर्माणि प्रकृत्य धर्मविधानम्" इति गदाधरभाष्ये, पृ० ७

८ ०तानि– स

९ दर्विहोमाः पौर्णमासधर्मा जुहोत्यविशेषात् (*का०श्रौ०सू०* ६.१०.१७)। "दर्विहोमेषु शतरुद्रियादिषु तूष्णीं" पौर्णमासधर्मा भवन्ति। तत्र चैकस्मिन्नेवाग्नौ आहवनीयो तत्स्थानाऽपन्ने परिश्रिदादौ वा होमो न गार्हपत्ये दक्षिणाग्नौ वा। हविःश्रपणप्रतपनादयः संस्कारास्तु गार्हपत्ये कर्त्तव्याः। तत्र प्रयाजानामनुयाजानामिध्मकाष्ठानां स्विष्टकृदिडाप्रस्तरहोमानां चाभावः।

स्मार्त्तानामुत्तराघारे देवतां प्रतिगद्य तु।
होमो[1] हि दर्शितो नो चेत् केन प्राप्तिस्तथात्र तु।।
एष एव विधिः सूत्राद्यदि मन्त्रो निवर्त्तते।
देवतां प्रतिगद्यैव कथं होमो वचो विना।।
तूष्णीं[2] होमः प्रवर्त्तेत यद्वाऽस्तूत्तरघारणे[3]।
देवतां प्रतिगद्यैष एव सूत्रात्तदा पुनः।।
तत्सूत्रवचनात्सर्वप्रायश्चित्ते कुतो न तत्।
उत्तराघारतः सर्वप्रायश्चित्ते विशेष[4]कः।।
कोऽस्ति येन तु मन्त्राः स्युः श्रौतयोर्वचनाद्द्वयोः।
कर्मणोरिह सम्प्राप्तिस्तेन वाच्यो विशेषकः।।
दर्विहोमत्वमत्रापि यद्युच्येत तदास्ति सः।
प्राकृतानां तु होमानां[5] देवताः प्रतिगद्य तु।।
होमो धर्मो न चापूर्व होमधर्मो ह्यतोऽत्र वै।
दर्विहोमत्वमेवास्ति तथा शांखायनादपि।।
सूत्रात्तद्भाष्यतस्तत्र[6] कातीयं व्याकृतं तथा।
तथा तत्कारिकायाञ्च भाष्ये नारायणीयके।।
पौर्णमासिकधर्माणामनुक्तानां तु संग्रहः।
बहूनामिह रेण्वादिग्रन्थे कातीयके[7] कृतः।।
वरं तस्मादिदं दर्विहोमत्वेन तु संग्रहः।
आश्वलायनगृह्ये च छन्दोगादिबहुष्वपि।।

उत्तराघाराज्यभागसंस्रवबर्हिरादयो होमाश्चतुर्थ्यन्तं देवतापदमुच्चार्य स्वाहाकारेण कर्त्तव्याः इति देवयाज्ञिकपद्धतौ। (*का०श्रौ०सू०* ६.१०.१७)।

१ ०मा – स

२ प्रतिनिगद्य होमाः (*का०श्रौ०सू०* ६.१०.२३) "तूष्णीमित्युक्तत्वाद्देवतां प्रतिनिगद्य होम उच्यते" इति कर्काचार्याः।

३ धा – स

४ य – स

५ होमानां तु – स

६ ०तद्भाष्यतद्भाष्यतस्तत्र – स

७ ०गके – स

गृह्येषु दृश्यते गार्ह्ये पौर्णमासस्य धर्मकाः।
बहुत्वान्नेह लिख्यन्ते प्राकृतं त्वधुनोच्यते।।

एवं प्रतिज्ञां विधाय गृह्यस्थालीपाकादिकर्मान्तर्भूताग्न्यायतन[१]-संस्कारपूर्वकमतिदिष्टोपदिष्टकर्मारचयति।

।।श्रीः।। **परिसमुह्योपलिप्योल्लिख्योद्धृत्याभ्युक्ष्याग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य प्रणीय[२] परिस्तीर्या[३]र्थवदासाद्य[४] पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीः संस्कृत्यार्थवत्प्रोक्ष्य निरुप्याज्यमधिश्रित्य पर्यग्नि कुर्यात्** (१.१.२)।।

परिसमुह्येत्यावसथ्याग्नेरायतनं परि सर्वतः सम्यगूहयित्वा त्रिभिर्दर्भैरायतनमध्यपतितं तृणपांसुपर्णादिकं प्राक्संस्थं त्रिर्बहि[५]रपसार्येत्यर्थः। तदुक्तं देवभाष्ये वेदिं परिसमुह्येति सूत्रे दर्भैर्वेदिमध्यपतितं तृणपुरीषादिकमपसार्येति।

कारिकायाञ्च। प्रदक्षिणं समुह्य त्रिर्दर्भेणेति। **शांखायनकारिकायाञ्च**। दर्भैः संमृज्य तत्स्थानमिति। स्मृतिशुद्धो भूत्वा शुचौ देशे प्राङ्मुख उपविश्य वामहस्ते स्फ्यं गृहीत्वा[६] कुशैः परिसमू[७]हनमित्यार्यचरणाः। कुशैर्हस्तेन वेति केचित्। एतेषां संस्काराणां त्रिः करणञ्च देवयाज्ञिकै[८]र्विपर्यस्य पित्र्येषु तु सकृद्दक्षिणा चेतिसूत्रे यच्च देवानां

---

१ आयत– स (न इति नास्ति)

२ प्रणीय परिस्तीर्य इति स– मातृकायां नास्ति।

३ ०र्भ– स

४ ०साध– स.

५ बर्हि – स.

६ ०या – स.

७ ०समूहयजमि० – स.

८ *का०श्रौ०सू०* १.७.२६

त्रिः क्रियते परिसमू[1]हनोपलेपनोल्लेखनोद्धरणाभ्युक्षणादिकं तत्पित्र्ये[2] सकृत्कार्यमित्युक्तम्[3]। तथा च कर्काचार्याः। [4]यदभ्यस्तं[5] दैवे स्मर्यते तत्पित्र्ये सकृत्कर्त्तव्यम्। यथा परिसमूहनोपलेपनोल्लेखनादीनि। तथा चोक्तम्–

कण्डनं पेषणं चैव तथैवोल्लेखनं सदा।
सकृदेव पितॄणां स्याद्देवानां तत्त्रिरुच्यते।।[6] इति

सर्वतः पांसूनुत्सार्येति **गोभिल**भाष्यकारः। तच्चायतनं चतुरश्रं[7] भवतीति केचित्। तथा चापस्तम्बशुल्बभाष्यकारौ सुन्दरकरविन्दौ। [8]सभ्यावसथ्ययोः खरौ चतुरश्रावेव[9] भवत इति। तथा च **शुल्बवार्तिके** रामचन्द्राचार्याः। **अत्रापस्तम्बः**[10]। पिशीलमात्रा भवन्ति धिष्ण्यानामिति

---

१ ०हतो – स.

२ ०त्रे – स

३ ०क्ते – स

४ 'स'– मातृकायां– "यदभ्यस्तं दैवे स्मर्यते तत्पित्रे सकृत्कर्त्तव्यम्। यथा परिसमूहनोपरिदिकं तत्पित्रे सकृत्कार्यमित्युक्तम्" इति पाठः।

५ यदभ्यस्तरूपमिति कर्कभाष्ये (*का०श्रौ०सू० १.७.२६*)। एते पञ्च भूसंस्कारा इति भर्तृयज्ञभाष्ये। अग्न्यर्था इति कर्कोपाध्यायाः। "यत्र यत्राग्नेः स्थापनं तत्र तत्रैते कर्तव्याः" इति। अतः श्रौताग्निस्थापनेऽपि कर्तव्याः। "न च गृह्यस्थालीपाकादिकर्मान्तर्भाव एषाम्, येनैष एव विधिर्यत्र, क्वचिद्धोम इत्यभिहितेऽपि पुनरभिधीयते उपलिप्त उद्धतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधायेति" (पा० १.४.३) इति कर्कभाष्ये। पृ० २

६ वायुपुराणे

७ ०सं – स

८ रु– स

९ ० वेव भवत इति– विज्ञायते इत्येतत्पर्यन्तं नास्ति 'स'– मातृकायाम्।

१० *आपस्तम्बशुल्बसूत्रम्*, करविन्द–सुन्दरराजभाष्यसहितम्, सम्पा० डा० सत्यप्रकाश, दि रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ एन्शिएन्ट साइन्टिफिक स्टडीज, नई दिल्ली–८, ईसवीयाब्दः १९६८

विज्ञायते[१]। चतुरश्रा इत्येकेषाम्[२]। परिमण्डला इत्येकेषामिति[३]। चतुरश्रपक्षः कात्यायनादीनाम्। यद्वक्ष्यति[४] "[५]प्रमाणं चतुरश्रमादेशादन्यदिति"। होत्रादिधिष्ण्यचयने चतुरश्रत्वं व्यक्तम्। तेन सभ्यावसथ्ययोरपि खरौ चतुरश्रौ युक्तरूपौ। पिशीले पञ्चविधता प्रागाचार्यव्याख्या[६]पारम्पर्यात्। यथा। पिशीलमात्राण्यपरे त्वग्निस्थानानि मन्यन्ते[७]। पिशीले पञ्चविधता तद्बाह्वोरन्तरं भवेत्। चतुर्मुष्ट्यथवारत्नि[८]मानं वा त्रिंशदङ्गुलम्। षट्त्रिंशदङ्गुलं वापि पूर्वाचार्याशया[९]दितीति। तथा च **शाङ्खायनगृह्ये**[१०]। चतुरश्रं[११] गोमयेन स्थण्डिलमुपलिप्येति। **गोभिलगृह्ये** च समन्तमितिपदं समचतुरश्रमिति भाष्य[१२]कारेण व्याख्यातम्। श्रीआर्यचरण-देवयाज्ञिकप्रभृतयस्तु वृत्तमेवेत्याहुः। [१३]युक्ततममेतत्। तदुक्तं **परिशिष्टे** भगवता कात्यायनेन। अरत्नि[१४]मितं चतुरश्रं धिष्ण्यमाहवनीयस्य परिमण्डलं

---

१ *आप०शु०सू०* २.७.२१ शुल्बसूत्रे "भवन्तीति धिष्ण्यानामिति पाठः"। "त्रिपदं पिशीलं, मुष्टीकृतोऽरत्निः पिशीलमित्येके। बाह्योरन्तरालं पिशीलमिति बोधायनः। धिष्ण्या अग्नयः।.... अग्नीनामायतनभुवः पिशीलमात्राणि भवन्ति" इति करविन्दः। पिशीलं पञ्चधा वर्णयन्ति–बाह्योरन्तरालमित्येकम्, कृतमुष्टिमरत्निं द्वितीयम्। अकृतमुष्टिमरत्निं तृतीयं, द्वात्रिंशदङ्गुलं चतुर्थं, षट्त्रिंशदङ्गुलं पञ्चममिति सुन्दरराजः।

२ *आप०शु०सू०* २.७.२२

३ *आप०शु०सू०* २.७.२३

४ यद्वक्षति– स

५ *का०शु०सू०* ३.५ /– कात्यायनशुल्बसूत्रम् सम्पा० विद्याधर शर्मा, (अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, सं० १९८५)

६ ख्या– नास्ति 'स'– मातृकायाम्।

७ मन्यते– ग, स.।

८ ०न्नि– स

९ शरा– स

१० *शां०गृ०सू०* १.७.२।

११ चतुरस्रम् शांखा. गृह्ये पाठः।

१२ नाम्यकारेण– स। *गो०गृ०* १.५.१३

१३ मु – स।

१४ ०न्नि– स

गार्हपत्यस्या[1]र्द्धचन्द्रं दक्षिणाग्नेः सभ्याव[2]सथ्ययोर्नर्यवदिति। न च शुल्बविरोधः शंक्यः। आदेशादन्यदित्युक्तेः[3]। अनादेशे हि तत्प्रवृत्तिः। यच्च **शाङ्खायनगृह्यं** तत्तत्परम्। तच्चाऽरत्नि[4]मितं कार्यम्। निगमेऽरत्निमितमिति सर्वशेषत्वात्। तस्य च वृत्तत्वात्पूर्वमरत्निमितं चतुर्विंशत्यंगुलं समचतुरश्रं शुल्बोक्तप्रकारेण निष्पाद्य "चतुरश्रं मण्डलं चिकीर्षन्मध्या[5]दंसे निपात्य पार्श्वतः परिलिख्य तत्र यदतिरिक्तं भवति तस्य तृतीयेन सह मण्डलं परिलिखेत् स समाधिरिति"[6] शुल्बोक्तरीत्या वृत्तं कुर्यात्। अत्र भगवता कारुणिकेन शिष्यबुद्धिक्लेशो मा भूदिति सूक्ष्मप्रकारो नोपनिबद्धः स चास्मन्मातामहचरणैः[7] **कुण्डरत्नाकरे**[8] उक्तो यथा –

व्यासे चतुर्विंशतिधा विभाजिते त्रयोदशांशैर्हयदस्रसंख्यैः।
पञ्चाशदंशैः सह सम्मितेन सूत्रेण वृत्तं रचयेच्च कुण्डम्।। इति

अंगुल्यरत्न्यादिमानं तु शुल्बे[9] उक्तम्। यथा –

तंतुः पुष्करनालस्य षड्गुणपरिवेष्टितः।।
वत्सतर्यास्त्रिहायण्या[10] वालेन सदृशो भवेत्।
त्रयस्त्रिहायणी वालाः सर्षपार्द्धं प्रचक्षते।
द्विगुणं सर्षपं विद्याद्यवः पञ्च तु सर्षपाः।

---

१ ०स्मा– स
२ ०नस.– स
३ *का०शु०सू०* ३.५
४ रंति.– स
५ मध्यादेसे–स
६ *का०शु०सू०* ३.१३ "चतुरस्रं वृत्तं कर्तुमिच्छन् मध्यात् चतुर्भुजमध्यात् अंसे चतुर्भुजकोणे सूत्रं निपात्य दत्त्वा = चतुरस्रे करणसूत्रद्वये दत्ते सूत्रयोः संयोगस्थलं मध्यं स्यात्। सः चतुरस्रस्य मण्डलकरणप्रकारः।
७ काश्याः विश्वनाथद्विवेदी, ईसवीयः १४५०–१६१५
८ ०रभाकरे–स। *'कुण्डग्रन्थविंशति'* नाम्नि ग्रन्थे विश्वनाथटीकया प्रकाशितः। पृ.८४
९ *का०शु०सू०* ७.२३.२५
१० हायिण्या– ग, स

अङ्गुलस्य प्रमाणं तु षड्यवाः पार्श्वसम्मिताः[1]।
चतुर्विंशाङ्गुलोऽरत्नि[2]र्वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः।[3] इति

यानि पुनः कर्म्मभेदे भिन्नानि मानाङ्गुलमानान्तराङ्गुलमात्राङ्गुलदे[4]-हलब्धाङ्गुलमुष्ट्यङ्गुलादीनि श्रुतिस्मृत्यागमपुराणादावाम्नातानि तेषां तत्तत्कर्मपरत्वेनाऽस्मन्मातामहचरणैः **कुण्डरत्नाकरे** व्यवस्थापितत्वान्नेह कथनमुपयुज्यते। यच्च श्रुतिस्मृतिशुल्बागमगणिताभिमानिनो लक्षणं–

''[5]त्रसरेणू रथरेणुरित्यादि''।
अङ्गुलमाहुर्बहुधा सिद्धान्तं ब्रूमहे तत्र।
उपलब्धश्रुतिमूलं कल्पकृदुदितं समाश्रित्य।
समस्थिते वा प्रपदोच्छ्रिते वा य ऊ[6]र्ध्वबाहौ नरि पञ्चमोंशः[7]।
हस्तः स तस्या[8]पि जिनांशकोऽत्राङ्गुलं यवस्तस्य लवोष्टमस्त्विति।।

तदुन्मत्तप्रलपितत्वादुपेक्षणीयम्। यत ऊद्ध्र्वबाहुप्रपदोच्छ्रितेन समस्थितेन वेति सूत्रे[9] पुरुषमाने समस्थितेनैवेत्यवधार्यते। प्रपदोच्छ्रिताम्नानं

---

१ पार्श्वसंस्थिताः इत्यपि पाठः प्राप्यते।

२ रनिर्वि–स

३ विंशतिशताङ्गुलः पुरुषः। तत्पञ्चमो भागोऽरत्निः। अरत्न्यर्द्धो वितस्तिः। अरत्नेश्चतुर्विंशो भागो अङ्गुलः। अङ्गुलस्य षष्ठभागो यवः। यवस्य पंचमो भागः सर्षपः। सर्षपार्द्धं अर्धसर्षपः। सर्षपार्द्धस्य तृतीयो, भागः त्रिहायणी वालः। त्रिहायणी वालस्य षष्ठांशः पुष्करतन्तुः इत्येवमवरोहक्रम इति।

४ द्दे–स

५ 'त्र' नास्ति स– मातृकायाम्। *कुण्डाहतिः* नैमिषस्य रामचन्द्रेण विरचिता १६४३ वर्षे। श्लोक सं. २,५,६,। *यज्ञमधुसूदने*, पृ. १

६ रु– स

७ शा– स।

८ स्मा– स

९ *का०श्रौ०सू०* १६.७.३२

तु पुरुषमानादतिरिक्तमग्निक्षेत्रब[1]हिर्भूतं परिश्रिन्निखननार्थम्। तथा च **श्रुतिः**। तत्रोप यत्[2] [3]प्रपदेनाभ्युच्छ्रितो भवति तत्परिश्रिद्भिराप्नोति तस्मादु बाह्येनैव लेखां परिश्श्रिद्भ्यः खनेदिति। व्याख्यातं चैवमेव देवयाज्ञिकैः। वस्तुतस्तु समस्थितपुरुषाङ्गुलादिमानस्य साक्षाच्छ्रुति[4]विहितस्याप्यग्नौ पारिभाषिकत्वान्नान्यत्र प्रसक्तिरित्यादि [5]**कुण्डरत्नाकरा**देवावगन्तव्यम्। केचिदायतने मेखलाकरणञ्च तत्रैवाम्नातमित्याहुः। तद्यथा–

''अग्नीनां तु खरः कार्यो मेखलात्रयसंयुतः।
द्वादशाङ्गुल उच्छ्रायो[6] विस्तारश्चतुरङ्गुलः''[7]। इति

विस्तारस्त्र्यङ्गुलो मत इति केचित्पठन्ति। मेखला च खराकारैव कार्या। कुण्डानां यादृशं रूपं मेखलानाञ्च तादृशमित्युक्तेः।

।।श्रीः।। उपलिप्य (१.१.२)।।

परिसमूहितस्याग्नेरायतनस्य गोमयेनोदकेन च समन्ततस्त्रिरुपलेपनं कृत्वेत्यर्थः। तथा चोक्तमार्यचरणैः। तस्य देशस्योदकेन गोमयेनोपलेपनमिति। तथा च प्रायश्चित्तप्रकरणे[8] श्रुतिदर्शनम्। अथ प्रातर्भस्मान्युद्धृत्य गोमयेनालिप्येति गोमयेनैवोपलेपनम्। तथा च **शांखायनः**।[9] चतुरश्रं गोमयेन स्थण्डिलमुपलिप्येति। **गोभिलोऽपि**। एतदग्नेः

---

१ हिंभूतं– स
२ *शतपथब्राह्मणम्* १०.२.२.६
३ प्रदे–स
४ क्षाछ्र–स
५ कण्ड–स
६ छ्रा–स
७ *का०शु०सू०,* ७.२२ 'विस्तारे' इत्यपि पाठः।
८ *श०प०* १२.४.४.१।
९ *शां०गृ०सू०* १.७.२ ''चतुरस्त्रम्''

स्थण्डिलं गोमयेन समन्तं पर्युपलिम्पतीति[1]। अत्र तद्भाष्ये विशेषः। स्थण्डिलग्रहणं लौहमृन्मयादिभाण्डस्थेऽग्नौ कर्मप्रतिषेधार्थम्। अग्नेः स्थण्डिलमित्येतावतैव सिद्धत्वादेतदित्यवाच्यमिति चेत्। गृहस्थस्य द्वितीयभूमिकायामग्न्यगारप्रतिषेधार्थम्। कथं नामैतदेवंभूतमेवाविष्कृता[2] या[3] भूमिस्तत्स्थण्डिलमित्यर्थः। एवं प्रकृतायां भूमौ स्थितस्याग्नेः उन्नती परिवारादिकरणे न दोषः। केनोपलिम्पति गोमयेन गोशकृता समन्तं चतुरश्रं परीति[4] सर्वतोभावं सर्वत उपलिम्पतीति। **गृह्यकारिकायाञ्च** विशेषः। अथोपलेपनम्। गोमयादिभस्त्रिरेव स्यादिति। तथा।

अमे[5]ध्यासेविनीवन्ध्याप्रसूताभ्यो न गोमयम्।
जीर्णायाश्चोपलेपार्थमाहरेन्न तु माहिषमिति।

।।श्रीः।। उल्लिख्य ।।

उपलेपनानन्तरं तस्मिन्नायतने स्फ्येन प्रागायता उदकसंस्थास्तिस्त्रो लेखा लिखित्वेत्यर्थः। अत्र केचित्कुशेनैवोल्लेखनं कर्त्तव्यमित्याहुः। तदुक्तं **छन्दोगपरिशिष्टे** कात्यायनेन। लक्षणे प्राग्गतायास्तु[6] प्रमाणं द्वादशाङ्गुलमित्युपक्रम्य कुशेनैव[7] समुल्लिखेदिति। तन्न। स यत्राग्निमाधा[8]स्यन्भवति तत्स्फ्येनोल्लिखतीति **काण्वश्रुतेः**। तथा च **शांखायनकारिकायाम्।** स्फ्येन लेखास्तु तत्र स्युर्ल्लेखासु स्फ्यस्य दर्शनादिति। स्फ्येनोल्लेखनमित्यार्यचरणाश्च। **रेणुकारिकाया**ञ्च। तिस्त्रः

---

१ *गो०गृ०सू०* १.५.१३ स्थण्डिलम् अग्न्यगारम्। समन्तं चतुरस्त्रं परि सर्वतोभावेनो– पलिम्पति। एतदिति रसवतीनिरासार्थम्।....स्थण्डिलग्रहणं लौहादिभाण्डस्थे अग्नौ होमनिषेधार्थम् इति गोभिलगृह्यभाष्यकारः।

२ ०विकृता– ग, स

३ ०कृतायां–स

४ परिति–स

५ ध्य–ग। रेणुकारिकायाम् इति स्मार्तोल्लासे, पृ. १५३

६ प्रागतायास्तु–स। धर्मशास्त्रसंग्रहे, भट्टाचार्येण सम्पादिते। *कात्यायनस्मृतौ*६.६

७ युशेनैव– स

८ ०धास्वन्–स

प्रागायता लिखेत्। लेखाः स्फ्येनेति। अतएव देवयाज्ञिका लेखाकरणे सर्वत्र स्फ्येन लेखां कुर्यादित्याहुः। यत्तु स्फ्येन पदं त्रिः परिलिखति। स्फ्येनांतर्ल्लिखतीत्यादौ[१] लेखासु करणत्वेन स्फ्योपादानं तदे[२]तच्छ्रुतिप्राप्तानुवादो न पुनः परिसंख्येति। अतएव वेद्यां त्रिरुल्लिख्य। प्रास्य तद्दक्षिणेनोल्लिखत्यपहता इति[३]। स्थानमुल्लिख्याभ्युक्ष्यान्वारब्ध[४] इत्यादौ स्फ्येनैवेति सर्वैर्व्याकृतम्। यत्तु **छन्दोगपरिशिष्टे** कात्यायनेन कुशेनेत्यभिहितं तत्तच्[५]छाखापरम्। केचित्तु गृह्ये स्फ्येनाऽगृह्ये स्रुवेण लेखाकरणमाहुः। तदयुक्तम्। एतद्व्यवस्थापकमूलाभावात्। न चाऽगृह्ये स्फ्याभावात्स्रुवेणेति वक्तुं शक्यम्। यथा हि [६]स्रुवादीनामगृह्ये प्राप्तिस्तथा [७]स्फ्यस्यापि। सत्यप्यभावे कुशेनैव समुल्लिखेदिति कात्यायनोक्त्या कुशेनैवोल्लेखनं न तु स्रुवेण। अश्रुतत्वात्। तस्मादगृह्येऽपि स्फ्येनैवेत्यवधार्यते। अत्र **शांखायनगृह्ये** विशेषः। उदक्संस्थां मध्ये लेखां लिखित्वा[८]। तस्यैं दक्षिणत उपरिष्टादूर्ध्वामेकां मध्यत एकामुत्तरत एकामिति[९]। **छन्दोगसूत्रे** च। अनुगुप्ता अप आहृत्य प्रागुदक्प्रवणं देशं[१०] समं वा परिसमुह्योपलिप्य मध्यतः प्राचीं ल्लेखामुल्लिख्योदीचीं च सङ्हतां

---

१ *का०श्रौ०सू०* ५.३.२२
२ तच्छ्रु–स
३ *का०श्रौ०सू०* ४.१.७
४ *का०श्रौ०सू०* ४.८.१४
५ ततछाखा–स
६ स्रुपा – स
७ क्यस्यापि–स।
८ लिखित्या– स। *शां०गृ०* १.८.६।
९ *शां०गृ०* १.८.७
१० श– स

पश्चान्मध्ये प्राचीस्तिस्त्र उल्लिख्याभ्युक्षेदिति[१]। **छन्दोगपरिशिष्टे** कात्यायनोऽपि।

> **लक्षणे प्राग्गतायास्तु प्रमाणं द्वादशाङ्गुलम्।**
> **तन्मूलसक्ता योदीची तस्या एवं[२] नवाङ्गुलम्।**
> **उदग्गतायाः संलग्नाः शेषाः प्रादेशमात्रिकाः।**
> **सप्तसप्ताङ्गुलानि स्युः कुशेनैव[३] समुल्लिखेत्।** इति

आश्वलायनगृह्ये[४] च। अथ खलु[५] यत्र क्व च[६] होष्यन्त्स्यादिषुमात्रावरं सर्वतः स्थण्डिलमुपलिप्योल्लिख्य षळ[७]लेखा उदगायतां[८] पश्चात् प्रागायते[९] नानान्तयोस्तिस्त्रो मध्ये तदभ्युक्ष्याग्निं प्रतिष्ठाप्येति।।

।।श्रीः।। उद्धृत्य ।।

उल्लेखनानन्तरं तदुत्पन्नान्पांसून्यथाक्रमं त्रि[१०]रुद्धृत्य। प्रथमलेखो-त्पन्नान्पांसूनंगुष्ठोपकनिष्ठिकाभ्यामादायायतनादुत्तरतः प्रक्षिप्यैवमितरयोः पांसून्प्रक्षिपेदित्यर्थः। [११]पुरस्तात्प्रक्षिपेदिति केचित्। तदुक्तं [१२]**शांखायन-गृह्यकारिकायाम्।**

---

१. *गो०गृ०सू०* १.१.६ "अनुगुप्ताः आच्छादिताः। अप उदके-अनिषिद्ध-जलाशयादानीय इति। "भूमेः समूहनं कृत्वा गोमयेनोपलिप्य च" इति गृह्यासंग्रहः।
२ नं-स
३. कुशेनेव- स
४. *आ०गृ०सू०* १.३.१
५ नास्ति ग- मातृकयोः
६ त-स; न-ग
७ नास्ति ग-स-मातृकयोः
८ उदग्गयता-स
९ प्रागायता- ग, स
१० सद्धृत्य - स
११ पुरस्तात्....... केचित् नास्ति स-मातृकायाम्
१२ .शायन-स

पांसून्प्राञ्चं समुद्धृत्य ताभ्यः एकैकशः क्रमादिति। तन्न। उत्तरत उपचारो यज्ञ[1] इति परिभाषितत्वात्। अतएवार्यचरणै–रतस्यैवोल्लिखितस्योद्धरणमुत्तरतः पुरीषप्रक्षेप इत्युक्तम्। यत्तु **शांखायनकारिकायां** पांसून्प्राञ्चं समुद्धृत्येति तदुद्धरणमेव प्राञ्चं न तु प्रक्षेपः।

।।श्रीः।। अभ्युक्ष्य ।।

सति मणिके तदुदकेनासति तु तस्मिंल्लौकिकेन तदायतनं [2]सर्वतस्त्रिरभ्युक्ष्य [3]रेखात्रितयं वा[4]। तमेव देशमद्भिरभ्युक्ष्येति भर्तृयज्ञः। "अभ्युक्षणं[5] त्रिरेव स्यात्संस्काराः कथिता भुव" इति **कारिकायाम्। शांखायनगृह्ये**[6] तु ता अभ्युक्ष्येति। ताः[7] पूर्वकृता लेखा उदकेनाभ्युक्ष्येति तद्भाष्ये। [8]तन्त्रेणा[9]भ्युक्षणं कृत्वेति **तत्कारिकायाम्**। तन्त्रेणाभ्यु[10]क्षणमिति **नारायणभाष्ये** च।

।।श्रीः।। अग्निमुपसमाधाय ।।

ततस्तस्मिन्नायतने आवसथ्याग्निं उप उपर्यायतनमध्ये समाभिमुख्येनाधाय स्थापयित्वा। अत्र गृह्यस्थालीपाकानां कर्मेत्युपक्रमादेष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम इत्युपसंहाराच्चैषां संस्काराणां गृह्याग्निसाध्यकर्माङ्गत्वम्। यद्यपि गृह्यपदस्य लौकिकाग्नेरप्युपलक्षकत्वा-

---

१ *का०श्रौ०सू०* १.८.२६

२ सर्य०–स

३ रेवा–स

४ वाम् –स

५ अभ्युक्ष्य–ग

६ *शां०गृ०* – १.७.८

७ ०रताः – स

८ तंत्र्ये.–स

९ क्ष्य–स

१० क्ष्य–स

देतेषांल्लौकिकाग्निसाध्यकर्माङ्गत्वमपि प्रतीयते। तथापि [१]उपलिप्त उद्धतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधायेति लौकिकाग्निसाध्यकर्माङ्गत्वेन संस्काराणां वक्ष्यमाणत्वादेतेषां गृह्याग्निसाध्यकर्माङ्गपरतैव। तेन स्वस्थान[२]स्थितेऽग्नावपि प्रति कर्म प्रवर्तत एव। तथा चार्यचरणैः पक्षादिप्रभृतिषु परिसमूहनादि[३]कर्मापवर्गान्ते विशेष इत्युक्तम्। यदपि स्थापनविवक्षया-ऽग्न्यर्थत्वाभिधानं तन्मनो विलासमात्रम्। न ह्यत्र स्थापनार्थत्वावबोधकं वचनमस्ति। न च त[४]द्विवाहगतपुनर्विधानाऽन्यथाऽनुपपत्त्या कल्पयितुं शक्यम्। [५]सीतायज्ञेऽपि पुनरपि विधानात्। अन्यार्थं तदिति चेत्। न। प्राप्तार्थत्वात्। न च कृष्टत्वात्संस्काराऽप्राप्तिरिति वाच्यम्। अविशेषविधानाददृष्टार्थत्वाच्च। यच्च विवाहप्रकरणे यत्र यत्राग्नेः स्थापनं तत्र तत्रैते कर्त्तव्या इति स्मृतिरिति स्वोपबद्धपूर्वग्रन्थफक्किकायाः स्मृतित्वेनोद्भावनं तत्स्वमनः संतोषार्थमेव विभीषामात्रम्। तदर्थाऽनुपलंभात्। यदपि उद्धतेऽवोक्षितेऽग्निमादधीतेति लिंगन्न तदिहोपक्रमोप-संहारावगतकर्मान्तर्भावव्युदाससमर्थम्। अतएव श्रौतेष्वप्रवृत्तिरेतेषाम्। तत्राग्निस्थापनप्रदेश उल्लेखनादिसंस्काराम्नानाच्च। न चादृष्टार्थत्वात्समुच्चयः। प्राप्त्यभावात्। उपदेशातिदेशौ हि धर्माणां प्रापकौ। न च तयोरन्यतरदिहास्ति। नापि श्रौते उल्लेखनादीनामाम्नानं स्मार्त्तसंस्काराणामुपलक्षणार्थम्। [६]उद्धतावोक्षिते दक्षिणम्। स्थान-मुल्लिख्याभ्युक्ष्ये[७]त्यादावनेकाम्नानवैयर्थ्यापत्तेः। उपलक्षणं ह्येकेन केनचित्कर्त्तव्यम्। द्वितीयाम्नानं तु व्यर्थमेव। एवं च सति यदुपलक्षणवादिनोपलक्षकपदं विनाऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादौ

---

१ *पा०गृ०सू०* १.४.३ ०साधकर्मा.–स

२ स्ति–स

३ कर्मावर्गान्ते–स ('प' नास्ति)

४ द्विवाहनगत – स

५ *पा०गृ०सू०* २.१७.८

६ उधृतानोक्षिते– स। *का०श्रौ०सू०* ५.४.१७

७ क्षे–स

परिसमूहनाद्युच्यते तदतीव साहसम्। किंच। उपलक्षकपदं विनापि यदि तदनुष्ठानं तदोत्तरवेदावपि तत्प्रवृत्तिः स्यात्। न च तस्य तदिष्टम्। अथोत्तरवेदेः संस्कृतत्वादनपेक्षितत्वाच्च न तत्प्रवृत्तिरित्युच्यते तत्स्थानमुल्लिख्ये[1]त्यादावपि [2]तत्तुल्यमेव। न चोपलक्षकत्वादिह तत्प्रवृत्तिः। उपलक्षकं विनाप्यग्निहोत्रावपि तदङ्गीकारात्। तस्माद्यत्किंचिदेतत्। अतोऽस्मदुक्तैव व्यवस्था ज्यायसी। अतएवार्यचरणैर्यत्र यत्रावसथ्याग्नेः स्थापनम् तत्र तत्र परिसमूहनादयः पञ्चसंस्काराः। यत्र तु लौकिकाग्नेः स्थापनं तत्र त्रय[3] इत्युक्तम्। अथ श्रौते तु श्रौता एवोपनिबद्धाः नोपलक्षत्वमंगीकृतम्। नापि समुच्चयः।।

।।श्रीः।। दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य ।।

सन्निधानात्तस्यै[4]वाग्नेर्दक्षिणतः। ब्रह्मासनं ब्रह्मा यस्मिन्नास्ते तद्ब्रह्मासनम्। वारणकाष्ठ[5]निर्मितं पीठं प्रागग्रं पूर्वं स्थापयित्वा तं पीठं कुशैरास्तीर्य। आस्तरणे च कु[6]शसंख्यानियमो नास्ति। तदुक्तं **छन्दोगपरिशिष्टे** भगवता कात्यायनेन।

यज्ञे वास्तुनि मुष्टौ च स्तम्बे दर्भचटौ[7] तथा
दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणेषु च।। इति

कुशा एव ब्रह्मसदनमिति[8] श्रीभर्तृयज्ञाः। अत्र पाकयज्ञेषु पीतवर्णा दर्भा ग्राह्याः। तदुक्तं तत्रैव।

हरिता यज्ञिया दर्भाः पीतकाः पाकयज्ञियाः।

---

१ *का०श्रौ०सू०* ४.८.१४ "अत्र चोल्लेखनोपलक्षिताः स्मार्त्ता अपि पदार्थाः परिसमूहनादयः पूर्वं कर्त्तव्याः" इति कर्काचार्याः।

२ तं–स

३ 'त्र नास्ति स–मातृकायाम्।

४ मैवा–स

५ काल–स

६ श 'नास्ति स–मातृकायाम्।

७ रौ–स; *कात्यायनस्मृतौ* १८.२४, पृ० ६२८ "यज्ञवास्तुनि मुष्ट्याञ्च" इति पाठः।

८ सदजन–स

समूलाः पितृदैवत्याः कल्माषा वैश्वदेविका[1]। इति

अत्रास्तीर्येत्यनेन प्रकृतिप्राप्तं ब्रह्मवरणाद्युपवेशनान्तं लक्ष्यते। तेन तच्च कृत्वेत्यर्थः। दक्षिणतो ब्रह्मयजमानयोरासने इत्यनेन दक्षिणतो ब्रह्मासनस्य प्राप्तत्वात्पुनर्ग्रहणं तत्सहचरितय[2]जमानारानस्य तद्देशव्यावृत्त्यर्थम्। ननु पौर्णमासप्रकृति[3]कत्वेन ब्रह्मासनस्य प्राप्तत्वादवाच्यम्। तत्र केचिदासनग्रहणं ब्रह्मणो निवृत्त्यर्थम्। अपूर्वत्वपक्षेऽप्यासनमात्रोपदेशादासनमात्रमेव। न ब्रह्मा। प्रत्यक्षोपवेशनस्यानुपदिष्टत्वात् क्वचिच्चोप[4]वेशनविधानाच्च। यथा। "चतुर्थ्यामपररात्रेऽभ्यन्तरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्येति[5]। तथा शालाकर्मणि[6] स्रस्तरारोहणे च। तेन यत्रोपवेशनं विहितं तत्रैव ब्रह्मा। अन्यत्र त्वासनमेव। न चासनमात्रे समाख्यानोपपद्यत इति वाच्यम्। केषुचित् कर्मसु तत्संबंधस्य दृष्टत्वा[7]द्दोषेष्वपि तत्संबंधो नास्ति तत्रापि तत्संबंधमादाय तदुपपत्तेः। यद्वा प्रकृतौ तत्संबंधस्य दृष्टत्वान्नानुपपत्तिरित्याहुः। तन्न। अदृष्टप्रसंगात्। नह्यदृष्टार्थ कश्चिदासनं परिकल्पयति। ब्रह्मासनमिति समाख्यानुपपत्तेश्च। संबंधनिमित्त[8]त्वात्समाख्यायाः। न चान्यक[9]र्मसंबंधेनेह समाख्योपपत्तिर्युक्ता। यत्तु क्वचिद् "दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्येति[10]" ब्रह्मण उपवेशनं तदन्यार्थ न

---

१ *कात्या०स्मृ०* २.२, पृ० ६०५

२ ज नास्ति स–मातृकायाम्।

३ कृ–स

४ ने–स

५ *पा०गृ०सू०* १.११.१

६ *पा०गृ०सू०* ३.४.५ "अभ्यन्तरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य स्थालीपाकं श्रपयित्वा....प्रविशामीति।"

७ द्दोष्वपि– ग, स (?)

८ त–स

९ त्त–स

१० ब्रह्माणमुपवेश्येति ब्रह्माणमुपवेश्येति–स। दक्षिणतो ब्रह्माणं प्रतिष्ठाप्य इति *शां०गृ०सू०* १.८.६

पुन[१]र्विधानार्थम्। कोऽन्योऽर्थ इति चेत्। संस्रवासेचनाधिकरणोदपात्र-स्थापनकालविधानार्थम्। [२]आज्यभागाविष्ट्वाज्येन देवताश्चतस्रो यजतीत्यादिवत्। तस्माद् ब्रह्मासनमास्तीर्य वरणाद्युपवे[३]शनान्तं कर्त्तव्यमित्यर्थः सिद्धो[४] भवति। एवमेव भर्तृयज्ञपादैः कर्काचार्यैश्च व्याख्यातम्।

यच्च पौर्णमासप्रकृतित्वेन प्राप्तत्वादवाच्यमित्युक्तं तदग्निस्थापना-व्यवहितोत्तरकालविधानार्थमित्यदोषः। तेनाग्न्यन्वाधानमांसमैथुनसंकल्प-केशश्मश्रु[५]वपनव्रतोपायनीया[६]शनव्रतग्रहणारण्यभोजनाग्न्यागाराधः - शयना-नामभावः। **शांखायनगृह्यसूत्रे** तु। अथ दर्शपूर्णमासा उपोष्येति[७] गार्ह्येऽपि श्रौतवदुपवासो विहितः। **छन्दोगगृह्यसूत्रे** च। [८]संध्यां पौर्णमासीमुपवसेदित्याद्युपवासधर्मानभिधायैवमेवाहिताग्नेरुपवसथो भवतीति श्रौते तदतिदेशः कृतः। अपरे त्वतिदेशप्राप्तप्रत्यक्षब्रह्मणोपवादपूर्वकमास्तरणे नोपलक्षितानामास्तरणसाधनीभूतानां कुशानां[९] चटुमिच्छन्ति। तदुक्तं **शांखायनगृह्य**भाष्यकारेण दक्षिणतो ब्रह्माणं प्रतिष्ठाप्य। भूर्भुवः [१०]स्वरित्यस्मिन्सूत्रे कुशमयोऽयं कुशानां प्रकृतत्वादिति। **तत्कारिकायाञ्च।**

कुशानां सन्निधेर्युक्तः प्रतिष्ठाप्येति लिङ्गतः।
अचेतने ब्रह्मशब्दः कुशमुष्टौ च वेदवत्।
कुशैः कुशाश्च पंचाशद्ग्रन्थिः स्यात्तेषु तंत्रतः।।

---

१ नवि–स

२ *का०श्रौ०सू०* ७.५.१४

३ येश–स

४ द्धी–स

५ 'श्रु' नास्ति स मातृकायाम्।

६ याय–स (यायशन)

७ *शा०गृ०सू०* १.३.१

८ *गो०गृ०सू०* १.५.२

९ नास्ति स– मातृकायाम्

१० *शां०गृ०सू०* १.८.६

अग्नेः पुरस्तादानीय [1]भूरिति स्थापयेत्स्तृते[2]।

पुष्पैरलंकृत इति। तन्न। परिक्रयद्रव्याम्नानवैयर्थ्यापत्तेः। श्रूयते हि पाकयज्ञे[3] पूर्णपात्रो दक्षिणा वरो वेति। दक्षिणाशब्दश्च परिक्रयार्थे द्रव्ये वर्त्तते। न च परिक्रीतव्यमंतरेण परिक्रयः संभवति। तस्मादरत्त्यन्यस्य कर्त्तृत्वम्। तच्च ब्रह्मणः। श्रुतत्वात्। नन्वध्वर्युः [4]कर्मसु वेदयोगादिति साधारणाऽध्यायेऽध्वर्योः कर्त्तृत्वविधानात्तस्यैवाऽस्तु तत्। सत्यम् यदि वेदयोगः स्यात् न ह्यत्र साक्षादेकतर[5]वेदविहितत्वम्। [6]नानाशाखागतनाना-प्रकरणस्थविप्रकीर्णश्रुतिमूलकत्वात्स्मार्त्तानाम्। युक्तं पुनः श्रौतेषु समाख्ययाध्वर्योः कर्त्तृत्वम्। यजुर्वेदेनाध्वर्यवमिति श्रुतेः। न च तथाऽत्र। तस्माद्वेदयोगाभावात्पाकयज्ञेष्वध्वर्योः कर्त्तृत्वन्नास्त्येव। किं तु यजमानस्यैव। ननु यद्यप्यत्र समाख्ययाध्वर्योः कर्त्तृत्वन्नास्ति तथाप्यतिदेश-प्राप्तान्यकर्त्तृत्वमस्त्येव। सत्यम्। प्रकृतावप्यन्यकर्त्तृत्वं[7] शेषमितरे यथाऽऽख्यमित्यधिकरणेन समाख्या सिद्धमेव। न चेह तत्प्रवृत्तिरित्युक्तमेव। तथा च **गोभिलसूत्रे**। पाकयज्ञेषु स्वयं होता भवतीति[8]। **शांखायनसूत्रे** च स्वयं ज्यायानिति[9]। अस्य भाष्यम्। वर्णत्रयस्य ज्यायान्ब्राह्मणः स स्वयं[10] कुर्यात्पाकयज्ञानितरयोर्वर्णयोः पुरोहितः कुर्यादिति। **तत्कारिकायाञ्च**।

---

१ धू–स

२ सूते- स

३ *का०श्रौ०सू०* ६.१०.३४

४ *का०श्रौ०सू०* १.८.२९

५ करवेद वितत्वम्–स

६ नाशाखा–स

७ *का०श्रौ०सू०* १.७.२२

८ *गो०गृ०सू०* १.६.६ पाकयज्ञेषु अल्पयज्ञेषु प्रशस्तयज्ञेषु वा .....तदिदं स्वयमेव होतृत्वं प्रशस्तम्। "स्वयं होमे फलं यत्तु तदन्येन न जायते। इति भाष्यकारः भट्टाचार्यः।

९ *शां०गृ०सू०* १.१.५ "प्रेते वा गृहपतौ स्वयं ज्यायान्" इति।

१० स्वनं–स

ज्यायानित्येवसिद्धे यत्स्वयमित्यपि सूत्रितम्
स्वयं गार्ह्येषु नर्त्विक्स्यादग्न्याधानादिकर्मसु।
पृथगर्थस्य लाभात्स्यात्सूत्रमत्र स्वयं त्विति
ज्यायान्विप्रः स्वयं कुर्यात्क्षत्रियादेः पुरोहितः।। इति

अतोऽध्वर्योरभावात्परिक्रेयद्रव्याऽन्यथानुपपत्त्या ब्रह्मासनमिति समाख्याऽन्यथानुपपत्त्या च पाकयज्ञेषु ब्रह्माऽस्त्येवेत्यवधार्यते। तदुक्तं **गोभिलगृह्ये**। ब्रह्मैवैकर्त्विक्पाकयज्ञेष्विति[1]। यत्तु **शांखायनगृह्यभाष्येषु** कुशचटोर्ब्रह्मात्वेन परिकल्पनं तत्तच्छाखापरम्। वस्तुतस्तु तत्सूत्रे कुशचटोरविधानाद्दक्षिणतो ब्रह्माणं प्रतिष्ठाप्येति साक्षाद्ब्रह्मोपवेशन-विधानाद्दिग्विधाने[2] परिक्रेयद्रव्याम्नानाच्च तेषामपि प्रत्यक्ष एव ब्रह्मा भवति। यत्त्वार्यचरणैश्छत्रोदपात्रोत्तरीयकुशचटूनामन्यतमस्य ब्रह्मासने स्थापनमुक्तं तत्प्रत्यक्षब्रह्माभावे तत्प्रतिनिधित्वेन वेदितव्यम्। तदुक्तं **गोभिलसूत्रे**।

अथ पूर्वाह्ण एव प्रातराहु[3]तीर्हुत्वाऽग्रेणाग्निं परिक्रम्य दक्षिणतोग्नेः प्रागग्रान्दर्भानास्तीर्येति याजमानमुक्त्वा तेषां पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठन्त्सव्यस्य पाणेरङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्या ब्रह्मसदनात्तृणमभिसंगृह्येत्यादि वाग्यमभ्रेषप्रायश्चित्तांतं ब्रह्मकर्मोक्त्वोक्तं यद्यु वोभयं चिकीर्षेद्धौत्र[4]ञ्चैव ब्रह्मत्वं चैवैतेनै[5]व कल्पेन छत्रं वोत्तरासंगं वोदकमण्डलुं वा दर्भचटुं वा ब्रह्मासने निधाय[6] तेनैव प्रत्याव्रज्यान्यच्चेष्टेदिति। तथा तत्रैव। [7]पूर्णपात्रो दक्षिणा तं ब्रह्मणे दद्यात्कंसं चमसं वाऽन्नस्य पूरयित्वा कृतस्य वाऽकृतस्य वापि वा

---

१ *गो०गृ०सू०* १.६.८
२ ०धग्विधाने– ग, दग्विधाने–स (?)
३ *गो०गृ०सू०* १.६.१३–१४, २१
४ द्धौत्रे
५ तेनैन– स
६ निधाय इति नास्ति स–मातृकायाम्
७ *गो०गृ०सू०* १.९.६-९

फलानामेवैतं पूर्णपात्रमित्याचक्षते ब्रह्मैवैकर्त्विक् पाकयज्ञेषु स्वयं होता भवतीति। तथा च कात्यायनप्रणीते[1] तत्प**रिशिष्ट** आधानप्रकरणे।

''जातस्य लक्षणं कृत्वा तं प्रणीय समिध्य च।

आधाय समिधं चैव ब्रह्माणं चोपवेशयेदिति।।

चशब्दः प्रथमाधाने[2] छत्रादिवैकल्पिकप्रतिनिधिप्रतिषेधार्थमिति तद्भाष्ये। तथा तत्रैव[3]। ''ब्रह्मणे दक्षिणा देया या यत्र परिकीर्त्तितेति।'' प्रवासादिना यजमानस्य कर्मकरणाशक्तौ तत्प्रतिनिधित्वेन ऋत्विजः कर्मकर्त्तृत्वे तस्य दक्षिणार्द्धभाक्त्वं[4] तत्रैवोक्तम्। विदध्याद्धौत्रमन्यश्चेद्दक्षिणार्द्धहरो भवेदि[5]ति। प्रवासे चोपस्थिते पाकयज्ञार्थं स्वप्रतिनिधित्वेनर्त्विक्परिकल्पनमपि तत्रैवोक्तम्।

निःक्षिप्याग्निं स्वदारेषु परिकल्प्य च ऋत्विजम्।

प्रवसेत्कार्यवान्विप्रो मृषैव न चिरं क्वचित्[6]। इति।।

तथा ब्रह्मणोऽभावे छत्रादिप्रतिनिध्याश्रयणेन स्वयं ब्रह्मत्वकरणे दक्षिणादाने विशेषश्च तत्रैव। ''स्वयं चेदुभयं कुर्यादन्यस्मै प्रतिपादयेदि''ति[7]। यदा ब्रह्मणोऽभावे तत्प्रतिनिधित्वेन कुशचटुरुपादीयते तदा कुशसंख्या तदाकारनियमश्च **गृह्यासंग्रहपरिशिष्टे**।

कतिभिस्तु कुशैर्ब्रह्मा कतिभिर्विष्टरो मतः।

पंचाशद्भिः कुशैर्ब्रह्मा तदर्द्धेन तु विष्टरः।

दक्षिणावर्त्तको ब्रह्मा वामावर्त्तस्तु विष्टरः।

ऊर्ध्वकेशो भवेद्ब्रह्मा अधः केशस्तु विष्टरः। इति

---

१ *कात्या०स्मृ०* ८.६, धर्मशास्त्रसङ्ग्रहे। पृ० ६१२

२ त्रे. स.

३ *कात्या०स्मृ०* १५.१, पृ० ६२१ ब्रह्मणो इत्यपि पाठः।

४ त्कं– स

५ *कात्या०स्मृ०* १५.३ (३ख)

६ *कात्या०स्मृ०* १६.१ वृथैव इत्यपि पाठः।

७ *कात्या०स्मृ०* १५.३ (ख)

अत्र कुशशब्देन साग्राणि कुशपत्राणीति हेमाद्रिः। यत्तु–

यज्ञे वास्तुनि मुष्टौ च स्तम्बे दर्भचटौ[१] तथा।

दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणेषु च॥

चेति [२]तदसंभवे[३] द्रष्टव्यम्।

।।श्रीः ।। प्रणीय (१-१-२) ।।

अप इति शेषः। दृष्टं हि प्रकृतावपां प्रणयनम्। तच्च प्रस्थोदकग्राहिवारण-काष्ठनिर्मितं समचतुरश्रं चमसं सव्यहस्तेनादाय दक्षिणेन मणिकोदकेन तदभावे शुद्धोदकेनापूर्याग्नेरुत्तरतो निधायाप आलभ्या[४]वलोकनपूर्वकं संज्ञया ब्रह्मणोऽनुज्ञां प्रार्थयित्वा ब्रह्मणाप्येवमेवानुज्ञायां दत्तायां तस्माद्देशात्पूर्वतोऽ[५]ग्नेरुत्तरत एव कुशे[६]ष्वनतिदूरेऽनतिसमीपे प्रणीय निधायेत्यर्थः। "पात्रस्यैवालम्भो नोदकस्येति कर्कोपाध्यायाः। उदकस्यालम्भनमिति देवयाज्ञिकाः। उभयोरालम्भ इत्यपरे। एतच्चापां प्रणयनमदृष्टार्थमित्यार्यचरणाः। दृष्टार्थमिति कर्कोपाध्यायाः। न च प्रकृतिप्राप्तत्वात्प्रणीयेत्यवाच्यमिति वाच्यम्। एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम इत्यनेनाराद[७]पकार[८]काणां परिसंख्यातत्वात्। सन्निपत्योपकारकपक्षेऽपि प्रकृतौ ता उत्सिच्योत्तरेण गार्हपत्यꣳसादयति। तस्मादु संप्रत्ये[९]वोत्तरेणाहवनीयं प्रणयतीति[१०] गार्हपत्याहवनीययोरुत्तरदेशसंबंधात्प्रणयनस्य च

---

१ रौ-स

२ न- स

३ वे नास्ति स - मातृकायाम्

४ वा-स

५ तागनै - स

६ शै- स

७ रायदु - स

८ रका नास्ति - स

९ प्रदेवो - स

१० 'ति' नास्ति - स

प्रकृष्टनयनवाच्यत्वादिह च तदभावात्प्रणयनाभावे प्राप्त इदमुच्यते। किं च। ब्रह्मोपवेशनप्रणीता-प्रणयनमध्यपतितव्रतग्रहणस्य परिसंख्यार्थं च। तेन स्मार्त्ते व्रतग्रहणाभावः।

।।श्रीः ।। परिस्तीर्य (१-१-२) ।।

अग्निमितिशेषः। दृष्टं हि प्रकृतौ होमसंबंधस्याग्नेः परिस्तरणम्। तच्च प्रथमं पुरस्तादुदगग्रैर्द्दक्षिणतः प्रागग्रैः पश्चादुदगग्रैरुत्तरतः प्रागग्रैः कुशैः कर्त्तव्यम्। अत्र यद्यपि प्रकृतौ श्रुतौ[1] सूत्रे चाऽथ तृणैः परिस्तृणाति। [2]तृणैरग्नीन्परिस्तीर्येति तृणशब्द उपात्तस्तथापि दर्भविषयो ज्ञेयः। यज्ञिया उ वै दर्भा इति लिंगात्। दर्भैस्तृणंति हरितैस्सुवर्णैरिति च। समाचाराच्च। समाचरन्ति हि दर्भैः परिस्तरणम्। आचार्याभिप्रायाच्च। बर्हिषस्स्तृणे तिरश्ची निदधाति सवितुरित्युक्त्वाऽन्ये वा युक्तत्वादित्यभिधायाहाऽन्यत्रापि तृणार्थ इत्यन्यदुपादीयं बर्हिर्जातीयमेव प्रतीयते न तृणांतरजातीयम्। तथा च **छन्दोगसूत्रे**[3]**।** कुशैः समंतात्परिस्तृणुयात्पुरस्ता[4]द्दक्षिणतः पश्चादुत्तरत[5]श्चेति। **आपस्तम्बसूत्रे**ऽपि[6] [7]उदगग्रैः प्रागग्रैश्च दर्भैः परिस्तृणाति उदगग्रैः पुरस्तात्पश्चाच्चेति। पुरस्ता[8]त्प्रथममित्युक्तत्वात्प्रथममित्युक्तम्। दिग्विशेषतोऽग्रनियमश्चा**पस्तंबसूत्रात्**। प्रादक्षिण्यं त्वावृत्तिसा[9]मन्तेषु

१　सू - स

२　*का०श्रौ०सू०* २.३.६

३　*गो०गृ०सू०* १.७.९ ''अग्निमुपसमाधाय कुशैः समन्तं परिस्तृणुयात्; पुरस्ताद्दक्षिणत उत्तरतः पश्चादिति इति।पाठभेदः।

४　द - स

५　म - स

६　*आपस्तम्बगृह्यसूत्रम्* श्रीचिन्नस्वामिशास्त्रिणा सम्पादितम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९७१

७　अग्निमिध्वा प्रागग्रैदर्भैरग्निं परिस्तृणाति। प्रागुदग्रैर्वा *आप.गृ.सू.* १.१२.१३

८　प्रथममित्युक्तत्वात् नास्ति -स

९　*का०श्रौ०सू०* १.७.२५, सामन्तशब्देन परिस्तरणपर्युक्षणादि क़र्म उच्यते। समन्ततो भवं सामन्तम् इति।

प्रदक्षिणमित्युक्तेः। अत्र प्रादक्षिण्येन परिस्तरणानंतरं तथैवाऽप्रदक्षिणं हस्तानयनं कार्यम्। [1]विवृत्त्यावृत्त्य वेतरथावृत्तिरित्युक्तेः। अतएवार्यचरणप्रभृतिभिः पर्युक्षणपर्यग्निकरणादौ पुनर्हस्तस्य तथैवानयनं लिखितम्। अत्रैष[2] एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम इत्यनेना[3]रादुपकारकांणामेव परिसंख्यातत्वात्सन्निपत्योपकारकाणां तु प्रकृतिप्राप्तत्वाद्यत्परिस्तीर्येत्युच्यते तदितर[4]दृष्टाऽदृष्टाग्निसंस्कारककर्मव्यावृत्त्यर्थम्[5]। तेन कल्पनपरिधिपरिधानस्पृश्याऽस्पृश्यसमिदाधानावेक्षणस[6]म्मार्जनोपवाज[7]ना-नामभावः।

।।श्रीः।। अर्थवदासाद्य (१-१-२) ।।

अर्थः प्रयोजनं कार्यमिति यावत्। सोऽस्ति यस्य तदर्थवत्। प्रयोजनवत्पात्र-जातमासाद्येत्यर्थः। तच्चाग्नेः पश्चादुत्तरतो वा परिसमुह्य गोमयेनालिप्य तत्र प्रागग्रानुदगग्रान्वा कुशानास्तीर्य तत्र यथासंभवं प्राक्संस्थानि प्रागग्राणि प्रागग्राण्युदक्संस्थान्युदगग्राण्युदकसंस्थान्युदगग्राणि प्राक्संस्थानि वा यथासंभव[8]मुष्णोदकप्रक्षालितान्यधो विलानि विनियोगक्रमेण द्विशः सादनीयानि संस्थानियमश्च [9]प्रांच्युदञ्चि च कर्माणीत्युक्तत्वात्। देशनियमश्च श्रपणस्य पश्चादुत्तरतो वेत्युक्तेः। तथा च **परिशिष्टे** कात्यायनः।

---

१ *का०श्रौ०सू०* १.८.२४ विवर्त्तनमप्रदक्षिणम्। आवर्त्तनं प्रदक्षिणम्। एते शास्त्रतः कृत्वा इतरथावृत्तिः कार्या इति कर्काचार्याः।

२ व - स

३ रायदु० - स

४ दर - स

५ र्थे - स

६ संम्मा - स

७ जु - स।

८ य - स

९ *का०श्रौ०सू०* १.७.२४; २.३.९

प्राञ्चं प्राञ्चमुदगग्नेरुदगग्रं समीपतः।

तत्तथा सादयेद्द्रव्यं यद्यथा विनियुज्यते।।

इति। परिसंख्यानं[१] **परिशिष्टे।**

शांखायनगृह्यकारिकायाञ्च।

आसादनार्थं पात्राणां प्रागग्राणां स्तृणात्युदक्।

आसादनं तथास्तीर्णे कार्यं कर्मणि सर्वतः।।

इति न्युब्जानां सादनं यत्तु [२]**आपस्तम्बा**दिसूत्रतः। उत्तानानि पात्राणि पर्यावृत्त्य शुन्धध्वं दैव्याय कर्मण इति त्रिः पात्राणि प्रोक्षतीति[३] प्रोक्षणे उत्तानकरणदर्शनाच्च। उष्णोदकेन प्रक्षालनं[४] त्वा[५]**थर्वणपरिशिष्टात्।** अतएव भर्तृयज्ञचरणैः स्रुवं[६] प्रतप्य संमृज्येति सूत्रे उष्णेन[७] वारिणा कृतशौचानामेव यज्ञपात्राणामुपकल्पनस्मरणाच्छुद्धस्यैव स्रुवस्यादृष्टार्थं सम्मार्गादिविधानमित्युक्तम्। पात्रपदं यज्ञनिर्वर्त्तकानां स्फ्यादीनामुपलक्षकमिति माधवाचार्याः। पात्रासादनस्य प्रकृतिप्राप्तत्वादर्थवदासाद्येति पुनर्ग्रहणं दशगणव्युदासार्थम्। ततश्च तत्संबंधकर्मनिवृत्तिः[८] सूचिता भवति। तेन स्थालीपाके सिद्धानामेव तंडुलानां ग्रहणम्। पुरोडाशे च पिष्टानां ग्रहणं तु प्रवर्तत एव। स्थालीपाके चैवमिति ग्रहणे देवताभिधानविधानसामर्थ्यात्। तच्च स्थाल्यादौ। ग्रहणार्थमौषधकरणमनस्येव। निर्वापस्य विहितत्वात्। लेखाकरणोपग्रहणादौ च स्फ्यस्य कर्मसंबंधदर्शनात् स्फ्योपहितौषधिकरणार्थं स्फ्यासादनं प्रवर्त्तत एवेत्यन्ये। अतएवार्यचरणैः

---

१ न - ग, स

२ *आप०श्रौ०सू० ११.९.१०*

३ णीति- स

४ नीं- स

५ वाथर्वण - स। त् नास्ति।

६ यं - स

७ णोन - ग, स

८ णिवृ - स

स्फ्यासादनमभिहितम्[1]। तथा स्फ्योपहितमौषधिकरणमिति। पुरोडाशस्य कपाले श्रपणन्न भवति। ध्रौवस्य तु वचनात्। वेदेर्मार्निं[2] परिसमूहनं खननं च प्रवर्त्तत एव। इतरस्य तु स्फ्यसंबंधत्वान्निवृत्तिः।

।। श्रीः ।। पवित्रे कृत्वा ।।

तत्करणं च प्रकृतौ यथोक्तम्। कुशौ समावप्रशीर्णाग्रावनंतर्गर्भौ [3]कुशैश्छिनत्तीति। द्वौ[4] कुशौ त्रिभिः कुशैः करणभूतै[5]श्छिनत्ति मूलछेदनेन प्रादेशप्रमाणौ समौ करोतीत्यर्थः। कुशशब्देनैकं तृणमिहाभिधीयते न तु[6] सप्तशाखः। तेन कुशौ द्वे दर्भतृणे इत्यर्थः। कीदृशौ। समौ मूलादारभ्याग्रपर्यतं छेदनेन तुल्यप्रमाणौ। तथा अप्रशीर्णाग्रौ अत्रुटिताग्रौ। अत्र प्रशब्दोपादानादीषदग्रनाशे दोषाभाव इति केचित्। अनंतर्गर्भौ। न विद्यतेऽन्तर्गर्भौ ययोस्तौ। गर्भे सति संख्यांतरं स्यात्। तथा च **छन्दोगपरिशिष्टे**[7] कात्यायनः।

अनंतर्गर्भिणं साग्रं कौशं [8]द्विदलमेव च।

प्रादेशमात्रं तु विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्रचित्।। इति

एकदलशब्देन मध्ये भिन्नमुच्यते तथा न कुर्यात्। किन्तु दलद्वयसहितं गृह्णीयादित्यर्थ इत्याशार्कः। **यज्ञपार्श्वे**[9] च।

---

१ मग्नि मितम् - स

२ वेदे मनिं - स

३ *का.श्रौ.सू.* २.३.३० नुशै - स

४ हौ - स

५ भूमै - स

६ च - स

७ *का. स्मृ.* २.१०

८ हिद. - स

९ *स्मार्तोल्लासेऽपि,* पृ. ४४

समित्पवित्रं वेदञ्च मुसलोलूखलग्रहान्

नाभ्युखाऽऽसंद्युपरवाञ्छम्या स्रुक्पुष्कराणि च।

शाखा[1] स्वरुविषाणानि चरूणां मोक्षणानि च।

कुर्यात्प्रादेशमात्राणि महावीरास्त्रयस्तथा। इति

शांखायनगृह्येऽपि ।

कुशतरुणे अविषमे अविच्छिन्नाग्रे अनन्तर्गर्भि[2] प्रादेशेन मापयित्वा कुशेन छिनत्तीति[3]। अविषमे समे छेदनेन समप्रमाणे कार्ये[4] इत्यर्थः। **तैत्तिरीये** च। बर्हिषः पवित्रे कुरुते प्रादेशमात्रे समे अछिन्नप्रांते इति। **आपस्तम्बसूत्रे**[5] च। समावप्रच्छिन्नाग्रौ प्रादेशमात्रौ पवित्रे कुरुते। तृणं काष्ठं वान्तर्द्धाय छिनत्ति न नखेनेति। **यज्ञपार्श्वेऽपि**[6]।

कुर्यात्प्रादेशमात्रं तु पवित्रं विष्णुदैवतम्।

न नखेन न काष्ठेन नायसेन न मृन्मये।।

नखेन तु भवेद् व्याधिः[7] काष्ठेनार्थो न सिध्यति।

आयसेन भवेन्मृत्युर्मृन्मये कलहो ध्रुवम्।। इति

छेदनप्रकारोऽपि तत्रैव –

---

१ शास- ग, शाप्तख- स

२ र्भै - स

३ *शा.गृ.सू.* १.८.१४

४ ये - स

५ *आप.श्रौ.सू.* ११.७.१०८-१०९ पवित्रे स्थो वैष्णवी वायुर्वा मनसा पुनातु इति तृणमिति।

६ पार्थपि - स

७ द्या - स

ओषधीरन्तरं कृत्वा चांगुष्ठां[१]गुलिपर्वसु।

छिंद्यात्पवित्राणि मखे ह्येवं धर्मो न लुप्यते। इति

तथा।

"समित्पवित्रं वेदश्च त्रयं प्रादेशसंमितम्।" इति

प्रकृतिप्राप्तस्य पुनर्विधानं पाक्षिकतृतीयव्युदासार्थम्[२]। [३]हविर्ग्रहण्यामपः कृत्वेत्यत्राऽग्निहोत्रहवण्यां चतुरो मुष्टीन्निर्वपतीत्यने[४]नाऽग्निहोत्रहवण्या विवक्षितत्वात्प्रोक्षणीसंस्कारस्य तत्साध्यत्वात्तस्याश्चाऽत्राऽभावात्प्रोक्षणीसंस्काराऽभावे प्राप्त आह।

।।श्रीः।। प्रोक्षणीः संस्कृत्य ।।

अग्निहोत्रहवण्यभावेऽपि [५]कस्मिंश्चित्पात्रे मणिकोदकं लौकिकं वा शुद्धमुदकं प्रपूर्य पूर्वन्नि[६]ष्पादितयोः पवित्रयोर्मूले दक्षिणांगुष्ठोपकनिष्ठिकाभ्यां परिगृह्य तदग्रे च सव्यांगुष्ठोपकनिष्ठिकाभ्यां परिगृह्योत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां नम्रीकृततन्मध्यभागेन प्रोक्षण्युदकं[७] प्राञ्चमुत्क्षिप्यते। पवित्रे दक्षिणेन प्रोक्षणीषु निधाय सपात्राः प्रोक्षणीः सव्यहस्ते निधाय सव्यहस्तस्था एव सपात्राः प्रोक्षणीर्दक्षिणेनोद्धृह्य तदेकदेशेन तासां प्रोक्षणमिति प्रोक्षणीसंस्कारः। अत्रार्यचरणाः। प्रोक्षणीपात्रे लौकिकोदकमासिच्य[८] दक्षिणानामिकयांगुष्ठेन च पवित्रयोर्मूले गृहीत्वा सव्येन चाग्रं मध्येनोत्पवनं प्राञ्चमिति। कर्काचार्याणां मते तु

---

१ चांगुलि - स (गुष्ठां नास्ति)

२ र्थे - स

३ *का.श्रौ.सू.* २.३.३२

४ मेना - स

५ कस्मिंश्चित् - स

६ ० निष्पादि- स

७ ० क्षणीदकं - स

८ ० मामिच्य - स

प्रणीतानां[१] सर्वार्थत्वात्तत एव प्रोक्षण्यर्थमपादानम्। **आश्वलायनगृह्ये**[२] च। पवित्राभ्यामाज्यस्योत्पवनम्[३]। अप्रच्छिन्नाग्रावनन्तर्गर्भौ [४]प्रादेशमात्रौ कुशौ नानान्तयोर्गृहीत्वाङ्गुष्ठोपकनिष्ठिकाभ्यामुत्तानाभ्यां पाणिभ्यां [५]सवितुस्त्वेति प्राङुत्पुनाति सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीमिति[६]। [७]**शांखायनगृह्ये च।** उदगग्रे पवित्रे धारयन्नङ्गुष्ठाभ्यां चोपकनिष्ठिकाभ्यां चोभयतः प्रतिगृह्योर्ध्वाग्रे प्रह्वे[८] कृत्वाऽऽज्ये [९]प्रत्यवस्यति। सवितुष्ट्वेत्याज्योत्पवनं विधाय स्रुवे चापः सवितुर्व इति प्रोक्षण्युत्पवनमभिहितम्। **छंदोगसूत्रे**[१०] च। उत्पुनात्युदगग्राभ्यां पवित्राभ्याम्[११]। अङ्गुष्ठाभ्याञ्चोपकनिष्ठिकाभ्याञ्चाङ्गुलिभ्यामभिसंगृह्य प्राक्शस्त्रिरुत्पुनाति [१२]सवितुर्व इति सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीमिति[१३]। अत्र देवभाष्ये च सोदकामे[१४]नाग्निहोत्रहवणीं सव्ये[१५] निधाय ततो देवीराप इति मन्त्रान्ते दक्षिणेन पाणिनोदिङ्गयत्यूर्ध्वान्नयति

---

१ प्रणीतानं - स

२ *आश्वलायनगृह्यसूत्रम्* (*आ. ग. सू.*), के.पी. ऐथलमहोदयेन सम्पादितं देवस्वामिभाष्यसहितम्। आडयार, चेन्नई (सीरीज़ १११), १९८०

३ *आ०गृ०सू०* १.३.२

४ ० मादेश - स

५ 'सवितुष्ट्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' इति प्रागुत्पुनातीति।

६ *आ०गृ०सू०* १.३.३

७ *शांखायनगृह्यसूत्रम्* (*शां०गृ०सू०*), एस.आर. सहगलमहोदयेन सम्पादितम्, मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली, १९६०

८ प्रज्ञे - स

९ प्रत्यस्यति - स। *शां०गृ०सू०* १.८.२१

१० *गृह्यसूत्रम्* गोभिलप्रणीतम् (*गो०गृ०सू०*) श्री चन्द्रकान्ततर्कालङ्कारभट्टाचार्यकृतभाष्यसहितम्, श्रीलश्री, कोलिकाता, शक १८३०

११ *गो०गृ०सू०* ०१.७.२४

१२ ''देवस्त्वा सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिरिति सकृद् यजुषा०।''

१३ *गो०गृ०सू०* १.७.२५

१४ ०कामेवा - स

१५ सव्ये कृत्वा दक्षिणेनोदिङ्गयति। देवीराप इति *का०श्रौ०सू०* २.३.३४

सव्यहस्तस्थामेवाग्निहोत्रहवणीं दक्षिणेनोर्ध्वामुद्वहणातीत्यर्थः। तासां प्रोक्षणमिति[१] सूत्रे कर्कभाष्ये ताभ्य एवाद्भ्य एकदेशेनेति सम्प्रदायः। नेत्यपरे। स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। न हि प्रोक्षणे[२] तासां संस्कार्यता संस्कारकता च संभवति। अन्याश्च[३] संस्कारकत्वेनोद्दिश्यन्ते। तस्मान्मंत्रोच्चारणमेव च। "तदेताभ्यो निह्नुत इति च लिङ्गात्"।

अत्र पुनस्तासां प्रोक्षणमित्यसमञ्जसं स्यात्। हविश्चेति प्रोक्षणक्रियानुकर्षणार्थं[४] च- शब्दानुपपत्तिश्च। तस्मात्संप्रदायमतमेव[५] ज्यायान्। अथ ताभिरेव प्रोक्षणं विरुध्यते[६] ततः प्राणीतेन भविष्यति। निह्नवश्चार्थवादप्राय" इति। अत्र भाष्ये अथ ताभिरित्याद्यभ्युपेत्यवादः। वस्तुतस्तु ताभिरेव। न प्राणीतेन। ताभ्यामेताः[७] प्रोक्षणीरुत्पूय ताभिः प्रोक्षतीति सर्वप्रोक्षणशेषत्वात्। अत्र माधवाचार्याः। 'तदेताभ्य' इति। यद्यपि प्रोक्षणीनामपां स्वातिरिक्तेन जलेन शुद्ध्यर्थं प्रोक्षणं नास्ति तथापि 'प्रोक्षिताः स्थ स्वात्मनैव प्रोक्षिता भवथेति मंत्रेण प्रतिपादनात्प्रोक्षणत्वसिद्धेस्तत्तेन[८] मंत्रपाठेनाप्रोक्षणजनितमपराधमेताभ्यः प्रोक्षणीभ्यो निह्नुते अपनयति। प्रोक्षणीगतोदकेनैव तत्पात्रगतमुदकमनेन मंत्रेण प्रोक्षितव्यमिति तात्पर्यार्थः। अतएवोक्तं सूत्रकृता प्रोक्षिता स्थेति तासां प्रोक्षणमिति। [९]तैत्तिरीयकश्रुतिस्त्वेतन्मंत्रपठनमेवासां प्रोक्षणम्मेने। यदाह। [१०]प्रोक्षिताः स्थेत्याह तेनापः प्रोक्षिता इतीति। यत्तु स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्यादितदज्ञान-विलासत्वादुपेक्षणीयम्। गात्रालम्भनादौ तथा दर्शनात्। अतएव देवभाष्ये प्रोक्षिताः स्थेत्यनेन मंत्रेण तासामेवाग्निहोत्रहवणीस्थानामपामेकदेशेन तासामेवापां प्रोक्षणं

---

१ "प्रोक्षितास्थेति तासां प्रोक्षणम्" *का०श्रौ०सू०* २.३.३५

२ "न हि प्रोक्षणे कर्मता करणता च तासां सम्भवतीति। अन्याश्च नोपदिश्यन्ते" इतिपाठः कर्कभाष्ये (२.३.३५)

३ अन्यांश्च - स

४ ०कर्षण्यार्थं - स, *का०श्रौ०सू०* २.३.३६

५ कर्कभाष्ये 'मत' इति नास्ति।

६ निरु० - स

७ ताभ्यामोताः - स

८ ततेन० - स

९ *तैत्रियक०* – ग, स।

१० प्रोक्षितस्थे० - स। *तै०सं०* १.१.५.१

कुर्यात्। नन्वेवं स्वात्मनि क्रिया [१]विरुध्यते। नैष दोषः। एकदेशेनैवैकदेशस्य प्रोक्षणोपपत्तेः। अथोच्येत नैकदेशः एताः शब्देन ताभिः[२] शब्देन चोच्यत इति। ताभ्यामेताः प्रोक्षणीरुत्पूय ताभिः प्रोक्षतीत्यत्र। तदपि न किञ्चित्। त्वयापि ह्येकदेशेनैव हविषः प्रोक्षणमिष्यते पात्राणाञ्च। इतरथात्वेकस्मिन्नेव हविषि सर्वासु प्रोक्षणीषूपयुक्तासु हविरन्तरायपात्रेभ्य इध्माद्यर्थं चान्या उत्पाद्येरन्। न चैतत्तवापीष्टम्। तस्मादेकदेशेनैवेतीत्युक्तम्[३]। अतश्च यत्कर्काश्रितपद्धतिकारैः कर्काशयाऽनभिज्ञैः प्राणीतेन प्रोक्षणमभिमतं[४] तद्भ्रान्तप्रलपितत्वादुपेक्षणीयम्।

।।श्रीः।। अर्थवत्प्रोक्ष्य ।।

अर्थवत्प्रयोजनवत्पात्रजातं कुटीकृत्य सहैव प्रोक्ष्य। यद्यपि प्रकृतौ मंत्रगतबहुवचनानुग्रहार्थं सर्वेषां पात्राणां सहैव प्रोक्षणम् न चेह मंत्रेण सह प्रोक्षणं प्रकाश्यते तथापि प्रकृत्यनुग्रहार्थं सहैव प्रोक्षणमिति युक्ततरम्। श्रौतदर्वीहोमेऽपि तथैवानुष्ठानदर्शनात्[५]। कर्काचार्यमते तु[६] सर्वत्रापि प्रतिपात्रं प्रोक्षणम्। पात्रप्रोक्षणं चोत्तानानि[७] कृत्वैव। तदुक्तमापस्तम्बेन। उत्तानानि[८] पात्राणि पर्यावृत्य 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मण' इति। त्रिः पात्राणि प्रोक्षतीति। प्रकृतिप्राप्तस्यापि पात्रप्रोक्षणस्य पुनरभिधानमेतदिति कर्त्तव्यताकलापस्थाज्यतंत्रप्राधान्यप्रज्ञप्त्यर्थम्[९]। ज्ञापयति सूत्रकारो निरुप्याज्यमधिश्रित्येत्यादि। आज्यमुद्वास्येति च। अतएवाऽर्थवदासाद्येत्यासादनमभिधाय पवित्रे कृत्वेति पवित्रकरणादाम्नातम्[१०]। उक्तञ्च भर्तृयज्ञचरणैः। आज्यसंबंध एष होमविधिरुपदिष्टः। तेनान्यद्रव्यके एष

---

१ विध्यते - स

२ ताभिः शब्देन इति पाठो नास्ति स- मातृकायाम्

३ नैवेत्युक्तम् - स

४ अभिमतं च - स

५ अनुष्ठानं - स

६ तु नास्ति स- मातृकायाम्

७ चोत्तानि - स

८ उत्तानि - स। *आप.श्रौ.सू.* ११.९.११०

९ प्रज्ञस्यर्थम् - स

१० करणाद्यानम् - स

होमविधिर्न प्राप्नोतीत्यत आह एष एवेतीति। तेन स्थालीपाके चैवमित्यत्र स्थालीपाके प्राकृतग्रहणप्रोक्षणोद्देशेन देवतादेशस्य विधानात्तत्प्रोक्षणं प्रकृतिवत्प्रवर्त्तत एव। ग्रहणं च ग्रहणकाले। विशेषस्तु[1] स्रुवं प्रतप्येत्यादि सूत्रे वक्ष्यते।

।।श्रीः।। निरुप्याज्यम् ।।

पात्रान्तरे आसादितमाज्यं स्थाल्यां प्रक्षिप्य। तच्च गव्यमेव। घृतमाज्ये लिंगादित्युक्तेः। **स्मृत्यर्थसारे** तु विशेषः।

हव्यार्थे गोघृतं ग्राह्यं तदलाभे नु माहिषम्।
आजं वा तदलाभे तु साक्षात्तैलं[2] ग्रहीष्यते।
तैला[3]भावे ग्रहीतव्यं तैलं जर्त्तिलसंभवम्[4]।
पिष्टमालोड्य यत्नेन घृतार्थे योजयेत्सुधीः
वृक्षतैलेषु पुन्नागनिंबैरंडोद्भवं त्यजेत्।
येषां केषांचिदन्येषां हविषामप्यसंभवे।
सर्वत्राज्यमुपादेयं भरद्वाजमतादिति।

मैत्रायणीयपरिशिष्टे च। घृतमन्यार्थे प्रतिनिधिस्तदलाभे पयो वेति। **छन्दोगसूत्रे**[5]। आज्यं संस्कुरुते। सर्पिस्तैलं दधि पयो यवागूं वेति[6]।

---

१ विशेषस्तत् -स

२ साक्षोनुं– स

३ तैवाभावे– स

४ सम्भवन्ति– स

५ *गो०गृ०सू०* १.७.१६

६ *गो०गृ०सू०* १.७.२० 'सर्पिस्' इति नास्ति ग–स मातृकयोः।

एतदाज्याभावे उत्तरोत्तरं प्रतिनिधिनियमः[१]। आज्यस्थालीलक्षणन्तु **छन्दोगपरिशिष्टे**[२] कात्यायनेनाभिहितम्।

आज्यस्थाली च कर्त्तव्या तैजसद्रव्यसम्भवा।
महीमयी वा कर्त्तव्या सर्वास्वाज्याहुतीषु च।
आज्यस्थाल्याः प्रमाणन्तु यथाकामन्तु कारयेत्।
सुदृढामव्रणां भद्रामाज्यस्थालीं प्रचक्षते। इति

चरुस्थालीलक्षणमपि तत्रैव।

तिर्य[३]गूर्ध्वं समिन्मात्रा दृढा नातिबृहन्मुखी।
मृन्मय्यौदुम्बरी वाऽपि चरुस्थाली प्रशस्यते। इति।

समिन्मात्रा प्रादेशमात्रा। औदुम्बरी ताम्रमयी। प्रकृतिप्राप्तस्य पुनर्विधानं तत्संयुक्तवेदनिवृत्त्यर्थम्।।

।।श्रीः।। अधिश्रित्य ।।

तदा[४]ज्यमग्नावधिश्रित्य स्थापयित्वा। प्रकृतिप्राप्तस्य पुनर्विधानं चरुसद्भावे[५]ऽपि यौ[६]गपद्यव्यावृत्त्यर्थम्। संभवति ह्यत्र ब्रह्मणो विद्यमान[७]त्वात्। प्रकृतौ श्रुतौ[८] पुरोडाशं प्रकृत्य तं पर्य[९]ग्निं करोतीति पुरोडाशस्यैव

---

१ प्रतिनिधियमः– स
घृतं वा यदि तैलं पयो वा यदि यावकम्।
आज्यस्थाने नियुक्तानामाज्यशब्दो विधीयते। इति *गृह्यासंग्रहे*।

२ *कात्या.स्मृ.* १५.१०-११

३ तिर्ययू– स। *कात्या.स्मृ.* १५.१२

४ तज्य- स ('दा' नास्ति)

५ ० सम्द्रावेऽपि – स

६ मौग० – स

७ ०त्यात् – स

८ श्रुतौ नास्ति स- मातृकायाम्।

९ पयाग्निं – स

पर्यग्निकरणविधानात्सूत्रकारेण तु शाखान्तरात्सहाज्यमित्याज्यस्याऽप्रधानत्वे-नाम्नानादेतस्याज्यतन्त्रत्वात्केवले आज्ये पर्यग्निकरणाप्रवृत्तिशंकायामाह[1] ।

।।श्रीः।। **पर्यग्नि कुर्यात्** ।।

परितोऽग्निर्यस्य तत्पर्यग्नि। एतदाज्यं परितोऽग्निमत्कुर्यादग्न्युल्मुकं परि समन्तात्प्रदक्षिणं भ्रमयेदित्यर्थः। आवृत्तिसामन्तेषु प्रदक्षिण[2]मित्युक्तेः प्रदक्षिणम्। पर्यग्निकरणोत्तरं तथैवाऽप्रदक्षिणं हस्तस्य पर्यावर्त्तनं कार्यम्। वि[3]वृत्त्यावृत्त्य वेतरथावृत्ति[4]रित्युक्तेः। अनन्तरमपामुपस्पर्शनमपि कार्यम्। रौद्रꣳ राक्षस[5]मिति सूत्रगत-च-शब्दस्य चकारात्कर्म च कृत्वेति सर्वैर्व्याकृततत्वात्[6]। अत्र वाक्यपरिसमापनं संभवद्वेदि[7]संस्कारप्रज्ञप्त्यर्थम्। अतएवार्यचरणैर्वेदिप्रोक्षणं बर्हिः प्रोक्षणमित्यभिहितम्। न चाभाविता वेदिर्भवति। सन्निपत्योपकारकत्वाच्च। तेन मानम्। परिसमूहनम्। उत्करकरणं प्रवर्त्तत एव। अन्येषां तु[8] स्फ्यसाध्यत्वान्निवृत्तिरित्युक्तं प्राक्। खननं केचिदिंच्छन्ति। नेत्यन्ये। न हि खनितेऽसमीकृते विषमप्रदेशे आज्यादेः सादनं कर्त्तुं शक्यते। न चानुमार्जनप्रवृत्तिः। समीकरणापरपर्यायस्यानुमार्जनस्य स्फ्यसम्बन्धत्वेन परिसंख्यातत्वात्।

---

१ हः – स

२ *का०श्रौ०सू०* १.७.२५

३ निवृत्त्या० – स

४ *का.श्रौ.सू.* १.८.२४ विवर्त्तनमप्रदक्षिणम् आवर्त्तनं प्रदक्षिणम्। एते शास्त्रतः कृत्वा इतरथावृत्तिः कार्या इति कर्कः।

५ रौद्रꣳराक्षसमासुरमाभिचरणिकं मन्त्रमुक्त्वा पित्र्यमात्मानं चालभ्योपस्पृशेदप उपस्पृशेदपः। (*का०श्रौ०सू०* १.१०.१४)

६ ० त्यात् – स

७ ० द्वेदि – स

८ प्रतु – स (प्र अधिकम्)

आर्यचरणसम्मतश्चायं[1] पक्षः। अभ्रेरासादन[2]लिङ्गात्। [3]जुह्वाऽवचने इत्यनेन जुह्वाः होमसाधनत्वेन प्राप्तावाज्यतंत्रे[4] विशेषमाह।

।।श्रीः।। स्रुवं प्रतप्य संमृज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात्
(१.१.३)।।

स्रुवं प्रतप्या[5]ऽग्नावधोमुखं तापयित्वाऽप उपस्पृश्य[6] वेदाग्राभावेऽपि चोदितत्वाद्वाभाव इत्यधिकरणेन कुशाग्रैरेव स्रुवं मूलादारभ्याग्रपर्यन्तम[7]न्तरभागे प्राक्संस्थां **संमृज्य** स्रुवाधोभागे चाग्रमारभ्य मूलपर्यन्तं कुशमूलैः[8] संमृज्याभ्युक्ष्याद्भिः प्रोक्ष्य पुनः प्रतप्याप उपस्पृश्य निदध्यात्स्थापयेत्। निधानं चार्थप्राप्तमपि नियमार्थमुच्यते। कथं नामाज्योद्वासनं निहित एव स्रुवे स्यात्। तच्चोत्तरत एव। उत्तरत उपचारो यज्ञ इत्युक्तेः[9]। उष्णो[10]न वारिणा कृतशौचानामेव यज्ञपात्राणामुपकल्पनस्मरणाच्छुद्धस्यैव स्रुवस्यादृष्टार्थं संमार्गादिविधानमिति श्रीभर्तृयज्ञः। तथा च कात्यायनः।

प्राक्शश्चैव कुशैः कार्यः संमार्गोऽथ जुहूषता।
प्रतापनं च लिप्तानां प्रक्षाल्योष्णो[11]न वारिणा।। इति

---

१ ०चामं – स

२ ०रसा दत – स; रसा. - ग

३ जुहा - स। *का.श्रौ.सू.* १.८.४४ अवचनेऽन्यस्य होमार्थस्य द्रव्यस्य जुह्वा होमः कर्त्तव्यः इति कर्कः।

४ ० तंते – स

५ *का०श्रौ०सू०* २.६.३९

६ "अप उपस्पृश्य" *का०श्रौ०सू०* ४.१४.२१

७ ०मेतर – स

८ मूतैः – स

९ *का.श्रौ.सू.* १.८.२६; इत्युच्यतेः – स

१० उष्णोन – ग

११ कात्या. स्मृति ८.१४ "सम्प्रमार्गो जुहषता" इति पाठभेदः। ०योष्णोन – स

स्रुवसंस्कारविधानं होमार्थपात्रस्रुव एव। इतरथा निःप्रयोजने स्रुवे संस्कारविधानमनर्थकमेव स्यात्। अतश्च स्रुवग्रहणमितरहोमसाधनी-भूतपात्रोपलक्षणार्थम्। तेन स्थालीपा[1]कादौ जुह्वाऽवचने[2] इत्यनेन प्रकृतेश्च जुह्वादेर्होमसाधनत्वेन विहितत्वात्तत्राप्येते संस्काराः कर्त्तव्याः। नन्विहैष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम इत्यनेन सकलकर्मसाधारण्येन धर्माम्नानात्स्थालीपाकानां कर्मेत्युपक्रमाच्च तत्र च स्रुवस्य होमसाधनत्वेनोपादानात्कथं स्रुचः प्राप्तिरिति चेत्। उच्यते। न सकलहोमकर्मसाधनत्वेन स्रुवोपादानम्। किन्तु सत्यपि स्थालीपाकोपक्रमे निरुप्याज्यमधिश्रित्य पर्यग्नि कुर्यात्स्रुवं प्रतप्य संमृज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यादाज्यमुद्वास्योत्पूयावेक्ष्येत्यनेनासाधारण्येनाज्यतंत्राम्नानात् सन्दन्शपतितत्वाच्चाज्यहोमसाधनत्वेनैव। न चै[3]तावता साधारण्यहानिः[4]। स्थालीपाकतंत्राज्यहोमेऽपि स्रुवस्य कर[5]णत्वेनाप्युपपत्तेः। अतएव श्रीमद्देवयाज्ञिकैः पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वहो[6]मः। हुत्वा शेषप्राश[7]नमित्यस्मिन्सूत्रे स्मार्त्ता जुहोतयः पाकयज्ञा इत्युच्यन्ते। पच्यतेऽन्वहमनेनेति पाको गृह्याग्निरावसथ्यः। पाके आवसथ्ये गार्ह्येऽग्नौ यज्ञाः पाकयज्ञाः पक्षादिकर्मोपाकर्म-नवप्राशनश्रव[8]णाकर्मादयः। तेषु होमार्थं स्रुचि[10] स्रुवे वाऽवत्तस्याज्यचरुधानादेरसर्वहोमः कर्त्तव्योऽवत्तं सर्वं न होतव्यम्। प्रतिहोमं भक्षणार्थं परिशेषणीयमिति स्रुचो होमसाधनत्वं दर्शि[11]तम्।

---

१ ०पादौ – स

२ *का०श्रौ०सू० १.८.४४*

३ चेतावता – स

४ साधारण्यनिः – स (हा इति नास्ति)

५ काणत्वेना० - स

६ *का०श्रौ०सू० ६.१०.२६*

७ *का०श्रौ०सू० ६.१०.२७*

८ ०तमः – स

९ श्रपणा – ग

१० 'स्रुचि' इति नास्ति – स

११ दशितम् – स

श्रीअनंतयाज्ञिकैस्त्वस्मिन्नेव[1] सूत्रे पाकयज्ञाः स्मार्त्ता जुहोतयस्तासु यत्स्रुच्यवत्तं तत्सर्वं न होतव्यं किन्त्वेकदेशोऽवशेषणीयः। स च होमानन्तरं भक्षणीय इति पाकयज्ञे होमसाधनत्वे स्रुगेव दर्शिता। तथा च **शांखायनगृह्ये**[2] आज्यतन्त्रं प्रकृत्य।

स्रुवः पात्रम्। अर्थलक्षणग्रहणम्। सव्येन[3] कुशानादाय दक्षिणेन मूले स्रुवं "विष्णोर्हस्तोऽसीति। स्रुवेणाज्याहुतीर्जुहोति उत्तरपश्चा[4]र्द्धादग्नेरारभ्याविच्छिन्नं दक्षिणतो जुहोति त्वमग्ने प्रमतिरिति। दक्षिणपश्चार्द्धादग्नेरारभ्याविच्छिन्नमुत्तरतो जुहोति यस्येमे हिमवन्त इति। आग्नेयमुत्तरमाज्यभागं यजति[5] सौम्यं दक्षिणम्। मध्येऽन्याहुतयः अग्निर्जनिता स मेऽमूं. जायां ददातु स्वाहा" "सोमो जनिमान्त्स माऽमुया जनिमन्तं करोतु स्वाहा।" पूषा ज्ञातिमान्त्स माऽमुष्यै पित्रा मात्रा भ्रातृभिर्ज्ञाति[6]मंतं करोतु स्वाहेति। नाज्याहुतिषु नित्यावाज्यभागौ स्विष्टकृच्च नित्याहुतिषु चेति माण्डूकेयः। महाव्याहृतिसर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यान्तरमेतदावापस्थानम्। आज्ये हविषि सव्ये पाणौ ये कुशास्तान्दक्षिणेनाग्रे संगृह्य मूले सव्येन तेषामग्रं स्रुवे समनक्ति मध्यमाज्यस्थाल्यां मूलं च। अथ चेत्स्थालीपाकेषु स्रुच्यग्रं मध्यं स्रुवे मूलमाज्यस्थाल्याम् इति।

छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनोऽपि।

होमपात्रमनादेशे द्रवद्रव्ये स्रुवः स्मृतः।
पाणिरेवेतरस्मिंस्तु स्रुचैवाऽत्र तु[7] हूयते।। इति

इतरस्मिन्नक्षतहोमवैश्वदेवादा[8]वित्यर्थः। स्थालीपाके च तेषामपि स्रुचैव होम उक्तः। स चाग्रे विवरिष्यते। तस्मादस्मदुक्तोऽर्थो ज्यायान्। किं च -

---

१ तस्मिन्नेव – ग

२ *शां०गृ०सू० १.९.१-१४*

३ सन्येन - स

४ र्द्धादाग्ने० स

५ यजति इति नास्ति शांखायनगृह्ये।

६ मन्त्रे - स

७ ० स्रुचा चात्र न हूयते इत्यपि पाठो मिलति। द्रष्टव्यं गोभिलगृह्यभाष्यं, पृ० ८४

८ देवादानि० - स

यावद्धविरिति न्यायादनेकद्रव्यकर्मणि।
पक्षादौ स्विष्टकृद्धोम उभयोर्द्रव्ययोर्भवेत्।
स्रुवेणैकस्य चादाने कृतेऽन्यस्य कथं भवेत्।
हुत्वा यद्येकतोऽन्यस्य द्रव्यस्य जुहुयात्तदा।
वाधः श्रुतिनयोक्तस्य[२] सहत्वस्यापतेद्भृशम्।
सहत्वानुग्रहार्थं तु यद्येवं परिकल्प्यते।
स्रुवार्द्धं चैकतो ग्राह्यमपरस्मात् स्रुवार्द्धकम्।
एवं पूर्णं स्रुवं कृत्वा सह स्विष्टकृतो यजिः[३]।
श्रवणाकर्मणि ग्राह्यं स्रुवस्यांशं तृतीयकम्।
एकैकस्माद्धविः शेषात्ततः स्विष्टकृतं[४] यजेत्[५]।
एवं द्रव्यबहुत्वेऽपि चांशतः स्रुवपूरणम्।
कृत्वा स्विष्टकृतं कुर्यादशेषायाः स्रु[६]तेस्तदा।
विप्लावनप्रसंगः स्यादतः पात्रान्तरं तदा।
होमार्थं कल्पनीयं स्यादतः पूर्वं स्रुगेव चेत्।
कल्प्यते चरुसंबंधे न तदा कष्टकल्पना[७]।

वस्तुतस्तु साधारणाध्यायपरिपठितस्य व्रीहीन्यवान्वा हविषि[८] तस्य द्विरवद्यति[९] त्रिर्जमदग्नीना[१]म् पश्चात्तृतीय[२]मित्याद्याम्नातस्य चरुपुरोडाशादेर्द्धर्म-

---

१ स्रुचैन - स
२ ०स्व - स
३ ज्ञिः -स
४ स-मातृकायां पाठभ्रंशः – "एवं द्रव्यबहुत्वेऽपि .... कृत्वा स्विष्टकृतम्" इति।
५ नास्ति स- मातृकायाम्।
६ श्रुते० - ग, स
७ कल्पनाः - स
८ *का०श्रौ०सू०* १.९.१
९ *का०श्रौ०सू०* १.९.२ (तस्य सकलस्यैव देवतोद्देशेन गृहीतस्य होमे प्राप्ते वचनाद्द्विरवद्यति इति कर्कः।

होमप्रयुक्तं पात्रं स्यात्स्रुवः पात्रमतस्त्रयः।
अतः पश्चाद् गृहीतेऽपि पात्रे तस्यैव संस्कृतिः।
यस्य स्याद्धोमसंबंधः स स्रुवे स्रुचि मेक्षणे।
[1]जुहूश्च पात्रमिति [2]यत्कल्पैकत्वादिहेष्यते।
तस्येष्यतेऽपवादोऽयं स्रुवः स्याद्गृह्यकर्मसु।
आज्यहोमेषु सर्वेषु निमित्ताच्चा[3]गतेष्वपि।
स्रुवेणैवात्र[4] होमः स्यात्स्रुवः पात्रं तु सूत्रणात्।
स्रुवस्य ग्रहणं [5]यत्स्यादेतदप्यर्थलक्षणम्।
अर्थतो लक्षणं यत्स्यादर्थात्स्रुङ्मेक्षणादिकम्।
तदप्यत्र गृहीतव्यं स्थालीपाकादिकर्मस्विति।

किञ्च। स्मार्त्तपशुषु "वपाᳬं हुत्वा त्रीणि पञ्च सर्वाणि वाऽवद्यति[6]" "सर्वाभावे शेषा[7]त्स्विष्टकृतः", "स्थालीपाकेन सह प्रदानमिति[8]" श्रौतसूत्रोदितेषु वपाᳬं हुत्वाऽवदानान्यवद्यति[9] सर्वाणि त्रीणि पञ्च वा[10] स्थालीपाकमिश्राण्यवदानानि जुहोतीति[11] गृह्यसूत्रप्रणीतेषु च स्रुगङ्गीकर्त्तव्यैव। न च तत्रापि स्रुवेणैव होम इति वचनीयम्।

---

१ जुहु॰ – स
२ यत्वाचैकत्वादि. – स
३ ॰ चारणेष्वपि – स
४ ॰ णैचोत्र – स
५ यस्मादेतदप्य॰ – स
६ *का.श्रौ.सू.* ६.१०.३१
७ शेषास्विष्ट. – स। *का.श्रौ.सू.* ६.१०.३२., सर्वावदानाभावे शेषात्स्विष्ट–कृदवदानमिति।
८ *का.श्रौ.सू.* ६.१०.३३., "तथा च संहत्वमात्रं स्थालीपाकस्य नावदानैस्तुल्यता। प्रयोजनमन्तरायेऽप्रयोक्तृत्वमिति" कर्काचार्याः।।
९ नाद्यवद्य. – स
१० 'वा' नास्ति स–मातृकायाम्।
११ *पा.गृ.सू.* ३.११.७–८

स्वरूपाऽनिष्पत्तेः[1]। यत्तु तत्रापि स्रुवेणैवाज्यभागान्तं कृत्वा तस्मिन्नेव स्रुवे वपाहोमार्थमुपस्तीर्य हिरण्य[2]मवधाय [3]वपामवदाय हिरण्यमवधाय द्विरभिघार्य वपाहोमः कर्त्तव्यः। वपाश्रपण्योरग्नौ प्रासनम्। उखातो वसां गृहीत्वाऽन्तरिक्षाय स्वाहेति वसाहोमः। अवदानहोमे स्रुवे उपस्तरणम्। हिरण्यावधानम्। प्रधानावदानेभ्यो द्विर्द्विरवदानग्रहणम्। स्थालीपाकाच्च सकृत्। पुनर्हिरण्यावधानम्। अभिघारणम्। असर्वाणि चेत्क्षताभ्यङ्ग इत्याद्यभिधानं तत्स्वाध्यायाध्ययनवैधुर्यनिबन्धनमित्युपेक्षणीयम्।

तथा हि। स्रुवपुष्करस्याङ्गुष्ठपर्वमितत्वात्तस्मिन्नेव स्रुवे तेनैव तन्मिताज्यस्योपस्तरणम्। सर्वाणिं वेत्यस्मिन्पक्षे एकादशाङ्गेभ्यो द्विर्द्विरवदीयमाने द्वाविंशति पशववदाना[4]नि प्रत्येकमङ्गुष्ठपरिमितानि। एकं च[5] चरोः। स्रुवमिताज्यस्य च प्रत्युपस्तारः। एवञ्च पञ्चविंशत्यङ्गुष्ठपर्वमित-द्रव्यस्याङ्गुष्ठपर्ववृत्तपुष्करस्रुवेऽव[6]स्थिति-मशकगलकरन्ध्रे हस्तियूथं प्रविष्टमिति समस्याया इदमेवोदाहरणमिति। पञ्चाङ्गपक्षे त्रयोदशावदानानि। त्र्यङ्गपक्षे तु नव। इदमपरं चाभिनवम्। तस्मिन्नेव स्रुवे तेनैव स्रुवेणोपस्ताराभिघारौ। तयोः स्रुवसाध्यत्वात्। अन्यस्य चाऽक्लृप्तत्वादित्ययुक्तोऽयं स्रुवाग्रह इत्यलं प्रपञ्चेन।

।।श्रीः।। आज्यमुद्वास्योत्पूयावेक्ष्य प्रोक्षणीश्च पूर्ववत् (१.१.४)।।

अग्नावधिश्रितमाज्यमग्न्यायतनस्योत्तरत उद्वास्य। सा दक्षिणोदगुद्वासयति हविश्चेत्युक्तत्वात्। तथा च **छंदोगगृह्ये**[7]। अथैतदाज्यमधिश्रित्योदगुद्वासयेदिति। **आश्वलायनगृह्येऽपि**[8]। "श्रृतानि

---

१ स्वरूपाऽनिप्यतेः – स;

२ हिरणामव॰ – स

३ पामव. – स

४ ॰दानि – स

५ नास्ति – स

६ ॰स्रुवेऽवलिति – स

७ *गो.गृ.सू.* १.७.२७.

८ *आ.गृ.सू.* १.१०.१२.

मध्यात्पूर्वार्द्धात्पश्चार्द्धादिति पञ्चावत्ती चेद्भवति[1]। अवदानानि[2]। प्रत्यनक्त्यवदानस्थानान्ययातयामतायै[3]। अग्नये स्वाहेति मध्ये जुहोति[4]। सकृत्त्रिर्वै तेनैव कल्पेन[5]। अथ स्विष्टकृत उपस्तीर्यावद्यत्युत्तरपूर्वार्द्धात् सकृदेव भूयिष्ठं द्विरभिघारयेत्[6]। यद्यु पञ्चावत्ती स्यादिद्विरुपस्तीर्यावदाय द्विरभिघारयेदिति[7]। तथा *तत्रैव*। गणेष्वेकं परिसमूहनमिध्मो बर्हिः पर्युक्षणमाज्यभागौ च[8]। सर्वेभ्यः समवदाय [9]सकृदेव सौविष्टकृतं जुहोतीति[10]। **आथर्वणगृह्ये**[11] च। मध्ये हविरुपस्तीर्याज्यं संहताभ्यामङ्गुलिभ्यां द्विर्हविषोऽवद्यति। मध्यात्पूर्वार्द्धाच्चावत्तमभिघार्य द्विर्हविः प्रत्यभिघारयति। तथा। उपस्तीर्याज्यं सर्वेषामुत्तरतः सकृत्सकृदवदाय द्विरभिघारयति न हवींषीति। **शांखायनगृह्यकारिकायामपि**।

स्थालीपाकेषु पात्राणि स्रुवस्रुङ्मेक्षणानि च।
अर्थलक्षणसूत्रे च कथितानि भवन्त्यतः।
अवदानगताधर्मा इष्टेरिष्टा जुहोतिषु।
अवदानान्तरे येऽपि ये धर्मा अवदानके।
सम्मतास्ते बहुत्वोक्तेः शृतादावञ्जनादिकाः।
आज्यस्थाल्या उपस्तीर्य स्रुवेण स्रुचि तत् सकृत्।

---

१ *गो.गृ.सू.* १.८.६
२ *गो.गृ.सू.* १.८.७
३ *गो.गृ.सू.* १.८.८; ०यामताया अग्नये– ग; ०यामताया आवये–स।
४ *गो.गृ.सू.* १.८.६ ''जुहुयात्'' इति पाठभेदः
५ *गो.गृ.सू.* १.८.१० ''सकृद्वा त्रिर्वै तेन कल्पेन'' इति पाठभेदः।
६ *गो.गृ.सू.* १.८.११
७ *गो.गृ.सू.* १.८.१२
८ *गो.गृ.सू.* १.८.१७
६ कृदेव – स
१० *गो.गृ.सू.* १.८.१८.
११ *कौ.गृ.सू.* १.४.३–५ (कौशिकसूत्रदारिलभाष्यम्, पुणे, १६७२)

अवद्येन्मेक्षणेनाथ हविर्मध्याच्च पूर्वतः।
तृतीयं जमदग्नीनां पश्चात्स्यादवदानकम्।
पुनस्तदभिघार्याक्ता[1]क्षतानि तु हविः क्रमात्।
जुहुयाद्देवतां तां [2]तामेवमेवावदाय तत्।
द्वितीयादिषु यागेषु चर्वादिष्ववदानकम्।
भवेदुत्तरतो मध्यात्पूर्वार्द्धादपि पश्चिमात्।
पित्र्याष्टकायां सर्वाणि चावदाय सकृत्स्रुचि।
अभिघारो द्विरेव स्यात्सर्वत्र श्रुतिदर्शनात्।
प्रधानानन्तरं कल्पसाम्यात्स्विष्टकृदाहुतिः।
तत्र तु स्रुच्युपस्तीर्य हविरुत्तरतः सकृत्।
अवदायाभिघार्य द्विर्भृगूणां त्रिः क्षतेन तत्।
अङ्गुष्ठपर्वमात्रं तु मेक्षणेनावदानकम्।
अवदायाभिघार्य द्विर्भृगूणां द्विरवद्य च।
उपस्ताराभिघारौ च सदृशौ तु क्षतेन तत्।
स्रुवे[3] स्रुवेण मात्रावद्धोमः पूर्णस्रुवेण तु।
द्व्यंगुष्ठं पर्वमात्रं तु पाणिहोमेऽवदानकम्।
देवतीर्थे न जुहुयात्स्रुवेणापि दधीनि च।
स्रुचा च कठिनं तद्वदाश्वलायनगृह्यतः।

तथा पात्रासादनं प्रकृत्य तत्रैव।

पवित्रे छेदनान्याज्यं स्रुवश्च समिधः कुशाः।
आज्याहुतिषु सर्वासु पात्रासादनमर्थतः।
बर्हिः पवित्रे तच्छेदान्याज्यं धान्यं चरुः स्रुवः।
स्रुङ्मेक्षणं समिद्दर्भाः स्थालीपाकादिकेऽर्थतः।

तथा

---

१ ०र्यात्काल–स

२ तातमेवमेवा० – स

३ द्रवे – ग

जातस्याऽत्राप्यविशेषेण प्राप्तस्यानुग्रहार्थं स्रुक्परिकल्पनीयैव। न च तद्धर्मस्याऽत्राऽप्राप्तिरिति वाच्यम्। आनन्तर्यविचारे सर्वैरधिकार इत्यारभ्याऽप उपस्पृशेदप इत्यन्तस्य धर्मजातस्येहाङ्गीकृतत्वात्। किं चैतद्धर्मप्राप्तिश्च भगवता विशिष्य[३] दर्शिता सीता[४]यज्ञे। यथा-

कामादीजानोऽन्यत्रापि व्रीहियवयोरेवान्यतरꣳ स्थालीपाकꣳ श्रपयेत्[५]। न पूर्वचोदितत्वात्संदेहः[६]। असंभवाद्विनिवृत्ति[७]रिति।।

अवदानधर्माश्चार्यचरणानामिहेष्टा एव। लाजाहोमे उपस्तारावदानाभिघारक्षताभ्यङ्गानामुपनिबंधनात्। न च तत्र शाखान्तरे विहितत्वात्तत्रैव ते भवन्तीति वाच्यम्। स्थालीपाकादावपि तुल्यत्वात्। तथा च **मानवसूत्रे**[८]। "आग्नेयं स्थालीपाकं श्रपयती"[९]ति स्थालीपाकतन्त्रं प्रकृत्य तूष्णीं स्रुक्स्रुवौ संमृज्येत्युक्त्वा "उप[१०]स्तीर्याप उपस्पृश्य मेक्षणेन स्थालीपाकस्यावद्यति। मध्यात्पूर्वार्द्धाद्द्वितीयं पश्चार्द्धात्तृतीयं पञ्चावदानस्य। अवत्तमभिघार्य स्थालीपाकमभिघारयति। अग्नये स्वाहेति मध्ये जुहोति। यो देवानामिति रौद्रस्य। जयान्हुत्वाऽऽज्यस्य स्विष्टकृते समवद्यत्युत्तरार्द्धात् सकृद्द्विमात्रम्। द्विर्वा[११] पञ्चावदानस्य। अवत्तं द्विरभिघार्य नात ऊर्ध्वं स्थालीपाकं प्रत्यभिघारयति। अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेत्यसंसक्तमुत्तरार्द्धे

---

१ *का०श्रौ०सू०* १.९.३

२ *का०श्रौ०सू०* १.९.४

३ ष्ट-स

४ *पा०गृ०सू०* २.१७.३-५

५ *पा०गृ०सू०* २.१७.३

६ *तत्रैव* २.१७.४

७ *तत्रैव* २.१७.५ स- मातृकायां 'वृत्तिरि' पाठः। 'ति' नास्ति।

८ *मानवगृह्यसूत्रं* (मैत्रायणीयं) अष्टावक्रभाष्यसहितम्, रामकृष्ण हर्षजी शास्त्री, पाणिनि, नई दिल्ली, १९८२

९ *मा०गृ०सू०* २.२.२

१० *मा०गृ०सू०* २.२.१६-२३

११ 'यदि' इत्यधिकः मानवसूत्रे, २.२.२०

जुहोति। मेक्षणं दर्भांश्च '[१]निधायेत्युक्त्वा'[२] एतेन स्थालीपाकेन स्थालीपाकाः सर्वत्र व्याख्याता इति। **आश्वलायनगृह्यसूत्रेऽपि**[३]। मध्यात्पूर्वार्द्धाच्च हविषोऽवद्यति[४]। मध्यात्पूर्वार्द्धात्पश्चार्द्धादिति पञ्चावत्तिनाम्[५]। उत्तरार्द्धात्सौविष्टकृतम्[६]। नात्र हवींषि प्रत्यभिघारयेदिति[७]। **छन्दोगगृह्यसूत्रेऽपि**। स्थालीपाके आज्यमानीय मेक्षणेनोपघातं॑ होतुमेवोपक्रमते[८]। यद्यु वा उपस्तीर्णाभिघारितं जुहुषेत्[९]। अथ हविष उपस्तीर्यावद्यति[१०]। अभिघारयति[११]। मध्यात्पूर्वार्द्धाच्चतुरवत्ती चेद्भवति

---

१ 'आधाय' इति पाठः मानवसूत्रे २.२.२३

२ अनुमतिभ्यां व्याहृतिभिश्च त्वं नो अग्ने, स त्वं नो अग्ने अयाश्चाग्नेऽसीत्येताभि-र्जुहुयात् इत्यधिकः मानवसूत्रे २.२.२३

३ *आ.गृ.सू.*, नारायणभाष्यसहितम्, डा. नरेन्द्रनाथशर्मणा सम्पादितम् ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १६७६/ के.पी. ऐथलसम्पादितं देवस्वामिभाष्यसहितम्, आडयार सीरीज़ (III)

४ *आ.गृ.सू.* १.१०.२१.

५ *आ.गृ.सू.* १.१०.२२.

६ *आ.गृ.सू.* १.१०.२३.

७ *तत्रैव,* १.१०.२५. आ.गृह्ये०घारयति' इति पाठः (स्विष्टकृतं द्विरभिघारयतीति)। हविषो मध्यात्पूर्वार्धाच्चाङ्गुष्ठपर्वमात्रं हविरवद्यतीति देशो नियम्यते। पञ्चावत्तिनां तु मध्यात्पूर्वार्धात्पश्चार्धादिति पुनर्वचनं प्रत्यक् संस्थता यथा स्यात्..... सर्वेषां हविषामुत्तरार्धात्स्विष्टकृदर्थमवदानं प्रधानादानाद्भूयः सकृत्सकृतवखण्डयति। पञ्चावत्ती त्वेव सकृत्सकृद्गृहीत्वा पुनरपि पुनरावदानदेशस्य पुरस्तात्सकृत्सकृदवद्येत्। ... स्विष्टकृति हविःशेषं न प्रत्यवघारयति।....हविःशब्दः शेषे वर्तते इति नारायणः।

८ *गो.गृ.सू.* १.८.२
पाणिना मेक्षणेनाथ स्रुवेणैव तु यद्धविः।
हूयते चानुपस्तीर्य उपघातः स उच्यते।।
यद्युपघातं जुहूयाच्चरावाज्यं समावपेत्।
मेक्षणेन तु होतव्यं नाज्यभागौ न स्विष्टकृत्।। इति गृह्यासंग्रहे

९ *गो.गृ.सू.* १.८.३

१० *गो.गृ.सू.* १.८.५

११ *गो.गृ.सू.* १.८.७ अवदानानि इत्यधिकः पाठः।

हवींष्यभिघार्योदगुद्वास्य बर्हिष्यासाद्य प्रत्यभिघार्येति। अत्राऽज्यस्यैवाधिश्रितत्वात्तस्यैवोद्वासने प्राप्ते यदाज्यग्रहणं तदाज्यतन्त्रत्वदृढीकरणार्थम्। ततश्च स्थालीपाकतन्त्रे स्रुक्सादनोत्तरं चरोरुद्वासनं भवति। नाज्योद्वासनोत्तरम्। अतएवार्यचरणैर्बर्हिःस्तरणोत्तरं चरोरुद्वासनमभिहितम्।

।।श्रीः।। उत्पूय।।

तदेवाज्यं प्रोक्षण्युत्पवनप्रकारेण पवित्राभ्यामुत्पूय। तच्चोत्पवनं प्रोक्षणीभ्योऽपरतो वेद्यान्निधाय कर्त्तव्यम्। प्रकृतौ तथा दृष्टत्वात्।।

।।श्रीः।। अवेक्ष्य।।

तदेवाज्यम्। अत्रोद्वासनोत्पवनावेक्षणानां प्रकृतिप्राप्तानां पुनर्विधानं पत्नीसन्नहनपत्नीकर्तृकाज्यावेक्षणनिवृत्त्यर्थम्। उत्पवनाऽव्यवहिताज्या-[१]वेक्षणविधानार्थञ्च। प्रकृतावाज्योत्पवनोत्तरं प्रोक्षण्युत्पवनम्। तत आज्यावेक्षणमिति क्रमः। इह त्वाज्योत्पवनानन्तरं तदीक्षणमभिहितम्। तेन प्रोक्षण्युत्पवनव्यावृत्तिशंकायामिदमाह।

।।श्रीः।। प्रोक्षणीश्च पूर्ववत्।।

उत्पु[२]नातीत्यर्थः। प्रोक्षण्युत्पवनस्य स्वकालादुत्कृष्टत्वादपूर्वत्वश[३]-कयाऽधर्मकोत्पवनशंकाया निवृत्त्यर्थ पूर्ववदित्युक्तम्। यद्वाऽव्यवहितेक्षणक्रिया शंकाव्यावृत्त्यर्थम्। चशब्दश्चेध्मप्रोक्षणाद्य[४]- परिसंख्यातसन्निपत्योप–कारकपदार्थप्रज्ञप्त्य[५]र्थः। तेन प्रोक्षण्यादानम्। इध्मविस्रंसनम्। संज्ञया ब्रह्मणोऽनुज्ञाप्रार्थनम्। ब्रह्मणा संज्ञयानुज्ञातस्येध्मप्रोक्षणम्। वेदिप्रोक्षणम्। बर्हिः प्रतिग्रहणम्। यथोक्तं वेद्यां करणम्। प्राग्वदनुज्ञातस्य प्रोक्षणम्। सशेषो

---

१ ॰नेक्षण – स

२ ॰ पू. – स

३ ॰ शंकाया – स

४ ॰ द्यत्प. – स

५ प्रज्ञस्त्यर्थः – स

मूलावसेकः। बर्हिर्विस्रंसनम्। प्रस्तरादानम्। ब्रह्मणे समर्पणम्। यूनविस्रंसनम्। दक्षिणश्रो[1]णौ निधानम्। अन्यैरवच्छादनम्। वेद्यामापन्नस्य निरसनम्। यथोक्तं स्तरणम्। प्रस्तरादानम्। विधृत्योः स्तरणम्। प्रस्तरास्तरणम्। अभिन्यासः[2]। सव्या शून्ये स्रुवनिधानम्। स्थालीपाकपक्षे तु जुह्वाश्च। स्थालीपाकस्याभिघारः। उदगुद्वासनम्। प्राणदानम्[3]। ब[4]र्हिष्याज्यासादनम्। स्थालीपाकस्य च। आज्यस्थालीपाकयोरालम्भः। आत्मालम्भोदकालम्भौ[5]। **आश्वलायनगृह्ये**[6]। शृतानि हवींष्यभि[7]घार्योदगुद्वास्य बर्हिष्यासाद्य प्रत्यभिघार्येति। **छन्दोगसूत्रे**ऽपि[8]। बर्हिषि स्थालीपाकमासाद्येध्ममभ्यादधातीति।

।।श्रीः।। उपयमनान्कुशानादाय समिधोभ्या[9]धाय पर्युक्ष्य जुहु[10]यात्।।

उपसमीपे स्रुवादेरधस्ताद्यम्यते उपगृह्यते ते उपय[11]मनास्तान्कुशान्। अविशेषोपदेशात् त्रीनेवादाय सव्यहस्तेन गृहीत्वा। केचित् पञ्चविंशतिदर्भतृणनिर्मितं चटुमिच्छन्ति। तदुक्तं **शांखायनगृह्यकारिकायाम्**। "उपग्रहकुशानां तु संख्या स्यात्पञ्चविंशतिरिति"। तदयुक्तम्। एतदर्थकमुनिवाक्याभावात्।

---

१ श्रौणौ – स

२ ॰न्यासनः – स

३ प्राणदानमिति नास्ति स – मातृकायाम्।

४ बर्हिष्याज्यासादनमिति नास्ति स – मातृकायाम्।

५ ॰कालंभौः – स

६ *आ.गृ.सू.* १.१०.१२ ॰ प्रत्यभिघार्य बर्हिष्यासाद्येध्ममभिघार्य इति पाठभेदः *आ. गृह्ये*।

७ ॰घार्योदगुद्वास्य बर्हिष्यासाद्य प्रत्यभीति नास्ति स – मातृकायाम्।

८ *गो.गृ.सू.* १.७.१६ "॰द्येध्ममभ्याधायाज्यꣳ संस्कुरुते" इति पाठभेदः।

९ ॰ धोन्वा. – स

१० जुयु ॰ – स

११ उपमम ॰ – स

तत्कारिकायाञ्च।

> **प्रादेशमात्र्यः पालाश्यः समिधो दश सप्त च।**
> **पञ्चमाध्यायपठिताः प्रकृतौ निविशन्ति ताः।**
> **दर्शे च पौर्णमासे च समिधो दश पञ्च च।**
> **पित्र्याष्टकायां तिस्रो वाऽथवा सप्तदशैव तु।**
> **हुत्वा तन्त्रेण समिधस्ततो दर्भस्रुवग्रह** इति।

छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनः।

> **नाङ्गुष्ठादधिका ग्राह्या[१] समित्स्थूलतया क्वचित्[२]।**
> **न वियुक्ता[३] त्वचा नैव[४] न सकीटा न पाटिता।।**
> **प्रादेशान्नाधिका न्यूना न च शाखा[५]विशाखिका।**
> **न सपर्णा न निर्वीर्या होमेषु च विजानता।।**
> **प्रादेशद्वयमिध्मस्य प्रमाणं परिकीर्त्तितम्।**
> **एवं विधाभिरेवेह समिद्भिः सर्वकर्मसु।**
> **समिधोऽष्टादशेध्मस्य प्रवदन्ति मनीषिणः।**
> **दर्शे च पौर्णमासे च क्रियास्वन्यासु विंशतिः[६]।**

अत्र द्विप्रादेशप्रमाणं तु श्रौतपरं तच्छाखापरं वा। तथान्योऽपि विशेषस्तत्रैव।

> **इध्मोप्येधार्थमाचार्यैर्हविराहुतिषु स्मृतः।**
> **यत्र चास्य[७] निवृत्तिः स्यात्तत्स्पष्टीकरवाण्यहम्।**

---

१ ग्राह्याः – ग.

२ द्युम्नित् – स.

३ विनियुक्ता – ग, स

४ *गृह्यासंग्रहे* 'चैव' इति पाठः।

५ *गृह्यासंग्रहे* – 'न तथा स्याद्विशाखिका' इति।

६ इति *गोभिलगृह्यभाष्ये* १.५.१४

७ वास्य – स.

अङ्गहोमसमित्तन्त्रसोष्यन्त्याख्येषु कर्मसु[१]**।**
येषाञ्चैतदुपर्य्युक्तं तेषु तत्सदृशेषु च।
अक्षभङ्गादिविपदि जलहोमादिकर्मणि।
सोमा[२]**हुतिषु सर्वासु**[३] **नैतेष्विध्मो विधीयते।** इति

तत्सदृशेषु क्षिप्रहोमेषु सायंप्रातरग्निपरिचरणादावित्यर्थ इति तद्भाष्ये। तेन सायंप्रातरग्निपरिचरणे यद्यप्युपयमनप्रभृतिकर्माम्नानं तथापि तत्र बहुत्वानुग्रहार्थं तिसृणामेव समिधामाधानं कर्त्तव्यं नेध्मसंख्याकानाम्। ननु स्मार्त्तस्थालीपाकानामपूर्वत्व[४]पक्षाश्रयणे इध्मसंख्याया अनुपस्थितत्वात् स्वसूत्रे च विशिष्य संख्याया अनाम्नानात्कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन तिसृणामेवाधानं युक्तम्। सत्यम्। यद्यपि स्वसूत्रे संख्याया अनाम्नानं नापीध्मसंख्योपस्थितिस्तथापि शाखान्तराऽधिकरणन्यायेन शाखान्तरे प्रत्यक्षोपदिष्टायाः संख्याया आश्रयणं[५] युक्तरूपम्। तदुक्तम्।

यन्नाम्नातं स्वशाखायां परोक्तमविरोधि यत्।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादिकर्मवत्। इति

अतएवार्यचरणैः समिद्विस्रंस्य प्रोक्षणम् तथा क्रमेण तिष्ठतः सप्तदश समित्प्रक्षेप इत्यभिहितम्। तन्त्रेणाधानमिति **शांखायनगृह्यकारिकायाम्।**

---

१ "विवाहादिकर्माङ्गभूता ये होमास्ते अङ्गहोमाः – इत्युच्यन्ते। येऽपि समिद्धविष्कास्तन्त्रहोमाः। द्विविधाः किल होमाः.......क्षिप्रहोमास्तन्त्रहोमाश्च इति। तत्र ये क्षिप्रं हूयन्ते, – त इमे सायं प्रातर्होमादयोऽ नङ्गविस्तारयुक्ताः क्षिप्रहोमा उच्यन्ते। ये तु परिसमूहनबर्हिराद्यङ्ग– विस्तारयुक्ताः त इमे तन्त्रस्येतिकर्त्तव्यताया यथोक्तायाः सम्बन्धात् तन्त्रहोमा उच्यन्ते। यश्च आसन्नप्रसवायाः सुखप्रसवार्थं सोष्यन्तीहोमः।.....यः किल ऊढायां यानेन पत्या नीयमानायामक्षभङ्गनद्धविमोक्षादिविपदि नैमित्तिको होमो विहितः"।। इति चन्द्रकान्ततर्कालंकारभट्टाचार्यः *गोभिलगृह्यभाष्ये* १.५.१४

२ क्रत्वा हु. – ग, स.

३ सु नास्ति स–मातृकायाम्

४ ० ममूर्धत्व ० – स

५ आश्रमणं – स

परं तदपि नास्त्यत्र गृह्योक्तेषुं तु कर्मसु।
यतः कुशानामादानं स्थालीपाकादिषूच्यते।
कल्पैक्यात्तत्र तु स्फ्यः स्यादृह्यवदानप्रधानतः।
आज्ये हविषि चोत्पत्तौ विधत्ते च कुशग्रहम्।
तत्र तावत् कुशा एव कल्पैक्यात्स्युः कुतो विधिः।
अतो वज्रो न गार्ह्येषु स्याल्लेखासु तु दर्शनात्[१]।
पिण्डयज्ञे तथा श्राद्धे[२] चितौ चोन्मार्जनेंतिमे। इति

तदसत्। स्फ्येनान्यत्रे[३]त्यनेन प्रागुपयमनकुशादानाद[४]नाज्य-संयुक्तकर्मसु स्फ्योपग्रहणस्य प्राप्तत्वात्। अतएवोक्तमार्यचरणैः। उपग्रहा उच्यन्ते। स्फ्योपग्रहः सर्वत्र। आज्ये कुशोपग्रहः। उपयमनकुशा[५]दानाद्युपयमन[६]कुशा एवेति। तथा। स्मृतिशुद्धो भूत्वा शुचौ देशे प्राङ्मुख उपविश्य वामहस्ते स्फ्यं गृहीत्वा दक्षिणेन कुशानादाय कुशैः परिसमूहनमित्यादि। तथा। कुशोपग्रहेणाज्यनिर्वाप इत्यादि च।

वस्तुतस्तु। एतस्याज्यतन्त्रत्वात्कुशै[७]रसत्स्वित्यनेनाज्यहोमे उपग्रहत्वेन प्राप्तानां कुशानां पुनर्विधानमनाज्यहोमे स्थालीपाकादौ स्फ्येना[८]न्यत्रेत्यनेन प्राप्तस्य[९] स्फ्योपग्रहस्योपभृतश्च परिसंख्यार्थम्। अतश्चोपभृदासादनमपि न भवत्येव। कार्याभावात्। येषां

---

१ दर्शना – स।
२ श्राद्धेर्च्चितौ – स
३ *का.श्रौ.सू.* १.१०.७
४ कुशादानाज्य ॰ – स
५ ॰ कुशानाद्यु – स.
६ यमकुशा – स.
७ *का.श्रौ.सू.* १.१०.८
८ *का.श्रौ.सू.* १.१०.७
९ प्राप्त॰ – स

त्वाज्याऽनाज्यसाधारणं तन्त्रं तेषां सर्वहोमार्थत्वेनोपयमनकुशानामु[१]-पादानान्नास्ति स्थालीपाकहोमादौ स्फ्योपग्रहणस्यावकाशः। असामिधेनीका इत्यनेनेध्माधानाऽभावे प्राप्त आह।

।।श्रीः।। **समिधोऽभ्याधाय ।।**

इध्ममभ्याधायेति वक्तव्ये यत्समिद्ग्रहणं तत्समित्प्रमाणप्रज्ञप्त्यर्थम्। तत्प्रमाणञ्च। [२]समित्पवित्रं वेदश्च त्रयं प्रादेशसंमितमित्युक्तं ज्ञेयम्। तेन प्रादेशमात्र्य एव नेध्मप्रमाणत्वेनारत्निमात्र्यः। समित्काष्ठसंख्या त्वष्टादशेध्मं परिधि[३]वृक्षाणा[४]मित्युक्तत्वाद[५]ष्टादशैव संख्यांतराश्रवणात्। न च संख्याया अनुक्तत्वात्कपिंजलाधिकरणन्यायेन तिसृणामेवाधानमिति वाच्यम्। अष्टादशेध्मं परिधिवृक्षाणा[६]मित्युदितसंख्याबाधकशास्त्राभावात्। तथा च **शांखायनगृह्ये** पञ्चमाध्याये। प्रादेशमात्रीः पालाशीः समिधः सप्तदश हुत्वा पश्चात्स्रुवग्रहणम्[७]। दर्शपूर्णमासयोः पञ्चदश[८]। मध्यावर्षेऽष्टके तिस्रो वा भवन्ति पिण्ड[९]पितृयज्ञवद्धोम इति। अनेन सामि[१०]धेनीसंख्यया[११] समिधो[१२] दर्शिता भवन्ति।

---

[१] 'उपादानान्' इति नास्ति स – मातृकायाम्।

[२] स्मृत्यर्थसारवचनं इति पारस्करगृह्यसूत्रभाष्ये गदाधरः। पाठभेदः।

[३] धि इति नास्ति स – मातृकायाम्।

[४] *का.श्रौ.सू.* १.३.१८. अपि च २.८.१

[५] ०दृष्टा – स; अष्टादश काष्ठमिध्मं कुर्यात् पलाशादिपरिधिवृक्षसम्बन्धिनम्।

[६] तदेव।

[७] *शां. गृ.* ५.१०.४

[८] *शां. गृ.* ५.१०.५

[९] 'पिण्ड' इति पाठः नास्ति शां. गृह्ये ५.१०.६

[१०] सामिधो – स

[११] संख्यया इति नास्ति स – मातृकायाम्

[१२] समिधो इति नास्ति स – मातृकायाम्

उपयमन[1]कुशास्त्रिः प्रभृतय इति कश्चित्। तदप्ययुक्ततरम्। अनवस्थाप्रसंगात्। तदुक्तम्। यावत्स्वंमधिकारात्[2]। तिस्रो वा नित्यत्वात्[3]। आदिसामर्थ्यात्[4]। दर्शनाच्चेति[5]। अत्राज्यहोमार्थमेव कुशोपादानमुत स्थालीपाकादिहोमार्थमपि। तत्राज्यतन्त्रत्वादाज्यहोमार्थमेवोपयमन-कुशोपादानम्। स्थालीपाकाद्यनाज्यहोमे तु स्फ्येनैवोपग्रहणम्। [6]स्फ्येनान्यत्रेत्युक्तेः। न च स्फ्यस्याऽर्थवदासाद्येति परिसंख्याततत्वात्स्फ्यो[7]-पग्रहणनिवृत्तिरिति वचनीयम्। प्राकृतविषयत्वात्तस्याः। न चायं प्राकृतविषयः। अग्निहोत्रहोमादावपि तदुपग्रहप्रवृत्तेः[8]। प्रकृतावपि प्रागासादनप्रोक्षणतोऽग्न्यन्वाधानादौ तदुपग्रहदर्शनात्। तेनाज्यहोमे कुशैरुपग्रहः। स्थालीपाकाद्यनाज्यहोमे तु स्फ्येनेत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते। यद्यप्यप्राकृतविषयत्वेन स्फ्योपग्रहणस्य न परिसंख्या, तथाप्यपूर्वाणामिहोपयमनकुशानां होमाङ्गत्वेनोपादानादुपग्रहकार्यस्य चैतैरेव निर्वृतत्वादनेकद्रव्यत्वाच्च स्फ्योपग्रंहणनिवृत्तिः। न च समुच्चयः। दृष्टार्थत्वात्। एकद्रव्य[9] इत्युक्तेश्च। न चाज्यतन्त्रत्वात्तद्धोमपरतैव कुशानामिति वाच्यम्। आज्यतन्त्रेऽपि समिदाधानपर्युक्षणयोः

---

[1] कुलशास्त्रि – स

[2] *का.श्रौ.सू.* ४.२.२८

[3] *का.श्रौ.सू.* ४.२.२९

[4] *का.श्रौ.सू.* ४.२.३०

[5] *का.श्रौ.सू.* ४.२.३१

[6] *का.श्रौ.सू.* १.१०.७ "आज्यादन्यत्रान्येन द्रव्येण द्रव्यवत्येकस्मिन् स्फ्येनोप–ग्रहणमिति कर्काचार्याः।

[7] स्योप॰ – स

[8] ॰ ग्रहण॰ – स

[9] एकद्रव्ये साज्ये वेदेनोपग्रहणम्। *का.श्रौ.सू.* १.१०.६ "दक्षिणहस्तस्थस्य साज्यस्यैकद्रव्यस्य हस्तकम्पनादिनाऽऽज्यस्कन्दनवारणार्थं सव्यहस्तगृहीत–वेदेनाधारकरणमुपग्रहणमुच्यते" इति टिप्प०।

स्फ्योपग्रहत्व[1]प्रसक्तेः। अस्तु तथेति चेन्न। समिदाधानाव्यवहितप्राक्कालीन-स्योपयमनकुशादानस्यादृष्टार्थत्वप्रसंगात्। न च पाठोऽर्थेन बाध्यत इति वाच्यम्। तस्य च प्राप्तत्वाद्वाक्यानर्थक्यप्रसक्तेः। यथा इतः प्राक्कालीनाज्यकर्मणि कुशोपग्रहत्वं तथा तद्धोमेऽपि स्यादेव। तस्मादेत[2]त्पदार्थारभ्याऽज्यसंयुक्ताऽनाज्यसंयुक्तकर्मण्युपयमनकुशोपग्रहणम्। इतः प्राक्कालीनाज्यसंयुक्तेष्वे[3]तदन्यकुशैः। तदसंयुक्तेषु स्फ्येनेति युक्तमुत्पश्यामः। दर्शयति सूत्रकारोऽनाज्यहोमेऽप्युपयमनकुशोपग्रहणम्। यथाऽग्निपरिचरणे उपयमनप्रभृत्यौपासनस्य परिचरणमिति[4]। केचित्तु स्मार्ते कर्मण्युल्लेखने एव स्फ्योपयोगो नान्यत्रेत्याहुः। तदुक्तं **शांखायनगृह्यकारिकायाम्**।

हविः सम्बन्धतो ग्राह्याः सर्वत्रोपग्रहाः कुशाः।
न मंत्रप्रतिपत्तिश्च तेषां तन्त्रं विना क्वचित्।

तेषामुपग्रहकुशानां सकलेतिकर्त्तव्यताकलापं विनाऽञ्जनपूर्विका मन्त्र[5]युक्ताप्रतिपत्तिर्न स्यादित्यर्थः।

कथं स्फ्योपग्रहो नेष्टः कल्पैक्यादन्यकल्पतः।
स्फ्योपग्रहनिमित्तं हि न पश्यामोऽत्र कर्हिचित्।
यत्र स्याद्दक्षिणे पाणावेकमेव स्रुगादिकम्।
तत्र स्फ्योपग्रहः सव्ये[6] यदि तच्चाज्यवर्जितम्।
अन्यत्र तु कुशा एव कल्पैक्यं[7] य[8]द्यपीष्यते।

---

१ ॰पग्रहावप्र॰ – स

२ तस्मादेता चदार्था॰ – स

३ ॰संयुक्तेद्येतद॰ – स

४ *पा.गृ.सू.* १.६.१

५ ॰मुक्ता – स

६ तव्ये – स

७ कल्पैको – स

८ मद्य॰ – स

आधानं च तिष्ठता कर्त्तव्यम्। तिष्ठन्त्समिधः सर्वत्रेत्युक्तेः। [1]कर्काशयेन तु तिसृणामेवाधानं प्रतीयते। तन्मते 'उपयमनान्कुशानादाय समिधोऽभ्याधायेति। उपग्रहार्थान्कुशान् कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन तिस्रः समिध आदधाति। आसीनः सन्। न च तिष्ठन्त्समिधः सर्वत्रेति परिभाषातः श्रौते स्मार्त्ते च तिष्ठन्नेवादध्यादिति वाच्यम्। परिभाषातस्तिष्ठती प्राप्तापि कर्तृविशेषणीभूता क्रियां स्मार्त्ते पुनरुपादानाद्वक्ष्यमाणसूत्रेऽतोऽत्र न भवतीति। ''अग्निं पर्युक्ष्योत्तिष्ठन्त्समिधमादधातीति''[2]। तेन न स्मार्त्तकर्मणि सर्वत्र तिष्ठन्त्समिदाधानविधिमुपदिशति पारस्कराचार्यः।

।।श्रीः।।' पर्युक्ष्य ।।

पर्युक्षणञ्च सर्वप्रोक्षण्युद[3]केनैव कार्यमिति सर्वाचार्याभिमतम्। तेनाऽशेष[4]प्रोक्षण्युदकेनाग्नेः परि सर्वतः प्रदक्षिणं सेचनं कृत्वा। तथा च कर्काचार्यैः[5] प्रोक्षणीश्च पूर्ववदिति सूत्रव्याख्याने ''प्रोक्षणीसंस्कारश्च पर्युक्षणार्थ'' इत्युक्त्वेहोक्तं 'पर्युक्षणं प्रोक्षणी[6]भिरित्युक्तमिति'। अत्रास्मन्मते कर्काचार्यप्रणीतश्चशब्दो भिन्नक्रमो ज्ञेयः[7]। तेन प्राकृतबर्हिः प्रोक्षणार्थः पर्युक्षणार्थश्च। अतएवार्यचरणैर्बर्हिः प्रोक्षणम्। सशेषो मूलावसेक इत्युक्त्वोपविश्य पर्युक्षणं प्रोक्षण्युदकेन। पवित्रे निधाय प्रणीतास्वित्युक्तम्[8]। **कारिकायाम्।**

---

[1] कर्काशयेन इत्यारभ्य पारस्कराचार्य इति पर्यन्तः पाठः स–मातृकायां नोपलभ्यते। ग–मातृकायां अयं पाठः काकपदचिह्नितः सूक्ष्माक्षरेषु पृष्ठस्य उपरि भागे, ७ x......७x इति चिह्नयोर्मध्ये वर्तते।

[2] *पा.गृ.सू. २.४.३*

[3] ''प्रोक्षण्युदकेन सर्वेण सपवित्रेण दक्षिणचुलुकेन गृहीतेन अग्निमीशानादि उदगपवर्गम्परिषिच्य जुहुयात् आघारादीन्'' इति हरिहरः। प्रोक्षण्युदकेनाभ्युक्षणमिति गर्गः।

[4] – शेषा – स

[5] *पारस्करकृतस्मार्तसूत्रव्याख्यायाम्।*

[6] प्रोक्षणप्रेभि ॰ – स

[7] ज्ञेया – स

[8] क्तां ॰ – ग

सपवित्रेण हस्तेन[1] प्रोक्षणीपात्रवारिणा।
पर्युक्षणं भवेदग्नेरशेषेण प्रदक्षिणम्[2]।

प्रणीतासु पवित्रे द्वे कृत्वेति। **शांखायनगृह्यसूत्रे** विशेषः। **कुशतरुणाभ्यां प्रदक्षिणमग्निं त्रिः पर्युक्ष्येति[3]। पर्युक्ष्य जुहुया[4]दित्यपूर्वम्।** स्मार्तेऽग्नावाज्यतन्त्रमुक्त्वेदानीं स्थालीपाकादावगृह्ये चैतदुपदिष्टाऽतिदिष्टेतिकर्त्तव्यताकलापस्य विधानपूर्वकं प्रकृतिप्राप्ताऽऽरादुपकारकाणां परिसंख्यामाह।

।।श्रीः।। एष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोमः (१.१.५) ।।

यत्र क्वचिद्धोम[5]स्तत्रैष एव विधिर्यत्र स्थालीपाकादौ क्वचिदगृह्येऽपि विवाहकुशेण्ड्वादिषु। तथा[6] स्वसूत्राम्नाताऽतिरिक्तशान्तिकपौष्टिकादावपि। एष विधिर्यत्र क्वचिद्धोम इत्येतावतापि सिद्धेर्यदेवकारकरणं तदतिदेशप्राप्ताऽऽरादुपकारकव्यावृत्त्यर्थम्। सन्निपत्योपकारकास्तु प्रवर्त्तंत एव। सूत्रकारप्रवृत्तिदर्शनात्। दर्श[7]यति हि सूत्रकार आधाने प्राशनावसरविधिपरे वाक्ये प्रकृतिप्राप्तं बर्हिर्होमम्। **बर्हिर्हुत्वा प्राश्नातीति[8]।** न चाधाने बर्हिरुपदिष्टम्। न वा तद्धोमः। तेन प्रकृतिप्राप्तं बर्हिर्होमं निर्ज्ञातकालीनमनूद्य प्राशनस्य तदुत्तर[9]कालत्वमत्र

---

[1] हसोन – ग, स.

[2] णाम् – स

[3] *शां.गृ.सू.* १.८.१७

[4] *पा.गृ.सू.* १.१.४

[5] यत्र क्वचिद्धोमः शान्तिकपौष्टिकादिष्वपीति, क्वचिच्छब्दश्च गृह्याग्निव्यतिरेकेणापि यथाऽयं विधिः स्यादिति। यथा दावाग्निमुपसमाधाय घृताक्तानि कुशेण्ड्वानि जुहुयादिति" इति कर्काचार्याः।

[6] यथा – स

[7] दर्शति – ग, स.

[8] *पा.गृ.सू.* १.२.१२. "बर्हिर्होमश्चात्रैव विधानसामर्थ्यादिहैव वचनान्नान्यत्र" इति कर्काचार्याः।

[9] त्तरं – स.

विधीयते। प्रकृतौ च बर्हिर्वेदिस्तरणे उपयुक्तं तत्प्रतिपत्तिश्च होमः। भूतोपयोगित्वात्। न चाऽनुपयुक्तस्याऽपूर्वो होमः। अदृष्टप्रसंगात्। तस्मात्प्रकृतिप्राप्तस्यैव होमानुवादः। तत्प्राप्तिश्च[१] सन्निपत्योपकारकत्वाविशेषात्। तेनाऽपरिसंख्यातस्य सन्निपत्योपकारकस्य सर्वस्याप्यत्र प्रवृत्तिर्भवत्येव। आह च।

द्रव्यसंस्कारकं कर्म यावदुक्ते प्रवर्त्तते।
यथासंस्कारकं कर्म स्मार्त्ते तद्वत्प्रवर्त्तते। इति

यत्त्वेवकारस्य मन्त्रनिवृत्तिः प्रयोजनमुक्तं तन्न। दर्वीहोमत्वेन तथा प्राप्तत्वात्पुनरुक्तत्वापत्तेः। यत्तु मतं स्मार्त्तानामपूर्वत्वम्। [२]तत्रैष विधिरेव न मंत्राः समाम्नायाभावादिति। तत्र यदि समाम्नायाभावो हेतुस्तर्हि गृहोपस्थान[३]मप्यमन्त्रं स्यात्। तथा कालातिक्रमे नियत[४]वदित्यादावपि च। हेतोरविशिष्टत्वात्। न च कस्यापि तदिष्टम्। किञ्च। अप्राप्तप्रतिषेधो व्यवहितयोजना[५] चाऽतो यत्किंचिदेतत्। तस्मात्प्राच्यैव[६] व्याख्या ज्यायसी।

इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठकश्रीरामचन्द्रसूनुमहायाज्ञिकश्रीगंगाधरकृतायां पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तौ[७] प्रथमकाण्डे प्रथमा कण्डिका।।१।।



---

१ श्च श्च – स.

२ *पा.गृ.सू.* १.१.५. कर्कभाष्ये।

३ पस्थोन – स

४ कालातिक्रमे नियतक्रिया प्राप्तकालत्वात् इति *का.श्रौ.सूत्रे.* ७.१.२२ मानुषादिप्रतिबलात्कालव्यतिक्रमे नित्यानि कर्त्तव्यानि। प्राप्तो हि तेषां काल इतीति कर्काचार्याः।

५ ॰योजनाऽनाचाऽहो – स

६ प्राच्येव – ग, स

७ प्रवृत्तौ – स.

।। द्वितीया कण्डिका।।

मूलम् - *आवसथ्याधानं दारकाले।।१।। दायाद्यकाल एकेषाम्।।२।। वैश्यस्य बहुपशोर्गृहादग्निमाहृत्य।।३।। चातुष्प्राश्यपचनवत्सर्वम्।।४।। अरणिप्रदानमेके।।५।। पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः।।६।। अग्न्याधेयदेवताभ्यः स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति।।७।। त्वन्नोऽअग्ने सत्वन्नोऽअग्न इमम्मे वरुण तत्त्वा यामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तमं भवतन्न इत्यष्टौ पुरस्तात्।।८।। एवमुपरिष्टात् स्थालीपाकस्याग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति।।९।। स्विष्टकृते च।।१०।। अयास्याग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणात्यरीरिचं देवागातु विद इति।।११।। बर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति।।१२।। ततो ब्राह्मणभोजनम्।।१३।। (२)*

।।श्रीः।। आवसथ्याधानं दारकाले (१.२.१)।।

आवसथ्यस्य गृह्यस्य शालाग्नेराधानं स्वात्मसम्बन्धेनाङ्गीकरणम्। तद्दार[1]काले भवति। आवसथ्य इति यौगिकं नामधेयम्। आवसथसंयोगात्। वैश्वदेवे हि बलिहरणे श्रूयते। [2]मणिके त्रीन्। धात्रे विधात्र इति द्वार्ययोः। तथा पक्षादौ [3]बाह्यतः स्त्री बलिꣳ हरति। तथा [4]शालाग्निना दहन्ति।

१ तद्दप ॰ – स

२ *पा.गृ.सू.* २.९.३–४; "भूतगृह्येभ्यो मणिके त्रीन् पर्जन्यायादभ्यः पृथिव्यै। धात्रे विधात्रे च द्वार्ययोः" इति। शां.गृ.सू. २.१४.६–१३ पूष्णे पथिकृते धात्रे विधात्रे मरुद्भ्यश्चेति देहलीषु"। "पर्जन्यायादभ्य इति मणिके"।

३ *पा.गृ.सू.* १.१२.४

४ *पा.गृ.सू.* ३.१०.११; यदि प्रेतः आहितः स्यात् तदा एवं शालाग्निना आवसथ्येन दहन्ति पुत्रादय इति।

[1]शालाग्नौ चैक इति। तेनावसथे गृहे शालायामेव स्थापनं कर्त्तव्यम्। न बहिः। अतएव बहिःशालाविहिते कर्मणि लौकिकाग्निर्भवति। आवसथ्यस्य सर्वदावसथसम्बन्धात्। अतएवौपासनमरण्यं हृत्वेति बहिर्नयनविधानमुपपद्यते। अन्यथा कर्मसंबंधेन तस्यार्थप्राप्तत्वादवाच्यं स्यात्। यद्यप्यनेन नाम्नाऽस्मिन्सूत्रे संव्यवहारो नास्ति तथापि **''आवसथ्यमनादृत्य त्रेतायां यः प्रवर्त्तते। आवसथ्यं चतुष्पथे''** इत्यादौ संव्यवहारार्थम्।

दाराणां भार्यायाः कालो दारकालः। अत्र कर्काचार्याः[2]। ''दारशब्देन पाणिग्रहणादिसंस्कार[3]संस्कृतं स्त्रीद्रव्यमभिधीयते। तस्याहरणकालो दारकालः। अत्र केचित्पाणिग्रहणात्प्रागिच्छन्ति गृह्यकारान्तर[4]वचनात्। एवं हि तेनोक्तम् जायाया वा पाणिञ्जिघृक्षन्निति तत्पुनर्नातीव युक्तम्। येनाद्याप्यसंस्कृतमेव स्त्रीद्रव्यम्। न चासंस्कृतं तत्सहायतां[5] प्रतिपद्यते, ससहायस्य कर्मस्वधिकारः[6]। समध्यक[7] हि द्रव्यन्नैकः शक्नोति परित्यक्तुम्। पत्न्यपि च तेन विनाऽनधिकृतैव। तस्मात्ससहायस्याधिकारः[8]। तथा च लिङ्गम्। असर्वो हि तावद्भवति यावज्जायान्न विंदत इति। अतश्च संस्कारनिर्वृत्युत्तरकालं दारकालः[9]।

---

१ *पा.गृ.सू.* ३.१०.३३; शालाग्नौ साध्यानि सायं प्रातर्होमस्थालीपाकादीनि वर्जयित्वा नित्यानि निवर्त्तेरन्नित्येके मन्यन्ते।

२ *पा.गृ.सू.* १.२.१. स्मा. सू. व्याख्यायाम्

३ ॰ ग्रहसंस्कार – स। ग्रह इत्यधिकम्

४ ॰ कायांतर॰ – स। पाठभेदः प्रायेण प्राप्यते।

५ ॰ ता – स

६ ॰ कारा – स.; ''ससहायस्य च'' इति कर्कभाष्ये।

७ ''मध्यगं हि दम्पत्योर्द्रव्यन्नैकः'' इति स्मा. सू. व्याख्यायाम् पाठभेदः।

८ – काराः – स.

९ ॰ त्तरकालः – ग। दारकालः इति नास्ति स – मातृकायाम्। ''अतः संस्काराभिनिर्वृत्यु॰'' इति कर्कभाष्ये।

अपि च स्मरन्ति तानेव[1] दारान्प्रकृत्य धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्यमिति। पूर्वञ्च क्रियमाणे[2] एकेनाग्निराहितो भवति। तथा सत्यतिचारः स्यात्। तस्माच्चतुर्थ्युत्तरकालन्दारकाल इति सम्प्रदायः। यत्पुनरुक्तं –

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत[3] गार्ह्यं कर्म यथाविधि
पञ्चयज्ञविधानञ्च पक्ति[4]ञ्चान्वाहिकीं गृही। इति

तद्विवाहसम्बन्धादुत्तरकालमपि क्रियमाणो[5] भवतीत्याहुः। तन्नेत्यपरे। सूत्रकारप्रवृत्तेः। सूत्रकारेण हिं प्रथमं[6] सकल[7]कर्मसाधारणीतिकर्त्तव्यतोपनिबद्धा। तत **आवसथ्याधानं दारकाल**[8] इत्यादिनावसथ्याधानम्। ततः [9]**षडर्घ्या भवन्ती**त्यादिना विवाहः। **अस्तमिते च सूर्ये ध्रुवदर्शनम्**[10]। तत **उपयमनप्रभृत्यौपासनस्य परिचरण**[11]**मि**त्यादिना प्राप्तकालमौपासनाग्नेः परिचरणम्। ततो भार्यायाः स्वगृहानयने रथाक्षभङ्गा[12]दिनिमित्ते नैमित्तिकम्। ततश्**चतुर्थीकर्म।**[13] ततः

---

१ "तमेव दारकालम्प्रकृत्य" इति स्मा. सू. व्याख्यायां पाठभेदः।

२ "क्रियमाणे आधाने एकाकिनाऽग्निराहितो" इति पाठभेदः कर्कव्याख्यायाम्।

३ कुर्यात – स.; *मनुस्मृतौ* ३.६७ 'गृह्यम्' इत्यपि पाठो मिलति।

४ पंक्तिं – स। ० हिकिं – स

५ "क्रियमाणोऽसौ वैवाहिको भवत्येव" इति स्मा. सू. व्याख्यायाम् कर्काचार्याः।

६ प्रथम – स

७ संकल्प – स

८ दारभ्यकाल – स

९ *पा. गृ. सू.* १.३.१

१० *पा. गृ. सू.* १.८.१६.

११ *पा. गृ. सू.* १.९.१.

१२ *पा. गृ. सू.* १.१०.१.

१३ *पा. गृ. सू.* १.११.१.

कालप्राप्तं **पक्षादिकर्म**[1] चेति। दृश्यते च सर्वशाखान्तरसूत्रे पाणिग्रहणात्पूर्वमाधानं पाणिग्रहणादिगृह्यपरिचरणञ्च। **ब्रह्मचारी**[2] **त्वेदमधीत्यान्त्यां समिधमभ्याधास्यन्।** [3]**जायाया वा पाणिं जिघृक्षन्निति गोभिलसूत्रे।** तथा तत्रैव सायमाहु[4]त्युपक्रम एवाऽत ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ होमो विधीयत इति। तथा च कात्यायनः[5] –

यस्य दत्ता भवेत्कन्या वाचा सत्येन केनचित्।
सोऽन्त्यां समिधमाधास्यन्नादधीतैव नान्यथा।।
अनूढैव तु सा कन्या पञ्चत्वं यदि गच्छति।
न तथा व्रतलोपः[6] स्यात्तेनैवान्यां समुद्वहेत्।।
अथ चेन्न लभेतान्यां याचमानोऽपि कन्यकाम्।
तमग्निमात्मसात्कृत्वा क्षिप्रं स्यादुत्तराश्रमी।।

तथा **शांखायनः।** अभिसमावर्त्स्यमानो यत्रान्त्यां समिधमभ्याद-ध्यात्तमग्निमिन्धीत[7]। वैवाह्यं वेति[8]। तथा "ध्रुवं पश्यामि प्रजां विन्देयेति" ब्रूयात्[9]। त्रिरात्रं ब्रह्मचर्यं चरेयाताम्[10]। अधः शयीयाताम्[11]। दध्यौदनं सम्भुञ्जीयातां "पिबतञ्च तृप्णुतञ्चेति" तृचेन[12]। सायं

---

१ *पा.गृ.सू.* १.१२.१.
२ *गोभिलगृह्यसूत्रम्* १.१.७.
३ *गो.गृ.सू.* १.१.८.
४ *गो.गृ.सू.* – १.१.२३.
५ *कात्यायनस्मृतौ* ६.१३–१५; – धर्मशास्त्रसङ्ग्रहः, जीवानन्दविद्यासागर-भट्टाचार्येण सम्पादितः, कलिकाता, १८७६.।
६ "न तथा व्रतलोपोऽस्य तेनैव ॰ इति पाठभेदः स्मृतौ।
७ *शां गृ. सू.* १.१.२.
८ *शां गृ. सू.* १.१.३.
९ *शां गृ. सू.* १.१७.४.
१० *शां गृ. सू.* १.१७.५.
११ *शां गृ. सू.* १.१७.६.
१२ *शां गृ. सू.* १.१७.७. गृह्ये 'दध्योदनं' इति पाठः।

प्रातर्वैवाह्यमग्निं परिचरेयातामग्नये स्वाहेत्यादि[1]। **आश्वलायनसूत्रे** च पाणिग्रहणादि गृह्यं[2] परिचरेदिति[3] न चाऽनियमः फलसंयुक्तेषु[4]। क्रमो विध्यर्थः, कर्मण्यसंभवा[5]दित्यनेन पाठक्रमो बाध्यत इति वाच्यम्। अनेनापि क्रमेणानुष्ठानसंभवात्। शाखांतरसहकृताऽऽवसथ्याधानं दारकाल इति स्वसूत्रवचनाच्च। यत्तु [6]येनाऽद्याप्यसंस्कृतमित्यादि तद्वचनेन बाध्यते। न चेदमेकान्ततः ससहायस्यैव। सहायोपलब्धेः प्रागपि विधानात्। यच्च ससहायस्यैवेति[7] तदनैकान्तिकमनन्तरमेवोक्तम्। तदाहुरपत्नी-कोऽप्यग्निहोत्रमाहरेदित्यादिविधानात्। सहायवतोऽपि पितृयज्ञे तत्परिसंख्यादर्शनात्। रजस्वलायामपि दर्शपूर्णमासाद्यनुष्ठानदर्शनाच्च। तथा स्वश्रुतौ सूत्रे च "यस्यो पत्नी न भवत्यग्र एव तस्याहवनीयेऽधिश्रयतीति[8]। अपत्नीकस्या[9]हवनीये तच्छ्रापिण इति दर्शनात्। यच्च मध्यगमिति। तदप्यनै[10]कान्तिकम्। अविभक्ते पुत्रे पितुरिव। जातमात्रस्य हि पितृद्रव्ये स्वत्वोत्पत्तेः। पितुरूर्ध्वं

---

१ *शां.गृ.सू.* १.१७.८. "अग्नये स्वाहाऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति" इति।

२ पाणिग्रहणप्रभृतिगृह्यमग्निं परिचरेत् स्वयं पत्न्यादयो वा। पाणिग्रहणादिवचनं गृहप्रवेशनीयहोमानन्तरकाले प्रारम्भाशङ्कानिवृत्त्यर्थम् इति नारायणः।

३ *आ.गृ.सू.* १.६.१. "परिचरेत् स्वयमिति" गृह्ये पाठः।

४ *का.श्रौ.सू.* १.५.१६. "फलसंयुक्तेषु प्रधानकर्मसु इष्टि – पशु – सोमादिषु अनुष्ठाने पाठतः क्रमनियमो नास्ति" इति विद्याधरशर्मणा कृतायां वृत्तौ।।

५ *का.श्रौ.सू.* १.५.१७.

६ कर्कभाष्यम्।

७ नेति – स.

८ *का.श्रौ.सू.* २.५.१७ इत्यस्य कर्कभाष्ये उद्धृतम्।

९ *का.श्रौ.सू.* २.५.१७. "अपत्नीक इति नाविद्यमानया पत्न्या। अधिकाराभावात्। तस्माद्विद्यमानाऽपि पत्न्यपत्नीवत् यदा रजस्वला तदैतद्भवति। तथा चाह" व्रत्येऽहनि यस्य पत्न्यनालम्भुका स्यात्तामपरुध्य यजेत" इति। आहवनीयश्रापिणोऽपत्नीकस्याहवनीये एवाज्याधिश्रयणमिति" कर्काचार्याः।

१० ० तैकान्ति ० – स

मातर्यविभक्तायां कनिष्ठेन च भ्रातर्यविभक्ते ज्येष्ठस्याधिकारदर्शनात्। विद्यमानायां च पत्न्यां पितृयज्ञे। किञ्च। सत्यामपि पत्न्यां द्रव्यत्यागो यजमानेन कर्त्तव्यः। यच्च लिङ्गम्। तन्नातीव शोभते। सरोक्ष्यन्जायामामंत्रयत इति प्रकृत्य तस्मात्[१] "यावज्जायान्न विन्दते नैव तावत्प्रजायतेऽसर्वो हि तावद्भवत्यथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवतीति" प्रजननेन सर्वत्वाभिधानदर्शनात्। न च प्रजननोत्तरं गृह्याधानम्। यच्च पूर्व क्रियमाणे[२] इत्यादि तत्र परिग्रहोत्तरे कर्मण्यतिचारो निषिद्धो न ततः प्राक्कालीने। वचनादुत्तरेऽप्यतिचारः स्यादेव। तस्माद्दारकरणात्पूर्वमाधानमिति। भर्तृयज्ञपादास्तु पित्रा प्रत्ता[३]मादाय गृहीत्वा निष्क्रामतीत्येष दारकालः। कृतदारस्य पाणिग्रहणसंस्कारमात्रमित्याहुः। अन्ये पुनः प्राक् ध्रुवदर्शनाद्दारकालं मन्यन्ते। सर्व एवाऽयं दारग्रहणविधिरिति। युक्तं चैतत्। विवाहकर्मसमाप्त्यनन्तरमस्तमिते हि ध्रुवदर्शनं पठ्यते। ततोऽग्नि-परिचरणमिति। चतुर्थीकर्मोत्तरमाधानमित्यार्यपादाः।

।।श्रीः।। [४]**दायाद्यकाल एकेषाम्** (१.२.२) ।।

एकेषामाचार्याणां मते दायाद्यकाले आवसथ्याधानं कर्त्तव्यम्। एवमपि स्मर्यते। पैतृकस्य द्रव्यस्याऽविभक्तभ्रात्रार्जितस्य[५] वा पित्रा भ्रातृभिर्वा सह यो विभागकालः स दायाद्यकालः। स च ज्येष्ठकर्त्तृकः। तच्च तदनन्तरमेव। तस्मिन्हि काले स्वेन द्रव्येण कर्मानुष्ठानसमर्थो भवति। प्राक्तु साधारणद्रव्यस्य परित्यागासामर्थ्यादनधिकार एव। एतच्च पुत्रस्य कनिष्ठभ्रातुर्वा पितुर्ज्येष्ठभ्रातुर्वा। ततः प्राक्साधारणद्रव्येऽपि विहितकाले आधानं प्रवर्त्तत एव।

---

१ *शतपथ.* ५.२.१.१०, प्रकृत – स

२ कर्काचार्याः गृहयसूत्रभाष्ये।

३ मत्तामाय – स.

४ दामाद्य–स.

५ भ्रात्रर्जित – ग, स.

''कृतदारो[1] गृहे ज्येष्ठो यो नाऽदध्याद्धुता[2]शनम्।
चान्द्रायणं चरेद्वर्षं प्रतिमासमहोऽपि वा''। इति वचनात्।

तथा –

''भ्रातृणामविभक्तानामेको धर्मः प्रवर्त्तते।
विभागे सति धर्मोऽपि भवेत्तेषां पृथक्पृथक्'' इति मनु[3]वाक्यात्।

एक इति ज्येष्ठ एव।

''ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानव''[4]

इति तेनैवोक्तत्वात्। तथा स एव।

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकांक्षया[5]।
पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया[6]।'' इति।

व्यासः

भ्रातृणां जीवतोः पित्रोः सहवासो विधीयते।
तदभावे विभक्तानां धर्मस्तेषां विवर्द्धते।

अत्राऽपरार्केऽपि। यदा तु प्रगल्भतया ज्येष्ठेनाविभक्तधनाः कनीयांसो भवन्ति तदा तेषामावश्यकं वैश्वदेवाद्यपि न विभज्यते। यदाह **बृहस्पतिः**–

---

१ द्रष्टव्यः *स्मार्त्तोल्लासः* श्रीशिवप्रसादकृतः प्रथमो भागः, १६३३, महामहो. गोपीनाथकविराजमहोदयेन सम्पादितः, पृ. ५

२ दध्यादुपासनम्– स्मार्तोल्लासे पाठः।

३ *मनुस्मृतिः* मन्वर्थमुक्तावल्या समुपेता जगदीशलालशास्त्रिणा सम्पादिता, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६८३.

४ *मनुस्मृतिः* ६.१०६ ''उत्पन्नमात्रेण ज्येष्ठेन संस्काररहितेनापि मनुष्यः पुत्रवान्भवति। अतो ज्येष्ठ एव सर्वधनमर्हति पूर्वस्य'' इति कुल्लूकः।

५ *मनुस्मृतिः* ६.१११ ''धर्मकाम्यया'' इति पाठभेदः।

६ ''यस्मात्पृथगवस्थाने सति पृथक् पृथक् पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानधर्मस्तेषां वर्धते, तस्माद्विभागक्रिया धर्मार्था'' इति कुल्लूकः।

एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्।
एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद्गृहे गृहे[1]। इति

तथा

''[2]पितृपाकोपजीवी स्याद् भ्रातृपाकोपजीवक'' इति।

आथर्वणसूत्रे[3] च। ''पित्र्यमग्निं शमयिष्यन्ज्येष्ठस्य चाविभक्तिन एकाग्निमाधास्यन्नमावास्यायां पूर्वस्मिन्नुपशाल'' इति। अतएव **व्यवहाराध्याये दायप्रकरणे मिताक्षरायाम्**[4]। ''इद[5]मिदानीं संदिह्यते। किं विभागा[6]त्स्वत्वमुत स्वस्य सतो विभाग इति। तत्र विभागात्स्वत्वमिति[7] तावद्युक्तम्। जात[8]पुत्रस्याधानविधानात्। यदि जन्मनैव स्वत्वं स्यात्

१　द्रष्ट. बृहस्पतिः (अपरार्कः पृ. ७१६): कुल्लूकः, मनुः ६.१११: हरदत्तः (गौतमः १८.४); विवादरत्नाकरे पृ. ४५६. क्राणेमहोदयस्य धर्मशास्त्र का इतिहास-ग्रन्थः (२) पृ. ८५१

२　गार्ग्यः— पितृपाकोपजीवी वा भ्रातृपाकोपजीवकः।
ज्ञानाध्ययननिष्ठो वा न दुष्येदग्निना विना।। (स्मार्तोल्लासे भागः१, पृ.७)
यथा संध्या यथा स्नानं वेदस्याध्ययनं यथा।
तथैवोपासनं प्रोक्तन्न स्थितिस्तद्वियोगतः।
योऽगृहीत्वा विवाहाग्निं गृहस्थ इति मन्यते।
अन्नं तस्य न भोक्तव्यं वृथापाको हि स स्मृतः। (गदाधरभाष्ये, पृ. २३)

३　*कौशिकसूत्रदारिलभाष्यम्* इत्यस्य (तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पुणे, १९७२) परिशिष्टे, द्वितीये पृष्ठे 'एपेन्डिक्स. ए. के. एस. ६६.१' इति समुल्लिखितं वर्तते।

४　*याज्ञवल्क्यस्मृतिः* (याज्ञ. स्मृ.) मिताक्षरासंवलिता, निर्णयसागरमुद्रणालयः, मुम्बई—२, तृतीयावृत्तिः १९२६.

५　याज्ञ. स्मृ. दायविभागप्रकरणम् — ८.११३ पाठभेदः दृश्यते, पृ. १९६

६　॰ भागागात् — स; किं— नास्ति ग, स

७　॰ स्वमिति — ग, स

८　॰ पुत्रो — स

तदोत्पन्नस्य[1] पुत्रस्यापि तत्स्वं साधारणमिति द्रव्यसाध्येष्वाधानादिषु पितुरनधिकारः स्यात्'' इत्यादिपूर्वपक्षीकृत्य पुत्रादीनां जन्मनैव स्वत्वमिति सिद्धम्। ''तेन यदप्यर्थसाध्येषु वैदिकेषु[2] कर्मस्वनधिकार इति तत्र तद्विधानबलादेवाधिकारो गम्यते। तस्मात्पैतृके पैतामहे च द्रव्ये जन्मनैव स्वत्वम्, तथा पितुरावश्यकेषु[3] धर्मकृत्येषु वाचनिकेषु प्रसाद[4]दानकुटु[5]म्बाभरणापद्विमोक्षादिषु च स्थावरव्यतिरिक्त[6]द्रव्यविनियोगे स्वातन्त्र्यमिति स्थितमिति[7]''। तथा तत्रैव। '' अप्राप्त[8]व्यवहारेषु पुत्रेषु[9] पौत्रेषु वाऽनुज्ञादानादावसमर्थेषु भ्रातृषु वा तथा विधेष्वविभक्तेष्वपि सकलकुटुम्बव्यापिन्यामापदि तत्पोषणे वाऽवश्यकेषु च पितृश्राद्धादिषु स्थावरस्य दानाधमनविक्रयमेकोऽपि समर्थः[10] कुर्यादितीत्युक्तम्[11]। दायाद्यकाले वेति वक्तव्ये एकेषामिति सूत्रणं शाखान्तरीयकालान्तर-प्राप्त्यर्थम्। तथा **चाऽथर्वणसूत्रे**[12]। ''पित्र्यमग्निं शमयिष्यन्ज्येष्ठस्य चाविभक्तिन एकाग्नि[13]माधास्यन्नमावास्यायाम्। पूर्वस्मिन्नुपशाल इति।

---

१ उत्पन्नपुत्र. – ग, स

२ नास्ति ग – स – मातृकयोः, याज्ञ. स्मृ. – दायवि, ८.११३, पृ. २००

३ ॰श्यके – ग, स.

४ प्रसादानकु ॰ – स

५ ॰टुम्बाध्भर ॰ – स

६ व्यतिरिक्तेषु – ग, स

७ *याज्ञ. स्मृ.*, दायवि. : ८,११३ पृ. २००

८ अप्रादा० – स

९ पुत्रपौत्रेषु – ग, स

१० समर्था – स.

११ याज्ञ. स्मृ० दायवि. ८.११३; पृ. २००

१२ तदेव। द्र० पूर्वपादटि०

१३ एकामिता ॰ – स

तच्च पितरि जीवति विवाहितस्याविभक्तस्य[1] ज्येष्ठस्य पितृमरणाव्यवहित-पूर्वकालीनामावास्यायाम्। अमावास्याग्रहणन्नक्षत्राणामप्युपलक्षणार्थम्। तेनामावास्यायां पौर्णमास्यामुक्तनक्षत्रेषु वा शुक्लपक्षे पितृमरणात्पूर्वमव्यवहितकाले कर्त्तव्यम्। न दारकाले तस्याधिकारः। साधारणद्रव्यपरित्यागासामर्थ्यात्। ''पितृपाकोपजीवी स्यादि[2]त्युक्तेश्च। तत्र पितृमरणपूर्वकालेऽसन्निधानादिनाऽशक्तौ तु प्रेते पितरि सूतकोत्तरभाविपर्वनक्षत्राणामन्यतमे काले अव्यवहिते। तदुक्तं **शांखायनसूत्रे**[3]। दायाद्यकाल एके। प्रेते वा गृहपतौ स्वयं ज्यायान्। वैशाख्याममावास्यायामन्यस्यां[4] वा। कामतो नक्षत्र एक इति। गृहपतौ पितरि पितामहे पितृव्यके ज्येष्ठे वा भ्रातरि प्रेते मृते स्वयं ज्यायान्ज्येष्ठः पुत्र इतरभ्रात्रपेक्षया ज्येष्ठो भ्राता वाऽनुजैरविभक्तोऽपि सपत्नीकश्चेत्स्वयं गृहपतित्वेन कुर्यादेव। ''कृतदारो. गृहे ज्येष्ठ'' इत्युक्तेः। तत्रापि विशेषकालापेक्षायां वैशाख्या[5]ममावास्यायामन्यस्यां वामावास्यायाम्। बहुकालव्यवधाने[6]ऽहर्द्विलेखे विशेषमाह कामतो नक्षत्र इति। तच्च कृत्ति[7]कादिशास्त्रान्तरोक्तं ज्ञातव्यम्। कामत[8] इत्यनेन पौर्णमासी-ज्यौत्स्नपक्षयोरपि यथासंभवं परिग्रहो ज्ञेयः। वाक्यान्तरात्। तदुक्तं श्रौतसूत्रे[9] अमावास्यायां पौर्णमा[10]स्यां वादधीत [11]शुक्लपक्षे वा पुण्ये

---

१ ०भक्तस – स

२ गार्ग्यः

३ *शां. गृ.* १.१.४.७ आवसथ्याधानप्रकरणे

४ *शां. गृ.* १.१.६.; ०ख्यामावास्यायाम् – ग

५ ०ख्यायामन्यस्यां वामावास्यायां– स; ०ख्यामावास्या० – ग

६ ह द्वि० – स, ह्वद्वि. – ग

७ कृति ः – स

८ कालत – स

९ *शां. श्रौ. सू.* २.१.७–६, औत. – स।

१० ० मस्यां – स

११ ०शुद्धपक्षे–शांखा०।

नक्षत्रे कृत्तिकाप्रभृतीनि त्रीणि फल्गुनीप्रभृतीनि चेति। **छन्दोगसूत्रेऽपि**[1]। "प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठीकरणम्"[2]। "तथा [3]तिथिनक्षत्रपर्वसमवाये"। "[4]दर्शे वा पौर्णमासे वाऽग्निसमाधानं कुर्वीतेति। परमे यथोक्तायतनसंस्कारसंस्कृते उत्कृष्टे स्थाने ति[5]ष्ठतीति परमेष्ठी अग्निस्तस्याग्नेः करणमात्मसात्करणं स्थापनमाधानमिति यावत्[6]। **मानवसूत्रे**[7] च। "[8]औद्वाहिकं प्रेतपिता शालाग्निं कुर्वीत। अन्यत्र ततः प्रेते पितरि [9]ज्वलयन्तोऽग्निं जागरेयुः पर्वणि ज्यौत्स्ने पुण्यनक्षत्रे[10]ऽन्यत्र

---

१ *गो. गृ. सू.* १.१.१२.

२ ०ष्ठि – *गो. गृ. सू.* १.१.१२.
आधानस्य तु चत्वार उक्ताः कालाः पृथक् पृथक्।
अन्त्या समिद्विवाहश्च विभागः परमेष्ठिनः।। इति गृह्यासङ्ग्रहे।"

३ *गो.गृ.सू.* १.१.१३. तथेति वैकल्पिकत्वं दर्शयति। नक्षत्रशब्दश्चैको लुप्तवत् द्रष्टव्यः। "नक्षत्रशब्दः काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते" – इति भट्टनारायणोपाध्यायाः। तिथिश्च नक्षत्रञ्च तिथिनक्षत्रे, नक्षत्रञ्च पर्व्व च नक्षत्रपर्वणी, तयोस्तयोश्च समवायस्तस्मिन्निति।" "तथा" इति नास्ति ग–स–मातृकयोः।

४ *गो.गृ.सू.* १.१.१४.

५ तिष्ठतीति नास्ति स–मातृकायाम्।

६ परमे श्रेष्ठे स्थले तिष्ठतीति परमेष्ठी अग्निरित्याचक्षते। तस्य परमेष्ठिनोऽग्नेः करणम् – यथोक्तेन विधिना स्वीकरणं समाधानमित्येतत्। कर्त्तव्यमिति वाक्यशेषः। तच्चैकादशेऽह्नि स्यात् – इति भट्टभाष्यम्। *गो. गृ.भाष्यं* १.१.१४. द्रष्टव्यम्।

७ मानवगृह्यसूत्र ऑफ दि मैत्रायणीय शाखा विद दि कमेन्ट्री ऑफ अष्टावक्र, *(मा.गृ.सू.)* रामकृष्ण हर्ष जी शास्त्री, पाणिनि, नई दिल्ली, १९८२.

८ अद्वा० – स

९ "प्रज्वललन्तोऽग्निं जागरयेयुः" इति मानवसूत्रे पाठः।

१० पुण्ये नक्षत्रे इति मानवसूत्रे पाठः।

नवम्या[१] इति। तच्च सपिण्डीकरणोत्तरमाभ्युदयिकं कृत्वैव कार्यम्। तथा च **शांखायन**भाष्यकारः। गृहपतौ गृहाणां पतिः स्वामी तस्मिन्पितरि ज्येष्ठे भ्रातरि वा प्रेते मृते सति सपिण्डयित्वाऽनुजैरविभक्तोऽपि ज्यायान्ज्येष्ठः पुत्रः स्वयमृत्विङ्निरपेक्षोऽग्निमादधीतेति। **शांखायनकारिकायां** च।

रिक्थ[२]ग्राही यथा ज्येष्ठं सपत्नीकोऽधिकारवान्।
प्रेते पितरि वा कुर्याज्ज्येष्ठः पुत्रोऽग्निधारणम्।
सपिण्डयित्वा पितरमविभक्तोऽनुजैरपि। इति

अतएवाऽनग्निकसपिण्डीकरणकालविधो हेमाद्रिः। उक्तञ्च पुलस्त्येन।

अनग्निकः सपिण्डत्वं पितुर्मातुश्च धर्मवित्।
पूर्णे संवत्सरे कुर्याद् वृद्धिर्वा यद[३]हर्भवेदिति।

वृद्धिश्चौडमौञ्जीविवाहादिरूपोऽभ्युदयः। उपलक्षणं चैतन्नान्दी-श्राद्धनिमित्तभूतस्य कर्ममात्रस्य। एतत्स्वप्नाध्यायाधानाद्युप-संप्राप्तावित्यु[४]शनसो वचनेन कर्त्तु[५]न्नान्दीमुखमिति **शाट्यायन**वचनेन स्फुटीभविष्यति। सैषा यस्मिन्दिने वृद्धिरापद्यते ततः प्रागेवाऽपकृष्य सपिण्डीकरणं कृत्वा तदङ्गभूतनान्दीश्राद्धं कुर्यादित्यर्थः। अनेन प्रवृत्ताधिकारस्यापरिसमापितप्रेतश्राद्धस्य चौडमौञ्जीविवा[६]हाधानादौ तदङ्गभूते च नान्दीश्राद्धेनाधिकारो दर्शितः। आह **लघुहारीतः**[७]

---

१ *मा.गृ.सू., २.१–२.*"

२ रित्क्व – ग. स.

३ यँ – स

४ ० विश्यु – स.

५ कर्मन्नांदी – स

६ ० विभाहाधानौदौ – स.

७ ० हासीतः – स.।

भ्राता वा भ्रातृपुत्रो वा सपिण्डः शिष्य एव वा।
सह पिण्डक्रियां कृत्वा कुर्यादभ्युदयं ततः।। इति।

नागरखंडे।

ततः सपिण्डीकरणं वत्सरादूर्ध्वतः स्थितम्।
वृद्धिर्वाऽऽगामिनी चेत्तदर्वागपि च कारयेत्। इति।

आधानाङ्गभूतनान्दीश्राद्धात्प्रागपकर्षमभिप्रेत्याहोशनाः।

पितुः सपिण्डीकरणं वार्षिके मृतवत्सरे।
आधानाद्युपसंप्राप्तावेतत्प्रागपि वत्सरात्। इति।

एवमेवाऽपरार्क-मदनपारिजात-देवयाज्ञिक-प्रभृतिसर्वैर्निबंधकारैरुक्तम्। एतेन **छन्दोगभाष्य**मूलकम्।

एतद् गृहपतौ प्रेते कुर्यादेकादशेऽहनि।
प्रागेवैकादशात्श्राद्धाद्वृद्धिश्राद्धविवर्जितम्[1]**।।**

इति **कारिकाकारो**क्तं परास्तम्।

न चोत्क्रान्त्यादिसपिण्डीकरणान्ते प्रेतश्राद्धे आवसथ्याग्नेरुपयोगोऽस्ति।

सपिण्डीकरणान्तानि प्रेतश्राद्धानि यानि वै।
तानि स्युर्लौकिके वह्नाविति शाट्यायनोऽब्रवीत्।

इति सर्वनिबंधकारलिखितवाक्यात्। तथा च **शांखायन-गृह्यकारिकायाम्** –

---

१ *गो.गृ.सू.* १.१.१४. इत्यस्य भाष्ये कात्यायनस्य मतमुद्धृतं पाठभेदेन – "प्रागेवैकादशात् श्राद्धात् सद्यो जागरणादिकम्" इति चन्द्रकान्त–तर्कालंकारः पृ. ४७; ०दशश्राद्धवृद्धि......विवर्जितवैर्नि० – स; गदाधरभाष्ये उद्धृतं, पृ. २३

नहि प्रहुतसंबंधः प्रेतश्राद्धेषु विद्यते।
कृतेषु तेषु शास्त्रेण पितृलोकाप्तिरिष्यते। इति

ततश्चेयं व्यवस्था। जीवपितृकस्य विभक्तस्याऽविवाहितस्य दारकाल एव। "कृतदारो गृह" इत्युक्तेः। मृतपितृकस्याऽविवाहितस्य ज्येष्ठस्य भ्रातृमतोऽभ्रा[1]तृमतो वाऽविभक्तस्य विभक्तस्य वा दारकाल एव। [2]औद्वाहिकं प्रेतपिता शालाग्निं कुर्वीतेति **मनुसूत्रात्**[3]। कृतदार इत्युक्तेश्च। ज्येष्ठभ्रातृमतोऽविवाहितस्य विभक्तस्य दारकाल एव। जीवपितृकस्याऽविभक्तस्य विवाहितस्य विभागकाल एव। न ततः प्राक्। द्रव्यत्यागाऽसामर्थ्यात्। जीवपितृकस्याऽविभक्तस्य विवाहितस्य पितृमरणे उपस्थिते तत्कालीनाऽमावास्यादिकालविशेष एव। न ततः प्राक्। द्रव्यत्यागाऽसामर्थ्यात्। "पित्र्यमग्निं शमयिष्यन्ज्येष्ठस्य चाविभक्तिन एकाग्निमाधास्यन्नमावास्यायां पूर्वस्मिन्नुपशाल" इत्या**थर्वणसूत्रात्।** तस्याऽसन्निध्यादिना तत्कालाऽसंभवे पितृमरणोत्तरं सपिण्डीकरणं कृत्वाऽव्यवहिताऽमावास्यादिकाले। एवं ज्येष्ठभ्रातृमरणे उपस्थितेऽविभक्तभ्रातुः। ज्येष्ठभ्रातृमतो विवाहितस्याऽविभक्तस्य विभागकाल एव। प्राक् द्रव्यत्यागाऽसामर्थ्यात्। जीवपितृकस्य विवाहितस्याऽविभक्तस्य [4]यदि विभागस्तदा विभागकाल एव। "कृतदारो गृहे ज्येष्ठ" इत्युक्तेः। न ततः प्राक्। द्रव्यत्यागाऽसामर्थ्यात्। एवं ज्येष्ठभ्रातृमतो विवाहितस्याऽविभक्तस्य यदि विभागस्तदा विंभागकाल एव। एतच्च पितुर्ज्येष्ठभ्रातुर्वाऽग्निमत्वे सत्येवाऽधिकारो नान्यथा। यदाह सुमंतुः।

ज्येष्ठो भ्राता यदा तिष्ठेत्पिता वापि पितामहः।
कनिष्ठपुत्रपौत्राणामाधानन्नैव कारयेत्। इति

---

१ नास्ति स – मातृकायाम्

२ अद्वा० – स

३ (?)

४ वियदि – स (वि इत्यधिकः)।

यदा पित्रादिरकृताधानस्तिष्ठेदिति व्याख्येयम् आर्त्विज्यरूपस्य कारणस्य रागतः प्राप्तत्वात्कुर्यादिति व्याख्येयम्। एतया निषादस्थपतिं याजयेदितिवत्। मृतपितृकस्यापि विद्यमानपितामह[1]स्य नाधानमिति दर्शयितुं पितामहग्रहणम्। अनुज्ञायां नु नायं निषेधः। [2]**अनुज्ञातस्तु कुर्वीत शंखस्य वचनं यथेति** तेनैवोक्तत्वात्।

अग्रजस्तु यदा [3]नाग्निरादध्यादनुजः कथम्।
अग्रजानुमतः कुर्यादग्निहोत्रं यथाविधि[4]

इति वृद्धवसिष्ठस्मरणात्।

पिता पितामहो यस्य चाग्रजो[5] वाप्यनग्निमान्।
तपोऽग्निहोत्रमन्त्रेषु न दोषः परिवेदने।

इत्युशनः स्मरणाच्च। तपो वानप्रस्थसन्यासाश्रमौ। वानप्रस्थतैव वा। अग्निहोत्रं तदुपकारकमाधानम्। अग्निहोत्रग्रहणं स्मार्त्ताग्नेरप्युपलक्षकम्। अनग्निमानित्युपक्रमात्। मन्त्रो वेदाध्ययनम्। मन्त्रसाधनं वा। सुमंतुवाक्यैकवाक्यतया चैतदनुज्ञाविषयम्। एवमेव सोमयागादावपि [6]पित्रादिष्वकृतसोमयागादिषु विद्यमानेषु पुत्रादेरनधिकारः। तथा च **त्रिकाण्डमण्डने।**

परीष्टिदोषसंप्राप्तौ न यष्टव्यं कदाचन।
दर्शेष्टिं पौर्णमासेष्टिं सोमेज्यामग्निसंग्रहम्।
अग्निहोत्रं विवाहं च प्रयोगे प्रथमे स्थितम्।
न कुर्याज्जनके ज्येष्ठे सोदरे चाप्यकुर्वतीति।

---

१ ० माह – स

२ सुमन्तुः। *स्मार्तोल्लासे,* पृ. ८

३ नाग्निराध्याद० – स

४ विधीते – स

५ अग्रओ – स

६ 'पि' नास्ति – स (त्रादि)

दर्शपूर्णमासयोः पृथगुपादानं कृते पौर्णमासे प्रतिबन्धादिना चाकृतेऽपि दर्शे दोषं वक्तुम्। एवमग्निसंग्रहाग्निहोत्रयोः कृताधानस्याऽकृताऽग्निहोत्रविषयम्। अग्निहोत्रग्रहणमौपासनपरिचरणस्याप्युपलक्षकम्। अग्निसंग्रहमित्यविशेषोपादानात्। दर्शेष्टिं पौर्णमासेष्टिमिति पार्वणस्थालीपाकयोरप्युपलक्षणार्थम्। विवाहग्रहणं भ्रातृमात्रविषयम्। प्रथमग्रहणं पुनराधानादौ पित्रादेर[1]कृतपुनराधानादित्वेऽपि पुत्रादेरदोष इति दर्शयितुम्। अपि शब्देन पितामहः संगृहीतः[2]। सोदर इत्यसोदराणामदोष इति दर्शितम्। अतएव तत्रैवोक्तम्।

क्षेत्रजादावनीजाने विद्यमानेऽपि सोदरे।
नाधिकारविघातोऽस्ति भिन्नौदर्येऽपि चौरसे।। इति।

पूर्वार्द्धे क्षेत्रजादीनां पितरमभिप्रेत्य सोदरत्वम्। उत्तरार्द्धे दत्तकादीनां मातृतोऽप्यसोदरत्वम्। यागादावप्याज्ञायां[3] न दोष इति तत्रैव।

[4]पिता यस्याग्रजो भ्राता न कुर्याद्वा पितामहः।
तपोऽग्निहोत्रं यज्ञं वाऽऽज्ञया कुर्यात्कठाशयात्''।

इति निमित्तविशेषे त्वाज्ञ[5]या विना न दोषः।

व्यसनासक्तचित्तो[6] वा नास्तिको वाऽथवाग्रजः।
कनीयान्धर्मकामस्तु चा[7]धानमथ कारयेत्। इति।

---

१ त्रादेर॰ – स

२ संग्रहीतः – स

३ ॰ वप्याज्ञभ्यां – स

४ प्रपिता – स

५ आज्ञयां विना – स, ग

६ ॰ सचित्तोधानास्तिको वा॰ – स

७ चानम ॰ – स

अग्रज इति पित्रादेरु[1]पलक्षणम्। आधानमिति यागादेः। अथवेति स्मृत्यन्तरोक्तजात्यन्धबधिरपंग्वादिसंग्रहार्थम्। तथा च **छन्दोगपरिशिष्टे** कात्यायनः।

देशान्तरस्थक्लीबैकवृषणानसहोदरान्।
वेश्यातिसक्तपतितशूद्रतुल्यातिरोगिणः।
जडमूकान्धबधिरकुब्जवामनषण्ढकान्[2]।
अतिवृद्धानभार्यांश्च कृषिसक्तान्नृपस्य च।
धनवृद्धिप्रसक्तांश्च कामतः[3]कारिणस्तथा।
कुलटोन्मत्तचौरांश्च परिविन्दन्न दुष्यति।[4] इति

देशान्तरस्थिते तु सोदरे वसिष्ठेन विशेषः कथितः। अष्टौ द्वादश दशवर्षाणि ज्येष्ठं [5]भ्रातरमनिविष्टमप्रतीक्षमाणः प्रायश्चित्तीभवति। अनिविष्ट[6]मकृतविवाहश्रौतस्मार्त्तम्। कालविकल्पस्त्वे[7]वं विज्ञेयः। तत्र तत्र पुनः पुनः श्रूयमाणे सुप्रदेशस्थिते द्वादशवर्षाणि। किञ्चिच्छ्रूयमाणे नातिसुप्रदेशस्थिते[8] दशवर्षाणि। नदीपर्वतचौराद्याकुलदूरतरस्थितेऽश्रूयमाणे चाष्टौ वर्षाणीति। आ[9]ज्ञायामपि क्वचिददोषः क्वचिद्दोष इत्युक्तं त्रिकाण्डमण्डनेन।

---

१ ॰ रुरुप॰ – स

२ *मदनपारिजाते*, पृ. १७१; ॰वामनखञ्जकान्; 'कुण्ठकान्'।

३ कामको कारिस्तथा – स; कामतो – ग; कामतोऽकारिणस्तथा– *स्मार्तोल्लासे*, पृ. ८।

४ *कात्या. स्मृ.* ६.४–६; गदाधरकृतभाष्ये, (पृ॰ २४) पाठभेदः वर्तते।

५ चात॰ – स

६ अनिवृष्ट॰ – स; "अनिर्वृष्टमकृतविवाहाग्निहोत्रम्" इति मदनपारिजाते, पृ. १७१

७ स्तेवं – स

८ स्थिदेश – स

९ अज्ञा॰ – स

ज्येष्ठे श्रद्धा[1]विहीने सत्याधानं तदनुज्ञया[2]।
पितुः सत्यप्यनुज्ञाने नादधीत कदाचनेति।।

अत्र पित्रादावधिकारिण्यपि तदाज्ञया पुत्रादि कुर्या[3]द्यद्वा भ्रात्र[4]नुज्ञयैव कुर्यान्न पित्रनुज्ञयेति तात्पर्यमिति केचित्। अन्ये त्वाहुः। निषेधस्तावत्सर्वविषयस्तत्रा[5]धिकारिणि पित्रादौ विशेषतः [6]प्रतिप्रसवाऽभावात्पुत्रादेरनधिकार एव। प्रतिप्रसववाक्यानि न्यायैक[7]वाक्यत्वाभ्यामनधिकारिणमेव विषयीकुर्वन्ति। तत्र द्विविधोऽनधिकारी। अन्धादिर्नास्तिकादिश्च। तत्रापि कादाचित्काऽन्धत्व-नास्तिकत्वादौ तदपगमे पुनः करणशंकायामप्यनधिकार एव। अल्पबाधेनाप्युपपत्तौ बहु बाधस्यान्याय्यत्वात्। जात्यन्धपतितादौ तु पित्रादावनधिकारिण्यपि तदाज्ञयैवाऽऽधानादावधिकारः। न्यायवचन-सिद्धानधिकारोपजीवनेन तन्मनोनुकूलमात्रार्थतयाऽऽज्ञावाक्य-स्यातिलाघवात्। नास्तिक्यादौ पित्रादावनधिकारिणि सत्यत्य[8]न्त-नास्तिक्येनाधाना[9]दिकरणसंभावनानिवृत्तावप्यग्रजानु- मत्यैवाधिकारः। पितुस्त्वनुमत्यापि न। निषेधबाधकाज्ञावाक्यस्याऽभावात्। अतएव श्रद्धाविशेषणेन हीने इत्युक्तम्[10]। एतद्विषयमेव "दारैस्तु परिविन्दन्ते नाग्निहोत्रेण नेज्ययेति" हारीतवचनं ज्ञेयम्। अथवा अनुमत्या कनिष्ठे

---

१ मिहीने – स

२ ० ज्ञयः – से

३ ० द्वा – नास्ति स–मातृकायाम्

४ भ्रात्रतुज्ञ० – स

५ तत्रारिणि – स

६ प्रति .... एव – स-मातृका द्विः पठति।

७ न्यायैवाक्य० – स (क इति नास्ति)।

८ सत्यत्वंत – स

९ ० धानानादि ० – स

१० ० युक्ते – स

कृताधानादौ पश्चान्नास्तिक्यान्निवृत्ते प्रायश्चित्तादिपूर्वकमाधानादिप्रवृत्तेऽग्रजे विवाहाग्निहोत्र[1]योर्विशेषाभिधानार्थत्वेन द्रष्टव्यम्। पश्चाद्विवाहे दोष एव। आधानादौ तु नेति। यदा तु कादाचित्क नास्तिक्येन पित्रादावाधानादिकरणसंभावना तदाऽनुज्ञयापि नाधिकारः। अधिकारिणि तु पित्रादौ दूरापास्त एवाऽनुज्ञयाधिकार इत्यलमतिप्रपञ्चेनात्र। विशेषो निबन्धादौ द्रष्टव्यः।

प्रकृतमनुसरामः। एतद्वयवस्थितमुख्यकाले यदा दैवान्मानुषाद्वा[2] प्रतिबन्धादावसथ्याधानाऽसंभवस्तदा मुख्यकालदिनादारभ्य यावन्त्यब्दान्यतिक्रान्तानि भवन्ति तावदब्दसंख्याकानि कृच्छ्राणि चान्द्रायणानि वा कुर्यात्। अर्वाक्सम्वत्सरात्तु माससंख्ययोपवासाः कार्याः। ततो मुख्यकालातिक्रमदिनादारभ्य तद्दिनपर्यन्तं सायंप्रातःकालीनं हौम्यं [3]द्रव्यं पक्षादेः[4] पिण्डपितृयज्ञस्य च द्रव्यं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वाऽऽधानं कुर्यात्। तदुक्तम्–

कृतदारो गृहे ज्येष्ठो यो[5] नादध्याद्धुताशनम्।
चान्द्रायणं चरेद्वर्षं प्रतिमासमहोऽपि [6]च। इति।

तथा–

यावन्त्य[7]ब्दान्यतीतानि निरग्नेर्विप्रजन्मनः।
तावन्ति कृच्छ्राणि चरेद्धौम्यं दद्याद्यथाविधि।। इति[8] च।

---

१ ०ग्निर्होत्र० – स

२ ०षाहा ० – स

३ नास्ति स–मातृकायाम्।

४ पदादेः – स

५ मो द-द्धुताशनं – स

६ "वा" इति स्मार्तोल्लासे पाठः, पृ. ५

७ यानन्त्यब्दात्म – स

८ विधीति – ग (च नास्ति)।

[1]तच्च चतुर्विंशमितं धान्यं त्रिप्रस्थप्रमितं घृतमिति **कारिकायां** सम्वत्सरस्य मानमुक्तम्। श्रौते तु षष्ठि प्रस्थमितं धान्यं षट्प्रस्थप्रमितं घृतमिति विशेषः। एतच्च मुख्यकालातिक्रमोत्तरं क्रियमाणस्याधानस्यामावास्यादिकालविशेषनियमस्त्वावश्यक एव। एवमाधानकालमभिधायेदानीं कर्माह।

।।श्रीः।। वैश्यस्य[2] बहुपशोर्गृहादग्निमाहृत्य (१.२.३)। चातुष्प्राश्य पचनवत्सर्वम् (१.२.४)। अरणिप्रदानमे[3]के (१.२.५)। पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः (१.२.६) ।।

बहुपशुर्यो वैश्यस्तस्य[4] गृहान्महानसादग्निमानीयायतने स्थापयित्वा चातुष्प्राश्यपचनवत्सर्व चातुष्प्राश्यपचनं विद्यते यस्मिन्कर्मणि तच्चातुःप्राश्यपचनवत्[5]। तत्सर्व कुर्यादिति शेषः। एवमेव गृह्यान्तरे दृष्टत्वात्। सर्वग्रहणमिहाध्वर्योः कर्तृत्वप्राप्त्यर्थम्।

।।श्रीः।। अरणि[6]प्रदानमेके पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः (१.२.५–६)।।

प्रशब्द उपार्थे। अरण्युपादानकमग्निमेक आचार्या इच्छन्ति। कुतः। **पञ्चमहायज्ञा इति श्रुतेः**। यतः पञ्चमहायज्ञाः श्रुतौ दृश्यन्ते। [7]पञ्चैव महायज्ञास्तान्येव महासत्राणीति। श्रौते चोभयथा श्रूयते। गार्हपत्यागारे

---

१ तच्च-इत्यारभ्य घृतमिति विशेष इति पर्यन्तं नास्ति स–मातृकायाम्।

२ वेश्य – स

३ 'के' इति नास्ति स–मातृकायाम्।

४ वैश्यस्त – स

५ पचवत् – स

६ अरणी – स

७ *शतपथ.* ११.५.६.७, म्हा० – स

निर्मथ्या[1]भ्यादधाति[2] वैश्यकुलाम्बरीषमहानसाद्वे[3]ति। तथा। सम्वत्सरं वा पुरस्तात्कुर्यात्ततः सर्वानादधीतेति[4]। तेन पञ्चमहायज्ञानां श्रौतत्वाच्छ्रुतौ चोभयथा श्रवणादध्वर्युकर्त्तृकाऽरणिप्रदानपूर्वकमरणिभ्यां मथिताग्नेः स्थापनादि श्रौतातिदेशेन सर्वमत्र भवति। अतएवार्यपादैरश्वत्थ[5]शमीगर्भारणी द्वे समप्रमाणे यजमानाय प्रयच्छत्यध्वर्युरित्यादिना श्रौतातिदेशेनात्र सर्वमुक्तम्। 'एके' ग्रहणं विकल्पार्थम्।

अत्र भर्तृयज्ञपादाः। चातुष्प्राश्यपचनवत्सर्व कर्म भवति। चातुष्प्राश्यपचनवत्संबंधमग्न्याधेये दृष्टमरणिप्रदानं भवति। न वैश्योऽग्निरेव संस्कारसंस्कृत इत्येके मन्यन्ते। कार्योपपत्त्या पञ्च महायज्ञा इति श्रुतिः[6]। यस्मात्स्मार्त्तेषु बलिहरणादिषु महायज्ञश्रुतिः सत्रश्रुतिश्च। तत्र पञ्चैव महायज्ञास्तान्येव महासत्राणीति। परः शब्दश्च परत्र वर्तमानः केनचित्सामान्येन वर्त्तते। यदि च तुल्योऽग्निसंस्कारः स्मार्त्तानां

---

१ थ्याभाद० – स

२ *का.श्रौ.सू.* ४.७.१४. "मन्थनं सन्निधानात्प्रकृताभ्यामेवारणिभ्याम्। अनयोर्हि सन्निधानात्" इति कर्काचार्याः।।

३ *का.श्रौ.सू.* ४.७.१५ वैश्यकुलात् अपरिगृहीतो (लौकिकः) हुतोच्छिष्टो वा परिगृह्यते(न तु परिगृहीत आवसथ्यादिः)। अम्बरीषो भ्राष्ट्रः। कन्दुरिति यः प्रसिद्धः। महानसो यत्राक्षीणोऽग्निर्यथा लौकिकेषु सत्रेषु इति कर्काचार्याः।

४ *का.श्रौ.सू.* ४.८.६. "इदमन्यत्पक्षान्तरम्। पुरस्तादाधानस्य सम्वत्सरं यावत् (तण्डुल) मानादिवरदानान्तमोदनं कुर्यादिति। अस्मिन्श्च पक्षे उत्तमरात्रिसंयोगेन चत्वारः पदार्था भवन्ति – अशननियमः अजबन्धनम्, जागरणम्, वाग्बन्धश्चेति। . . . ततः सर्वानादधीत। तत एव अग्नेः सकाशात् सर्वेऽग्नय आधीयन्ते इति कर्काचार्याः।

५ अश्वत्थशमीगर्भाऽरणी प्रयच्छति इति। *का.श्रौ.सू.* ४.७.२०. "अश्वत्थश्चासौ शमीगर्भश्च अश्वत्थशमीगर्भस्तत्सम्बन्धिन्यौ अरणी प्रयच्छति यजमानाय। ते चाग्न्युत्पत्त्यर्थे परिगृह्येते इति कर्काचार्याः।

६ तेः – स।

श्रौतानाञ्च। एवमनुपपन्नम्। किं कारणम्। यद्यप्येष परः शब्दस्तथापि यदेव स्मार्त्तेषु प्रमाणान्तरादवगतं समाम्नातमस्ति तदपेक्षयैव[1] परशब्दः प्रवृत्त इति गम्यते। न शक्यते श्रौतोऽग्निसंस्कारः प्रमाणान्तरेणावगम्यमानः कल्पयितुम्। तस्मात्पूर्वपक्ष एवैष कृतः। अस्ति च तत्र हेतुः प्रवृत्तिकारणं नित्यत्वाद्दीर्घकालानि बलिहरणादीनि। दीर्घकालानि च सत्राणि। तस्मोदेषोऽर्थवादः स्यात् [2]इत्यनेन ग्रन्थेनाऽरणिप्र[3]दानाभावमुक्त्वा केचि[4]द्विकल्पं वर्णयन्ति। तेषां स्मरणमेवप्रमाणम्। दर्शनमात्रं महायज्ञश्रुतिः पञ्चयज्ञत्वेनोपादीयत इत्याहुः।

।।श्रीः।। अग्न्याधेयदेवताभ्यः स्थालीपाकं श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति। त्वन्नो अग्ने[5] सत्वन्नो अग्न इमम्मे वरुण तत्त्वा यामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तमं भवतन्न इत्यष्टौ पुरस्तात् (१.२.७-८)।।

अग्न्याधेयदेवता अग्निः पवमानोऽग्निः पावकोऽग्निः शुचिरदितिश्चेत्येवं[6] बहुदैवत्यम्। अग्निरदितिश्चेत्येवं [7]द्वि दैवत्यं वा। स्थालीपाकं श्रपयित्वेति भर्त्तृयज्ञपादाः। अन्ये तु बहुवचनोपदेशान्नियमेन बहुदैवत्यमिच्छन्ति। युक्तञ्चैतत्। दर्वीहोमत्वेन[8] तूष्णीं ग्रहणे प्राप्ते स्थालीपाके चैवमित्यनेन ग्रहणप्रोक्षणयोर्यथादैवतं देवता-देशस्यविहितत्वात्पुनरग्न्याधेयदेवताभ्य इति ग्रहणं पाक्षिकत्वेन

---

१ पेक्ष्ययैव – स
२ यत्यंतेन – ग ; इत्यंनेन – स
३ प्रमदाना० – स
४ केधिहिकल्पं – स
५ ० अग्न इमश्नेवरुणतयामित्येते शतमयाश्चाग्न उदुत्तमं भनतन्न ०. – स
६ ० येमंत्र – स
७ बहु द्वि० – स (बहु इत्यधिकः पाठः स–मातृकायाम्)। देवत्यं – ग, स
८ ० त्येन – स

द्वयोर्द्देवतात्वं[1] माभूदिति बह्वीनां देवतात्वनियमार्थम्। [2]**मानवसूत्रे**। आग्नेयं स्थालीपाकं श्रपयतीति। श्रपणे देवतोद्देशस्य प्रकृतावश्रुतत्वाद्-ग्रहणप्रोक्षणयोरेव देवतोद्देशो[3] युक्तः। वक्ष्यति ह्याचार्यो देवतां त्वादिशेदुपाकरणनियोजनप्रोक्षणेषु स्थालीपाके चैवमिति। अत्र स्थालीपाके एवमित्येतावता सिद्धे च शब्दोऽन्यसर्वस्थालीपाकेषु पुरोडाशादिषु देवतादेशार्थः। अत्र स्थालीपाके उपाकरणनियोजनयोरभावाद्ग्रहणस्य नियोजनकार्यसादृश्याद्ग्रहणप्रोक्षणयोरेव देवतादेशो न प्राणदानादौ। तत्र प्रतिदैवत'स्थालीपाकप्राप्तौ सर्वोद्देशेनैक एव स्थालीपाको विधीयते। ग्रहणे अमुष्मै जुष्टं गृह्णामीति त्रिर्गृहीत्वा तूष्णीं चतुर्थं गृह्णीयात्। प्रोक्षणेऽमुष्मै त्वा जुष्टं प्रोक्षा॥मी[4]ति प्रयोगः। तथा च **शांखायनगृह्ये**[5]। स्थालीपाकेषु च ग्रहणा[6]सादनप्रोक्षण[7]मंत्रदेवताभ्यो। अवदानधर्माश्चेति[8]। अतएव स्थाली-पाकेऽवदानधर्मा भवन्तीत्युक्तं प्राक्। **छन्दोगगृह्ये**[9] च। अथ हविर्निर्व्वपति व्रीहीन् वा[10] यवान् वा कंसेन वा चरुस्थाल्या वा। अमुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामीति देवतानामादेशं सकृत् द्विस्तूष्णीमिति। अत्र तद्भाष्यम्। देवतानामभिः पृथक् संगृह्यानुनिर्वापौ तन्त्रेणैव गृह्णीयात्। होमोऽपि भेदेनैव स्यात्। कुतः।

---

१ तात्वे – स

२ *मानवगृह्यसूत्रम्*, २.२.२. आग्नेयमिति अग्निदैवत्यम्। मानवसूत्रे इत्यारभ्य श्रपयतीति इति पर्यन्तं नास्ति स-मातृकायाम्।

३ दतो० – स

४ ० क्षाणीति – स

५ *शां गृ. सू.* १.३.४–५.।

६ ग्रहणसादन – ग, स

७ प्रोक्षणानि इति पाठः शांखायनगृह्ये १.३.४.

८ *शां गृ. सू.* १.३.५.

९ *गो. गृ. सू.* १.७.२–३.

१० व्रीहीन्यवान्वा इति ग–स–मातृकयोः पाठः।

''चरुः[१] समशनीयो यस्तथा गोयज्ञकर्मणि।
वृष[२]भोत्सर्जने चैव अश्वयज्ञे तथैव च।
श्रावण्यां वा[३] प्रदोषे यः कृष्यारम्भे तथैव च।
कथमेतेषु निर्वापाः कथञ्चैव जुहोतयः।
देवतासंख्यया ग्राह्या निर्वापास्तु[४] पृथक्पृथक्।
तूष्णीं द्विरेव गृह्णीयाद्धोमश्चैव[५] पृथक् पृथक्। इति

वचनसामर्थ्यादिति। **आश्वलायनगृह्ये च।** अथ पार्वणः स्थालीपाक[६] इत्युपक्रम्य [७]तस्यै तस्यै देवतायै चतुरश्चतुरो मुष्टीन्निर्वपति पवित्रे अन्तर्द्धायाऽमुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामीति। [८]अथैनान्प्रोक्षति यथानि[९]रुप्तम् ''अमुष्मै त्वा जुष्टं प्रोक्षामी''ति। अत्र ''नैक[१०]कर्मणि[११] संबंधादित्यधिकरणे नैकस्यै देवतायै चतुर्मुष्टिकं हविर्निर्वापं कृत्वा

---

१ द्रष्टव्यं *गो. गृह्यभाष्यं,* पृ. २३८; *कात्या. स्मृ.* २६.१–३ देवतासंख्या इति पाठभेदः।

२ ऋषभो इति ग, स।

३ 'च' इति ग – स

४ ॰ पाश्च – ग, स।

५ ॰ मश्चापि – ग, स

६ *आश्व.गृ.* १.१०.१.

७ *आश्व.गृ.* १.१०.६. चतुरश्चतुर इति वीप्सावचनमेकैकस्यै देवतायै चतुर्मुष्टिप्राप्त्यर्थम् (नारायणभाष्यम्)

८ *आ.गृ.सू.* १.१०.७. "सर्वासामेव देवतानां निरुप्तेषु प्रोक्षणं स्यादित्येवमर्थम्। एतानिति बहुवचनं संश्लिष्टानेव प्रोक्षेन्न विभज्येत्येवमर्थम् इति नारायणभाष्यम्।

९ यथानिरुप्तमिति नास्ति – ग, स

१० *का.श्रौ.सू.* १.५.११. "निर्वापकर्मणि न मुष्टिनाऽनुसमयः कार्यः। चतुर्मुष्टिको निर्वाप एकः पदार्थः पदार्थावयवो मुष्टिः। न चावयवेनानुसमयः कर्त्तव्यः। पदार्थेन ह्यनुसमयो भवति। पदार्थश्च कर्त्तव्यः इति कर्काचार्याः।

११ कर्माणि – ग

अपररस्यै[1] चतुर्मुष्टिकग्रहणं कुर्यात्। प्रकृतौ च तथैवानुष्ठितत्वात्। पूर्वप्रदर्शिता**श्वलायनसूत्राच्च**[2]। यत्वार्यपादैरग्नये पवमानायाग्नये पावकायाग्नये शुचयेऽदित्यै जुष्टं गृह्णामीत्युक्तं तल्लेखनलाघवार्थं न सर्वदेवतापदान्ते जुष्टपदेन प्रयोगार्थम्। यदि च तेषां सर्वदेवतापदोच्चारणान्ते जुष्टपदेन ग्रहणमिष्टं स्यात्तदाऽन्ते एव विभक्तिपदं प्रणीतं स्यात्। प्रणीतं च प्रत्येकं चतुर्थ्यन्तं देवतापदम्। तेन बहुदैवत्ये प्रति दैवतममुष्मै जुष्टं[3] गृह्णामीति मुष्टित्रयं गृहीत्वा चतुर्थं तूष्णीमेव ग्रहणम्। एवमेकैकदेवतोद्देशेन चतुर्मुष्टिकग्रहणमित्यार्यपादाशयः। एतेनार्यपादाशयमजानन्तः सर्वदेवतापदोच्चारणान्ते सकृज्जुष्टं गृह्णामीत्यन्तेनावृत्तेन त्रिर्ग्रहणं चतुर्थं तूष्णीमिति चतुर्मुष्टिकग्रहणमिति वदन्त उपेक्ष्याः। एवं प्रोक्षणे च। यत्तु **छन्दोगगृह्ये** [4]सकृद्देवतापदेन ग्रहणं [5]द्विस्तूष्णीम् तथा बहुदैवत्ये तूष्णीं ग्रहणं [6]मन्त्रेणेति तत्तच्छाखापरम्।। **आश्वलायनगृह्यकारिकायाम्।**

> **पवित्रान्तर्हिते शूर्पे व्रीहिमुष्टिचतुष्टयम्।**
> **निर्वपेदग्नये त्वादिमन्त्रेणावर्त्तयेच्च सः।**
> **निर्वपेदपरं त्वग्नीषोमाभ्यां त्वेति मंत्रतः।** इत्यादि।

श्रपयित्वेति प्राप्तानुवादः। यत्तु [7]कर्काचार्यैरुक्तम्। "स्थालीपाकं श्रपयित्वेत्युच्यते माभूत्तद्भूतोपादानमिति"। तन्न। निरुप्याज्य-

---

१ अपस्यै – ग

२ *आ.गृ.सू.* १.१०.६. तस्यै तस्यै इति वीप्सा क्रियते। चतुरश्चतुर इत्येषापि। मुष्टीन् निर्वपति। परिमाणार्थो निर्देशः। निर्वपति इति क्रिया चोद्यते इति देवस्वामिभाष्यम्।

३ अमुष्मैर्जुष्टं – स

४ सकृदेवतापद्देवता ॰ – स

५ द्विष्णीम् – स

६ नंतित्रेणेति – स

७ *पा.गृ.सू.* व्याख्यायाम् पृ. १४.

मित्यादावाज्यपदस्य स्थालीपाकादियागसाधनीभूतद्रव्योपलक्षणार्थत्वेन व्याकृतत्वात्। प्राप्तं च तेन निर्वापाधिश्रयणपर्यग्निकरणादिस्थालीपाकस्य। न चाधिश्रयणोक्त्या श्रपणप्राप्तिरिति वाच्यम्। अधिश्रयणस्य यथासम्भवं दृष्टार्थत्वात्। यत्तु कर्कमतानुसारिणश्चरोराज्यनिर्वापकाले चरुस्थाल्यामधर्मकं तण्डुलप्रक्षेपं कुर्वन्ति। तन्न। निर्वापविधानात्। उक्तं हि कर्काचार्यैर्निरुप्या[1]ज्यमित्यत्रा[2]ज्यग्रहणं स्थालीपाकाद्युपलक्षणा[3]र्थमित्यादिना ग्रन्थेन[4]। तेन स्थालीपाकचरोर्निर्वापो यथा प्रदेशान्तरे दृष्टस्तथैव भवति। व्याख्यातं च कर्काचार्यैः प्रणी[5]येत्यादिसूत्रे यथा प्रदेशान्तरे दृष्टमिति। युक्तञ्चैतत्[6]। नाम्ना तद्धर्मप्राप्तेः। एतेन कर्काशयमजानन्तः **पद्धतिकारा** उपेक्ष्याः। आज्यभागाविष्ट्वा स्थालीपाकस्य पुरस्तात्त्वन्न इत्याद्यष्टावाज्या[7]हुतीर्जुहोति। त्वन्नो अग्न इति प्रथमाम्। सत्त्वन्नो अग्न इति द्वितीयाम्। इमम्मे वरुण इति तृ[8]तीयाम्। तत्त्वा यामीति चतुर्थीम्। ये ते शतमिति पञ्चमीम्। अयाश्चाग्ने इति षष्ठीम्। अनयोर्मन्त्रयोः कल्पसूत्रे समस्तपाठादिह निर्देश उपपद्यते। उदुत्तममिति सप्तमीम्। भ[9]वतन्न इत्यष्टमीम्। आघारावाज्यभागावित्युपक्रम्यैतन्नित्यं सर्वत्रेत्याज्यभागयोः प्राप्तयोः पुनरिह संग्रहणमष्टाज्याहुतिकालविधानार्थम्। **तस्य होमोऽनादेश**[10] इत्यनेनाज्यहोमे

---

१ *पा.गृ.सू.* १.१.२.

२ त्राग्रहणं – स (आज्य इति नास्ति)

३ *स्मार्त्तसूत्रव्याख्यायाम्,* पृ. २

४ ग्रन्थेन् – स

५ *पा.गृ.सू.* १.१.२.

६ चेतत् – ग

७ ॰ ज्याईहोति – स.

८ मृतीकां – स

९ भवत.........ष्टमीम् – नास्ति स–मातृकायाम्।

१० *का.श्रौ.सू.* १.८.३७., तस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी। द्रव्यान्तरस्याविधाने तेन (आज्येन) होमः कर्त्तव्यः इति कर्काचार्याः।

प्राप्ते आज्यग्रहणं चरुसंशयव्युदासार्थम्। अष्टावित्यृचः प्रतीकसंशयव्युदासार्थम्। संख्याग्रहणे अक्रियमाणे त्वन्नो अग्ने इत्यत्र त्वन्न इत्येकां अग्ने नयेति द्वितीयामित्यप्याशंक्येत। तथा सत्वन्नो अग्ने इत्यत्राग्ने सहस्राक्षेत्याशंक्येत। आज्यभागाविष्ट्वेत्युक्तेऽर्थात्पुरस्तात्–स्थालीपाकस्येति सिद्धे पुनर्ग्रहणं सर्वत्राज्यभागानन्तरं प्रधानयागानुष्ठानं यथा स्यादिति। यथा सीमन्तो[1]न्नयने **स्थालीपाकं श्रपयित्वा प्रजापतेर्हुत्वेति।** तथा कुशेण्ड्वानां[2] होमे। तथाऽवकीर्णि-प्रायश्चित्ताहुत्योर्होमः[3]। यत्तु कर्क्केणाऽगन्तुत्वात् सर्वान्ते होमोऽभिहितस्तन्मूलं स एव वेद। स्विष्टकृद्धोमोत्तरं प्रधानहोम इति महत्साहसम्।

।।श्रीः।। **एवमुपरिष्टात्स्थालीपाकस्य** (१.२.६)।।

एवमष्टा[4]वाज्याहुतीर्जुहोति। उपरिष्टात्स्थालीपाकस्य। स्थालीपाक-सम्बन्धस्य होमस्य स्विष्टकृदन्तस्योपरिष्टात्। तेन स्विष्टकृत्परिहोमं कृत्वाऽष्टर्चहोम इत्यार्यपादाः। उपरिष्टात्स्थालीपाकस्येति वचनात्पूर्व स्विष्टकृतो[5] जुहुयादिति भर्तृयज्ञपादाश्च।

।।श्रीः।। **अग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति। स्विष्टकृते च। अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणात्यरीरिचं देवागातुविद इति** (१. २.६–११)।।

अष्टर्चहोमानन्तरमवदानधर्मेणाग्न्याधेयदेवताभ्यः स्थालीपाकादवदाय जुहोति। यथा आज्यस्थालीतः स्रुवेण जुह्वामुपस्तीर्य मेक्षणेन मध्यात्पूर्वार्द्धादसंभेदनं [6]कुर्वन्नवदाय जमदग्नीनां पश्चार्द्धाच्च

---

१ *पा.गृ.सू.* १.१५.४., ३.१२.१ (अवकीर्णि०)

२ ० शैड्वाना – स

३ *पा.गृ.सू.* ३.१२.१

४ अष्टाया ० – स

५ कृते – स

६ कुर्वंन्न – स

तृतीयमवदायाभिघार्य हविः प्रत्यभिघार्याग्नये पवमानाय स्वाहेति हुत्वा पुनस्तथैवाव[1]दायावदायाग्नये पावकाय स्वाहाग्नये शुचये स्वाहाऽदित्यै स्वाहेति हुत्वा अ[2]यास्यग्न इति स्रुवेणैकामाज्याहुतिं जुहोति। स्विष्टकृते। स्विष्टकृते उपस्तीर्य उत्तरार्द्धात्सकृदवदाय द्विर्जमदग्नीनामवदाय द्विरभिघार्य हविर्न प्रत्यभिघारयेत्। ततोऽग्नये[3] स्विष्टकृते स्वाहेति च हुत्वा। चशब्दात्पुनराज्याहुति[4]मयास्यग्न इति जुहोति। अत्रायास्यग्न इति होमे 'तस्य[5] होमोऽनादेश' इति परिभाषितत्वादाज्य[6]मेव। मंत्रोऽप्यपूर्वत्वा-द्यावानुपदिष्टस्तावानेव। अन्ते स्वाहाकारो भवत्येव। सर्वत्र मन्त्रवत्सु जुहोत्युपदेशादना[7]म्नातप्रतिषेधाच्चेत्युक्तेः। ततः पुनरष्टर्चहोमः। ततो महाव्याहृत्यादिप्राजापत्यन्तं जुहुयात्। नित्यत्वेन प्राप्तस्य स्विष्टकृतः [8]पुनर्ग्रहणं [9]परिहोमकालविधानार्थम्। कर्कमते त्वग्न्याधेयदेवताहोमानान्तरं पुनरष्टर्चहोमस्ततः स्विष्टकृत्ततोऽयास्यग्न इति होमः। पुरस्तादुपरिष्टादित्यनुवादः। अत्र सर्वत्र ''पाकयज्ञेष्ववत्तस्यासर्वहोमो[10]''। ''हुत्वा[11] शेषप्राशनम्'' इत्युक्तत्वात्स्रुचि स्रुवे वाऽवत्तस्य सर्वहोमो न कार्यः। प्रतिहोमं पात्रान्तरे प्रक्षेप्तव्यम्। सर्वहोमान्ते च तस्य भक्षणं कार्यम्। अत्र विशेषमाह।

---

१ तथैर्वा० – स
२ अमास्य ०. – स
३ ० ग्यये – स
४ ० तिर्म ०. – स
५ *का.श्रौ.सू.* १.८.३७. तस्यग्न इति होमे इत्यधिकः – स
६ आज्यहोमेव – स (होमेव इति अधिकः पाठः)
७ *का.श्रौ.सू.* ८.५.३३. अनाम्नातेऽपि च स्वाहाकारे प्रतिषेधं ब्रुवन् स्वाहाकारप्रदानतां दर्शयति ....। अमन्त्रवत्सु पूर्णाहुत्यां स्वाहाकारो विहित एव इति कर्काचार्याः।
८ पुनग्र० – ग
९ परि होमो न कार्यः इति अधिकः पाठः स–मातृकायाम्।
१० *का. श्रौ. सू.* ६.१०.२६. होमाय यदवत्तं तस्य असर्वस्य होमः कर्त्तव्यः।
११ *का. श्रौ. सू.* ६.१०.२७.

।।श्रीः।। बर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति (१.२.१२)।।

चोदकप्राप्तं बर्हिर्होमं कृत्वा ततः प्राशनं कार्यम्। अप्राप्तोऽपि बर्हिर्होमो वाचनिक इति **भर्तृयज्ञकर्कौ**[१]।

।।श्रीः।। ततो ब्राह्मणभोजनम् (१.२.१३)।।

ततः संस्थिते 'कर्मण्येकस्य ब्राह्मणस्य भोजनं भवति। ब्राह्मणभोजनमित्यत्र त्रिष्वपि विभक्तिषु समासस्य तुल्यत्वात्प्रथमो-परिस्थितत्वादर्थस्य च कृतत्वादविशेषाच्चैकस्यैव। यत्र तु बहूनां भोजन[२]मभीप्सितमाचार्यस्य तत्र वाक्येनैवोपदिशति। यथा सर्वासां पयसि पायसꣳ श्रपयित्वा ब्राह्मणान्भोजयेदिति। तथा सꣳस्थिते कर्मणि ब्राह्मणान्भोजयेदिति। प्रकृतिप्राप्तस्यारादुपकारकत्वेन परिसंख्यातत्वात्पुनरत्र विधीयते। भोज्य[३]ब्राह्मणलक्षणन्तु **शांखायनगृह्ये**।

[४]कर्मापवर्गे ब्राह्मणभोजनम्। वाग्रूप[५]वयःश्रुतशीलवृत्तानि गुणाः[६]। श्रु[७]तं तु सर्वानत्येति। न[८] श्रुतमतीयात्।

अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम्।
मंत्रेषु[९] ब्राह्मणे[१०] चैव श्रुत[११]मित्यभिधीयते[१२]।

---

१ बर्हिर्होमश्चात्रैव विधानसामर्थ्यादिहैव वचनान्नान्यत्र इति कर्काचार्याः स्मार्त्तसूत्रव्याख्यायाम्।

२ मभिप्सि ० – स

३ भोजन ० – स

४ *शां गृ. सू.* १.२.१.

५ ० वश्यतशी ० – स

६ *शां गृ. सू.* १.२.२.

७ *शां गृ. सू.* १.२.३.

८ *शां गृ. सू.* १.२.४.

९ मंत्रैषु – स

१० ब्राह्मणै – स

११ श्रुमि० – स

१२ *शां गृ. सू.* १.२.५.

क्रियावन्तमधीयानं श्रुतवृद्धं तपस्विनम्।
भोज[1]येत्तं सकृद्यस्तु न तं भूयः क्षुद[2]श्नुते।
यां तितर्पयिषे[3]त्कांचिद्देवतां सर्वकर्मसु।
तस्या[4] उद्दिश्य मनसा दद्यादेवं विधाय वै[5]। इति

इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठकश्रीरामचन्द्रसूनुमहायाज्ञिकश्रीगंगाधरकृतायां पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तौ प्रथमकाण्डे द्वितीया कण्डिका।।२।।



---

१ ० भेत्तं – स
२ शां गृ. सू. १.२.६.
३ ० यिष्येत् – स
४ शां गृ. सू. १.२.७.
५ वा – ग, स

।। तृतीया कण्डिका।।

मूलम् - षडर्घ्या भवन्त्याचार्य ऋत्विग्वैवाह्यो राजा प्रियः स्नातक इति।।१।। प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुः।।२।। यक्ष्यमाणास्त्वृत्विजः।।३।। आसनमाहार्याह साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तमिति।।४।। आहरन्ति विष्टरं पाद्यं पादार्थमुदकमर्घमाचमनीयं मधुपर्कं दधिमधुघृतमपिहितं काᳪंस्ये काᳪंस्येन।।५।। अन्यस्त्रिस्त्रिः प्राह विष्टरादीनि।।६।। विष्टरं प्रतिगृह्णाति।।७।। वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः। इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासतीत्येनमभ्युपविशति।।८।। पादयोरन्यं विष्टर आसीनाय।।९।। सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति।।१०।। ब्राह्मणश्चेद्दक्षिणं प्रथमम्।।११।। विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोह इति।।१२।। अर्घं प्रतिगृह्णात्यापः स्थ युष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानीति।।१३।। निनयन्नभिमन्त्रयते, समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत। अरिष्टा अस्माकं वीरा मा परासेचि मत्पय इति।।१४।। आचामत्यामागन्यशसा सᳪंसृज वर्चसा। तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनामिति।।१५।। मित्रस्य त्वेति मधुपर्कं प्रतीक्षते।।१६।। देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णाति।।१७।। सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणस्यानामिकया त्रिः प्रयौति नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामीति।।१८।। अनामिकाङ्गुष्ठेन च त्रिर्निरुक्षयति।।१९।। तस्य त्रिः प्राश्नाति यन्मधुनो मधव्यं परमᳪं रूपमन्नाद्यम्। तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानीति।।२०।। मधुमतीभिर्वा प्रत्यृचम्।।२१।। पुत्रायान्तेवासिने वोत्तरत आसीनायोच्छिष्टं दद्यात्।।२२।। सर्वं वा प्राश्नीयात्।।२३।। प्राग्वाऽसञ्चरे निनयेत्।।२४।। आचम्य प्राणान्त्संमृशति वाङ्म आस्ये नसोः प्राणोऽक्ष्णोश्चक्षुः कर्णयोः श्रोत्रं बाह्वोर्बलमूर्वोरोजोऽरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सहेति।।२५।। आचान्तोदकाय शासमादाय गौरिति त्रिःप्राह।।२६।। प्रत्याह। माता रुद्राणां दुहिता वसूनाᳪंस्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्रनुवोचञ्चिकितुषे

जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट। मम चामुष्य च पाप्मानꣳ हनोमीति यद्यालभेत।।२७।। अथ यद्युत्सिसृक्षेन्मम चामुष्य च पाप्मा हत ओमुत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयात्।।२८।। न त्वेवामाꣳसोऽर्घः स्यात्।।२६।। अधियज्ञमधिविवाहं कुरुतेत्येव ब्रूयात्।।३०।। यद्यप्यसकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेत कृतार्घ्या एवैनं याजयेयुर्नाकृतार्घ्या इति श्रुतेः।।३१।। (३)

आवसथ्याधानं दारकाले इत्यनेन सम्बन्धेन विवाहः प्रकृतः। स एवाधुना प्रारभ्यते। अत्र च वरस्यार्घदानं स्मर्यते। तत्प्रसंगेन यावन्तोऽर्घ्यास्ते सर्व एवाभिधीयन्ते।

।।श्रीः ।। षडर्घ्या भवन्ति।।

षट्पुरुषा अर्घार्हा भवन्ति। तानाह।

।।श्रीः।। आचार्य ऋत्विग्वैवाह्यो राजा प्रियः स्नातक इति (१.३.१)।।

उपनीय कृत्स्नं वेदमध्यापयेत्स आचार्यः। "उपनीय ददद्वेदमाचार्यः स उदाहृत[1] इति **याज्ञ[2]वल्क्यो**क्तेः। ऋत्विग्यो दक्षिणापरिक्रीतः सौमिकानि कर्माणि करोति। ऋत्विग्यज्ञकृदुच्यत इत्युक्तत्वात्। वैवाह्यो वरो विवाहयिता जा[3]माता राजा अभिषेकादिगुणयुक्तः क्षत्रियः। प्रिय इष्टः प्रसिद्धः। स्नातकः [4]त्रयः स्नातका भवन्ति। विद्यास्नातको व्रतस्नातको

---

१ *याज्ञ. स्मृति,* १.२.३४

२ ० वक्योक्तेः – स

३ जा इति नास्ति स–मातृकायाम्।.

४ *पा.गृ.सू.* २.५.३२–३५ – समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्त्तते स विद्यास्नातकः। समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्त्तते स व्रतस्नातकः। उभयं समाप्य यः समावर्त्तते स विद्याव्रतस्नातक इति। अपि च *गो.गृ.सू.* ३.५.२१–२२ तथा च हारीतः।

[1]विद्याव्रतस्नातक इत्युक्तेः[2]। वेदाध्ययनब्रह्मचर्यव्रतानन्तरं विधिपूर्वकं कृतस्नानः स्नातक इत्युच्यते। स आचार्यस्याघ्यों भवति। तथा च मनुः।

तं[3] प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।

स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा।

आचार्य इति शेषः। षड्ग्रहणं प्रियस्नातकयोः पृथक्त्वज्ञापनार्थमिति [4]कर्काचार्याः। षड्ग्रहणं परिसंख्यार्थं। गण्यमाना एवैते षडिति किं परिसंख्यायते। यस्याचार्यवद्वृत्तिरुपदिश्यते कथं नाम तस्यार्हणं न क्रियत इति भर्तृयज्ञपादाः। **छन्दोगसूत्रे**[5]। षड[6]र्घ्यार्हा भवन्ति। आचार्य ऋत्विक् स्नातको राजा विवाह्यः प्रियोऽतिथिरिति। **आश्वलायनगृह्ये**। ऋत्विजो वृत्वा मधुपर्कमाहरेत्[7]। स्नातकायोपस्थिताय[8]। राज्ञे च[9]। आचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानाञ्चेति[10]। एते च गृहे आगता एवाऽर्घ्याः। तदुक्तं जाबालेन।

वैवाह्यमृत्विजं चैव श्रोत्रियं गृहमागतम्।

अर्चयेन्मधुपर्केण स्नातकं प्रियमेव च। इति

यथा राज्ञ आगतायोदकमाहरेदेवमेतदिति लिङ्गाच्च। यत्र वा अर्हन्नागच्छति सर्वगृह्या इव वै तत्र चेष्टन्तीति च। तथा च

---

१ विद्याव्रतस्नातक इति नास्ति – स

२ क्तः – स

३ *मनुसंहिता* – ३.३. (श्री अरुणोदय राय, कलिकाता सम्वत् १६५५.)

४ स्मार्तसूत्रव्याख्यायाम्।

५ *गो. गृ. सू.* ४.१०.२३–२४.

६ 'षडर्घ्या' इति ग, स

७ *आ.गृ.सू.* १.२४.१ "आहरतिरत्र दानकर्मा। दद्यादित्युक्तं भवति।" इति देवस्वामी। (देवस्वामिभाष्यसहितम् के० पी० ऐथलसम्पादितम् १६८०)

८ *आ. गृ. सू.* १.२४.२.

६ *आ. गृ. सू.* १.२४.३

१० *आ. गृ. सू.* १.२४.४

शांखायनसूत्रे। षण्णां चेदर्घ्याणामन्यतम[1] आगच्छेद्गोपशुमजं[2] वा यत्सामान्यतमं [3]मन्येत तत्कुर्यादिति[4]। अत्र विशेषमाह।

।।श्रीः।। **प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुः** (१.३.२)।।

प्रतिसंवत्सरान्परिसंवत्सरान्परिगतसंवत्सरानतिक्रान्तसंवत्सरानित्यर्थः। प्रादयो गताद्यर्थे। पूर्वार्हणात्पुनः संवत्सरान्ते एव एनानागतानर्हयेयुः। न संवत्सरमध्ये। प्रतीत्यु[5]पसर्गोपदेशादादावपि च कर्त्तव्यमर्हणम्। उत्पन्नमात्रसंबन्धेन च संवत्सरान्ते। नामन्त्र्य कर्त्तव्यम्। आगतानां ह्येव भवति। एवमेव स्मरणात्। प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुरित्य-[6] विशेषोपदेशादृत्विजोऽपि संवत्सरान्ते[7] अर्हणे प्राप्ते आह।

।।श्रीः।। **यक्ष्यमाणास्त्वृत्विजः** (१.३.३)।।

तु शब्दो भेदे। ऋत्विजो पुनः सोमेन यक्ष्यमाणा एव यागकाल एवार्हयितव्या न ततोऽन्यत्र संवत्सरान्ते। यक्ष्यमाणा इत्यविशेषितेऽपि सोमयाग एव न यागमात्रम्। सोमयागस्यैव हेतुत्वेन प्रति निर्देशात्[8]। [9]'यद्यप्यसकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेत कृतार्घ्या एवैनं याजयेयुर्नाकृतार्घ्या[10] इति श्रुतेरिति''[11]। तेनाधानादौ मधुपर्को न भवत्येव। व्याख्यातं च

---

१ ० मन्यत – स ('म' नास्ति)

२ ० मजमन्त्रं – शांखायनगृह्ये पाठः।

३ मन्येतत् – ग, स

४ *शां. गृ. सू.* २.१६.१

५ प्रणीत्युप० – स

६ ० रिति विशेषो० – स

७ संवत्सन्ते – स

८ ० शायद्य० – स

९ कर्काचार्याः स्मार्त्तसूत्रव्याख्यायाम् पृ. ४६.

१० ० कृतादर्पा – स

११ रितिरिति – स

भर्तृयज्ञपादैरेवमेव। अतएवाश्वलायनसूत्रे [1]ऋत्विजो वृणीत इत्युक्त्वाऽन्यूनानतिरिक्ताङ्गानीत्यादिऋत्विग्लक्षणमभिधाय[2] ब्रह्मादि-सप्तदशानां वरणं सोमयागार्थतयाभिधाय तेषां च सोमयागगतधर्मविशेषानभिधाय "ऋत्विजो वृत्वा मधुप[3]र्कमाहरे-दित्याद्यर्हणस्योक्तत्वात्। तथा कर्काचार्यैरपि [4]यद्यप्यसकृदिति सूत्रे सोमेन यक्ष्यमाणा एव ऋत्विजोऽर्घ्या नेतरैर्यागैरित्यु[5]क्तम्। अपरे तु शब्दं च शब्दस्यार्थे वर्णयन्ति। यक्ष्यमाणाश्च सम्वत्सरे चेति। तेन यागव्यतिरेकेणागतेषु[6] अर्हणं भवतीत्यर्थः। एवञ्चाग्रिम[7]सूत्रस्थोऽपि शब्दः समर्थो भवति। अन्यथा यद्यसकृदिति सूत्रं प्रणेयं स्यात्। मानवसूत्रे[8]। षड[9]र्घ्या भवन्त्यृत्विगाचार्यो विवाह्यो राजा स्नातकः प्रियश्चेति[10]। अप्राकरणिकान्वा परिसम्वत्सरादर्हन्ति[11]। प्राकरणिकाः कर्त्तारः सदस्याश्च वृताः[12]। न जीवत्पितृकोऽर्घं[13] गृह्णीया[14]दिति श्रुतिरथवा

---

१ *आ. गृ. सू.* १.२३.१–१८

२ ०धायत्र – स

३ *आ. गृ. सू.* १.२४.१.

४ *पा. गृ. सू.* १.३.३१

५ ०र्यागैदित्युक्तम् – स

६ ० गतिषु – स

७ अग्निम – स

८ मानवगृह्यसूत्रम् *(मा. गृ. सू.)*

९ षडर्घ्यार्हा – *मा. गृ. सू.*

१० *मा. गृ. सू.* १.९.१.

११ अर्हयन्ति – *मा. गृ. सू.* १.९.२

१२ *मा. गृ. सू.* १.९.३.

१३ ० ऽर्घ्यं – *मा. गृ. सू.*

१४ प्रतिगृह्णियादिति इति *मा. गृ. सू.*

प्रति[1]गृह्णीयादिति। अर्हणीया उक्ता अर्हणकालश्च। सम्प्रति अर्हणविधिमुपदिशति।

।।श्रीः।। आसनमाहार्याह साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तमिति (१.३.४)।।

आसनमर्घ्यस्योपवेशनार्थं पीठा[2]दि आहार्य आनाय्य उपकल्पनानन्तरमर्घ्यं प्रति साधु भवानास्तामर्चयिष्यामो भवन्तमित्याह। आहार्येति णिजन्तत्वादासनमाहरेति प्रैषे दत्ते पुत्रा[3]दिना पीठाद्यासने आनीते[4]। अतएवार्यपादैरुक्तं श्वसुरो ब्रूयादासनमाहरेति साधु भवानास्तामिति च। साधु यथा स्यात्तथाऽस्मिन्नुपकल्पिते आसने आस्तां भवन्तं वयमर्चयिष्याम इति।

।।श्रीः।। आहरन्ति विष्टरं पा[5]द्यं पादार्थमुदकमर्घमाचमनीयं [6]मधुपर्कं [7]दधिमधुघृतमपिहितं काꣳस्ये का[8]ꣳस्येन (१.३.५.)।।

उपकल्पिते आसने उपविष्टायार्घ्यायार्हणार्थं यजमानपुरुषाः पुत्रादयः विष्टरादिद्रव्याण्याहरन्ति। एवमेव भर्त्तृयज्ञपादैर्व्याख्यातम्। अपरे त्वासन[9]माहार्येत्यत्राऽसनपदं वक्ष्यमाणविष्टराद्युपलक्षकम्। तेन विष्टरादिसर्वद्रव्ये आनीते साधु भवानिति प्रैषः। तन्नेत्यपरे। नह्यागतस्य संभारसंपत्तिपर्यन्तमनुपवेशनं युक्तम्। आहरन्ति यत्तदाह। विष्टरम्। विष्टरस्त्रिवृदरत्निमात्रः कौशो रज्जुविशेष इति भर्त्तृयज्ञपादाः। उपवेशनार्थं

---

१ प्रतिगृंह्णियात् इति *मा. गृ. सू.*
२ पीहादि – स
३ पुपादिना – स
४ आसीते – स
५ पद्यं – ग, स
६ मधुपर्कं – नास्ति स–मातृकायाम्
७ दधि – नास्ति स – मातृकायाम्
८ नांस्येन – स
९ त्वासमा० – स

विष्टरिकेति कर्कः। विष्टरस्त्रिवृतो दर्भकूर्चक इति **छन्दोगगृह्य**[१]**भाष्ये**। विष्टरो छिन्ना[२]ग्रपञ्चविंशतिकुशपत्रकृतः। तथा च **गृह्यासंग्रहपरिशिष्टे**[३]।

कतिभिस्तु कुशैर्ब्रह्मा कतिभिर्विष्टरो मतः।
पञ्चाशद्भिः कुशैर्ब्रह्मा तदर्द्धेन तु विष्टरः।।
दक्षिणावर्तको ब्रह्मा वामावर्त्तस्तु विष्टरः।
ऊर्ध्वकेशो भवेद्ब्रह्मा लंबकेशस्तु विष्टरः।

इति हेमाद्रिः[४]।

प्रादेशमात्रं त्रिवृतं कौशं वा काशनिर्मितम्[५]**।**
विष्टरं सूरयः प्राहुरभावे वल्क्या[६]**दिभिः।।**

इति कारिकायाम्।

शांखायनगृह्यकारिकायां तु।
वेण्याकारं दर्भमुष्टिमाहुः कूर्चं च विष्टरमिति।

छन्दो[७]**गपरिशिष्टे** कात्यायनेन विष्टरे दर्भसंख्या न भवतीत्युक्तम्। यथा।

यज्ञवास्तुनि मुष्टौ[८] **च स्तम्बे दर्भवटौ**[९] **तथा।**
दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणेषु च। इति

---

१ ० गृह्यसूत्रे – स

२ लन्नाग्र – स

३ गोभिलीयगृह्यभाष्ये पाठभेदेन प्राप्यते।

४ *गोभिलगृह्यभाष्यकारमते* (१.६.२०) *गृह्यासंग्रहपरिशिष्टम्*, पृ. २३३

५ इति रेणुकः इति गदाधरभाष्ये पृ. ५३।

६ वल्बजादिभि० – स

७ *कर्मप्रदीपे* इति गोभिलभाष्यकारः, पृ. २३४; *कात्या. स्मृ.* १८.२४; स्मार्तो०, पृ. ३८

८ 'मुष्ट्याञ्च' इति *गोभिलगृह्यभाष्ये* पाठः ४.१०.५.

९ 'दर्भचटौ' इति ग, स।

विष्टरमित्येकवचनं जात्यपेक्षया। पादयोरन्यमिति वक्ष्यमाणत्वाद्द्वयोर्विष्टरयोराहरणम्। पद्यं आहरेयुः। पादार्हं पद्यम्। अप्रसिद्धत्वात्स्वयमेव व्याचष्टे। पादार्थमुदकम्। यत्पादार्थं पादप्रक्षालनार्थमुदकं तत्प[1]द्यमित्युच्यते। एवमेव भर्तृयज्ञपादैर्व्याख्यातम्। अपरे तु पद्यशब्देन पादयोरधस्तान्निधानार्थं द्वितीयं विष्टरमाहुः। शाखान्तरे तु पद्यशब्देन पादप्रक्षालनोदकमेवोक्तम्। यथा **छन्दोगगृह्ये**[2]। **विष्टरपाद्यार्घ्याचमनीयमधुपर्कानेकैकशस्त्रि**[3]**स्त्रिर्वेदयेर**न्नित्यत्र पाद्यं पादप्रक्षालनार्थमुदकमि[4]ति व्याख्यातम्। अस्ति च तेषां द्वितीयो विष्टरः। **आश्वलायनसूत्रे** च। दधनि[5] मध्वानीय। सर्पिर्वा मध्वलाभे। विष्टरः पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्को गौरित्येत[6]त्त्रिस्त्रिरेकैकं वेदयन्ते इति[7]। अर्घं[8] आहरेयुः। केचिदर्घमित्यु[9]दकगन्धपुष्पाण्यक्षतवदराण्येवं पञ्चाङ्गमर्घं मन्यन्ते। अपरे तु दधिमधुघृतान्यधिकानीत्येवमष्टाङ्गमप्याहुः। अन्ये तु दध्यक्षतसुमनसोयुक्तमुदकमाहुः। साक्षतं सुमनसो युक्तमुदकं दधिसंयुतं अर्घमिति वचनात्। **शांखायनगृह्यकारिकायां** तु। ''दर्भपुष्पयवैर्युक्तं पात्रेऽर्घं वारि यज्ञिय'' इति।

कर्काचार्यास्तु केवलमुदकमेवाहुः। तथा च लिङ्गम्। यथा राज्ञ आगतायोदकमाहरेदेवमेतदिति। सोमस्योदपात्रनिनयनं विधायैतदुक्तम्।

---

१ तद्यमित्यु० – स

२ *गो. गृ.* ४.१०.५.

३ कशस्त्रिभिर्वेद – स

४ ''पादार्थमुदकं पाद्यं केवलं जलमेव तत्। तत्तैजसेन पात्रेण शङ्खेनापि निवेदयेत्'' इति पुराणेषु स्मर्य्यते।

५ दधति – स

६ गौरित्येतेषां इति आ. गृह्ये ऐथलसम्पादिते ग्रन्थे पाठः।

७ *आ. गृ. सू.* १.२४.५–७.

८ अर्घा – स

९ मित्युच्यदक – स

आचमनीयं आचमनार्थमुदकम्। मधुपर्कम्। मधुपर्क[1]स्य शाखान्तरे अनेकविधत्वात् स्वयमेव व्याचष्टे। **दधिमधुघृतमपिहितं काꣳस्ये काꣳस्येन।** एकस्मिन्कांस्ये[2] पात्रे यद्दधिमधुघृतमासिक्तमपरेण कांस्यपात्रेणापिहितं तन्मधुपर्कशब्दवाच्यमित्यर्थः। विष्टरादिमधुपर्कान्तं सर्वमाहरन्ति। आहरन्तीति बहुवचनं यजमानस्य सर्वगृह्यविषयम्। यत्र वा अर्हन्नागच्छति सर्वगृह्या इव वै तत्र चेष्टन्तीति श्रुतेः। उच्चारणार्थं वा बहुवचनमिति कर्काचार्याः।

।।श्रीः।। अन्यस्त्रिस्त्रिः प्राह[3] विष्टरादीनि (१.३.६.)।।

अर्घ्यार्घयितृव्यतिरिक्तः कश्चनार्घयितृपुरुषो विष्टरादीनि [4]त्रिस्त्रिः प्राह ब्रवीति। विष्टरादीनि त्रिस्त्रिरिति वीप्सावचनादेकैकस्य त्रिर्वचनम्। तत्र विष्टरनिवेदने द्विवचनान्तः प्रयोगो विष्टरौ विष्टरौ विष्टराविति विष्टरद्वित्वादित्यार्यपादाः। विष्टरद्वय[5]पक्षे द्विवचनेन निवेदनमिति **छन्दोगगृह्यभाष्ये।** कर्काचार्यास्त्वेकस्यैव विष्टरस्य पूर्वमावेदनमिच्छन्ति। पादप्रक्षालना[6]नन्तरं तु द्वितीयम्। तेनैकवचनान्त उभयत्रप्रयोगो विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यतामिति। आर्यपादमते तु प्रतिगृह्यतामित्यर्घयितुर्वचनम्। एवं पाद्यम्। कर्काचार्यमते तु पादार्थमुदकमितिप्रयोगः सिद्धो भवति। एवमर्घाचमनीयमधुपर्केषु।

---

१ ०पकस्य – स

२ एकस्मिन् कांस्ये न – इत्यधिकः पाठः स-मातृकायाम्।

३ प्राह न – स

४ त्रिभिस्त्रिः – स

५ द्वम – स

६ प्रक्षाल्य उनानन्तरं – स

।।श्रीः।। विष्टरं प्रतिगृह्णाति (१.३.७.)।।

[1]अर्घयित्रा दीयमानं विष्टरं प्रतिगृह्णाति। विष्टरमित्येकवचनं जात्यपेक्षया। मंत्रानुपदेशात्तूष्णीमेव।

।।श्रीः।। वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः। इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासतीत्येनमभ्युपविशति (१.३.८)।।

तत आत्तं विष्टरमासने प्रागग्रं वोदगग्रं वा स्तीर्य एनं विष्टरमभ्युपरि उपविशत्यनेन मंत्रेण। केचित्तु वर्ष्मोऽस्मीति मंत्रेण प्रतिग्रहणमिच्छन्ति। उपवेशनं तूष्णीमिति। तन्न। लैंगिकत्वान्मंत्रविनियोगस्य। इमं तमभितिष्ठामीति चाधिष्ठानलिंगात्। एवमेव भर्त्तृयज्ञकर्काभ्यां व्याख्यातम्। तथा च **छंदोगसूत्रे**[2]। या ओषधीरित्युदञ्चं विष्टरमास्तीर्याध्यु[3]पविशेदिति। **कारिकायाम्।**

अर्घ्याया[4]र्घयिता तस्मै विष्टरं तं प्रयच्छति।
तूष्णीं स प्रतिगृह्णीयादुदगग्रं तमासने[5]।
निधायोपविशेत्तस्मिन्वर्ष्मोऽस्मीति च मंत्रतः।
अन्तरा पठितो मंत्र अपादानोपवेशने।
अपि चेन्मंत्रलिंगात् स नियोज्य उपवेशने। इति

आश्वलायनसूत्रे[6] च।

---

१ अर्घपित्रा – स

२ *गो. गृ.* ४.१०.६.

३ ॰ तीर्याध्युपस्तीर्याध्यु॰ – स

४ अर्घ्या चार्घ॰ – स

५ ० सते – स

६ *आ. गृ. सू.* १.२४ ८–६

अहं वर्ष्म [1]सजातानां विद्युतामिव सूर्यः।
इदं तमधि[2]तिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति।।

इत्युदगग्रे विष्टर उपविशेत्[3]। आक्रम्य वेति[4]।

शांखायनगृह्यकारिकायाम्।

उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा भवत्यर्घ्यस्तथेतरः।

आदाय कूर्चं त्रिः प्राह कूर्च[5] इत्यपरस्त्वथ।

प्रगृह्य कूर्चं तं तूष्णीमहं वर्ष्मेति मंत्रतः।

प्राग्वोदग्रा निधायैनमध्यास्ते वाधितिष्ठतीति।

द्वितीयविष्टरविनियोगमाह।

।।श्रीः।। पादयोरन्यम् (१.३.६.)।।

अन्यं द्वितीयं विष्टरं पादयोरधिष्ठानं[6] करोत्यनेनैव मंत्रेण। पादयोरधस्ताद्ददाति करोति स्थापयतीत्यर्थः।

।।श्रीः।। विष्टर आसीनाय सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं प्रक्षालयति (१.३.१०.)।।

पाद्यमुदकं यथोक्तनिवेदनप्रकारेणार्घ्याय दत्त्वा विष्टरे आसीनायेति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। आसीनस्यार्घ्यस्य विराजो दोहोऽसीति मंत्रेण तेनोदकेन सव्यं पादं प्रक्षाल्य ततस्तेनैव मंत्रेण दक्षिणं प्रक्षालयति अर्घयिता।

---

१ सुजातानां – ग, स

२ तमधिष्ठामि–स। ऐथलसम्पादिते आश्वलायनगृह्ये – तदधितिष्ठामि इति पाठः।

३ *आ. गृ. सू.* १.२४.८

४ *आ. गृ. सू.* १.२४.६

५ कूर्चं त्रि – स (त्रि इत्यधिकः पाठः)

६ अधिष्ठानमित्यारभ्य दक्षिणमिति पर्यन्तः पाठो नास्ति स–मातृकायाम्।

विष्टरस्थयोरेव पादयोः प्रक्षालनं यथा स्यादित्येतदर्थं विष्टर आसी[1]नायेत्युक्तम्। तथा च भर्त्तृयज्ञपादाः। विष्टर आसीनायेति वचनाद्विष्टरस्थमेवास्या[2]र्घ्यस्य सव्यं[3] पादं प्रक्षाल्य ततो दक्षिणं प्रक्षालयेद्विराजो दोहोऽसीत्यनेन मंत्रेणेति।

।।श्रीः।। ब्राह्मणश्चेद्दक्षिणं प्रथमम्। विराजो [4]दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विराजो दोह इति (१.३.११–१२)।।

चेद्यदि पादप्रक्षालनकर्त्तार्घयिता ब्राह्मणो भवति तदार्घ्यस्य प्रथमं दक्षिणं प्रक्षाल्य ततः सव्यं प्रक्षालयति। तथा चोक्तमा**श्वलायनगृह्यसूत्रे**। पादौ प्रक्षाल्यापयीत[5]। दक्षिणमग्रे ब्राह्मणाय प्रयच्छेत्[6]। सव्यं शूद्रायेति[7]। **शांखायनगृह्यकारिकायाञ्च**।

आदाय पाद्यमुदकं पाद्यं त्रिरितरो वदेत्।
विराज इति मंत्रेण तद[8]पस्त्वपरः पदोः।
निनयेत्पुरतः पूर्वं गृहीत्वा पूर्णमञ्जलिम्।
प्रक्षालयेत्ततः पादावितरोऽर्घ्यस्य स द्विजः।
दक्षिणं क्षालयेत्पूर्वं सव्यं शूद्रोऽवरस्य तम्। इति

यत्तु **कारिकायाम्**

---

१ ० नामे – स

२ वास्यार्घस्य – स

३ व्यं – स ('स' नास्ति)

४ होऽसि – स ('दो' इति नास्ति)

५ प्रक्षालापयीत – ऐथलसम्पादिते *आश्व. गृह्ये* १.२४.१०

६ *आ. गृ. सू.* १.२४.११; दक्षिणाय प्रय० – स

७ *आ. गृ. सू.* १.२४.१२.

८ तदपंस्त्व० – स

एवं पादार्थमुदकं त्रिः सकृत्प्रतिगृह्यताम्।
विराज इति मंत्रेण तद्गृहीत्वोदकं[१] वरः।
पादौ प्रक्षालयेत्तूष्णीं स तेन स्वयमात्मनः।
प्रथमं दक्षिणं पादं ब्राह्मणोऽर्घ्यो भवेद्यदि।
स्यातां क्षत्रियवैश्यौ चेदितरं प्रथमं तयोः। इति

पाद्योदकग्रहणं समन्त्रकं तूष्णीं पादप्रक्षालनमित्यादिस्व-कपोलकल्पितत्वात्स्वान्यसूत्रविरुद्धत्वाच्चोपेक्ष्यम्। यत्तु [२]कर्काचार्यैः प्रक्षालयत्यर्घ्य एवेत्युक्तं तत्स्वसूत्रविरुद्धत्वादाश्वलायनादि-सूत्रविरुद्धत्वाद्भर्तृयज्ञादिजीर्ण[३]-भाष्यकार-विरोधाच्चोपेक्षणीयमेव।

।।श्रीः।। **अर्घं प्रतिगृह्णात्यापःस्थ युष्माभिः सर्वान्कामानवाप्नवानीति** (१.३.१३.)।।

ततः पादप्रक्षालनानन्तरमन्येनाऽर्घ इति त्रिरुक्तेऽर्घयित्रा प्रतिगृह्यतामित्युक्त्वा[४] च[५] प्रदीयमानमर्घमापस्थ इति मंत्रेणार्घ्योऽजलिना प्रतिगृह्णाति।

।।श्रीः।। **निनयन्नभिमन्त्रयते समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत। अरिष्टास्माकं [६]वीरा मा परासेचि मत्पय इति।** (१.३.१४.)।।

---

१ ०त्वोदक – स
२ "विराजो दोहोऽसीत्यनेन मन्त्रेण। पादार्थमुदकं गृहीत्वा प्रक्षालयत्यर्घ्य एव" इति *स्मार्तसूत्रव्याख्यायाम्,* पृ. ४८
३ जीण० – स
४ स–मातृकायां 'उक्त्वा' इत्यनन्तरं पाठो बाधितः। तत्र "णोमि स्वां योनिमभिगच्छतः। अरिष्टाऽस्माकं नीराभापराक्तेचिमत्यय इति" इत्ययं अधिकः पाठः।
५ 'च' नास्ति – स।
६ नीरा – स

अर्घप्रतिग्रहानन्तरं तमर्घं शिरः प्रत्युद्यम्यात्मसंमुखं[1] निनयन्निनयनं कुर्वन् 'समुद्रं व' इत्यनेन मन्त्रेणार्घमभिमन्त्रयते। स्वयन्निनीयमानमुदक-मवलोकयन्नमुं मन्त्रं पठतीत्यर्थः। तथा चार्यपादाः। शिरः प्रत्युद्यमनग्। अभिमुखं[2] निनयनं कुर्वन् समुद्रं व इत्यभिमंत्रणमिति। **कारिकायाञ्च।**

त्रिराहार्घोऽर्घ इत्यन्य अर्घ्यायार्घयिता पुनः।
अमहीमय[3]पात्रस्थमर्घं तस्मै प्रयच्छति।
तं गृह्णाति स आपस्थ युष्माभिरिति मंत्रतः।
मूर्द्धानमभिवंद्याथ[4] निनयन्नभिमंत्रयेत्।
प्रागुदग्वा समुद्रं वः प्रहिणोमीति मंत्रतः।
जलं तदर्घशब्देन लिंगादेवावगम्यते। इति

छन्दोगानां तु अर्हणकर्त्रा कांस्यपात्रेण साक्षादर्घद्रव्य-मेवावसिच्यमानमञ्जलिनार्घ्यः प्रतिगृह्णीयात्। कांस्येनैवार्ह[5]णीयस्य निनयेदर्घ्यमञ्जलाविति" तत्**परिशिष्ट**- वचनात्। तथा**ऽऽश्वलायनसूत्रे**[6]। प्रक्षालितपादोऽर्घ्य[7]मञ्जलिना प्रतिगृह्य। अथाऽऽचमनीयेना[8]चामतीति[9]।

---

१ संसुखं – स
२ ० मुख – स
३ अमहीयम – स
४ ० वंद्याय – स
५ ० नैर्वार्ह०–स
६ *आ. गृ. सू.* १.२४.१३.
७ 'अर्घ्यं' नास्ति–ग. स.
८ ० नाचमतीति–ग
९ अमृतोपस्तरणमसि' (*तै. आ.* १०.३२.१) इत्यनेन मन्त्रेण आ. गृह्ये।

।।श्रीः।। आचामत्यामागन्यशसा सꣳसृज वर्चसा। तम्मा कुरु प्रियं प्रजानामधि[1]पतिं पशूनामरिष्टिं तनूनामिति (१.३.१५.)।।

अर्घनिनयानन्तरमाचमनीयं यथोक्तप्रकारेण प्रदीयमानं गृहीत्वा तमुदकमामागन्निति मन्त्रेणाऽऽचामेत्। **छन्दोगगृह्यभाष्ये** तु विशेषः। तच्च सकृन्मंत्रेण द्विस्तूष्णीं भक्षयेदथ यथोक्तेन विधिनेन्द्रियाण्युपस्पृशेदिति। **कारिकायां** तु।

''त्रिराहाऽऽचमनीयं तत्पूर्ववत्स प्रयच्छति।

सकृत्त्वाचामेत्तन्मंत्रेणामाग[2]न्यंशसेति चेति।।

शांखायनकारिकायाम्। आपो हिष्ठेति तिसृ[3]भिराचामेत्प्रत्यृचं पय इति।

।।श्रीः।। मित्रस्य त्वेति मधुपर्कं प्रतीक्षते (१.३.१६)।।

आचमनानन्तरं यथोक्तविधिना यथोक्तं मधुपर्कं प्रदीयमानमर्घयितुर्हस्तस्थं मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्ष इत्यनेन मंत्रेण प्रकर्षेणेक्षतेऽवलोकयति। ईक्षणे प्रकर्षश्च तमुद्घाटयित्वेक्षणं कर्त्तव्यमिति। अपिहितत्वात्। एतेषु विष्टरादिद्रव्येषु सर्वेष्वन्येन त्रिस्त्रिस्तत्तद्द्रव्याभिधाने कृतेऽर्घयिता प्रतिगृह्यतामित्युक्त्वाऽर्घ्याय दद्यात्। प्रतीक्षणमन्त्रस्य प्राशित्रप्रतीक्षणे कल्पकारेण सकलाम्नाना[4]दिहादिमात्रेणोद्देशः। **आश्वलायनसूत्रे[5]।** मधुपर्कमाह्रियमाणमीक्षते 'मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्ष[6]' इतीति। **शांखायनकारिकायाम्।**

---

१ ''पतिं पशूनामरिष्टिं'' नास्ति–स.

२ मामन्य–स

३ पिसृभि–स

४ ० म्नादि० – स

५ *आ. गृ.* १.२४.१४.

६ *तै. सं.* १.१.४.१.

मधुपर्कमथादाय कांस्यस्थमितरो वदेत्।

मधुपर्क इति त्रिस्तं प्रेक्षेत्प्राशित्रवत्परः।

मित्रस्य त्वेति मंत्रेण प्रेक्षितस्य प्रतिग्रह इति।

कारिकायाम्।

मधुपर्कं त्रिराहान्यः स प्रयच्छति पूर्ववत्।

मित्रस्य त्वेति मंत्रेण मधुपर्कं प्रतीक्षते।

कर्त्तुः करस्थितं कांस्ये दधिमध्वाज्यसंयुतमिति।

।।श्रीः।। देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णाति (१.३.१७.)।।

ईक्षणानन्तरं देवस्य त्वेति प्राशित्रप्रतिग्रहणमंत्रेणाञ्जलिना प्रतिगृह्णाति। प्राशित्रप्रतिग्रहणमंत्रस्यादिमात्रेण निर्द्देशः क्रियासामान्यात्तदीक्षणमंत्रेणोपस्थापितत्वाच्च। **आश्वलायनसूत्रे**[1]**।** देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीति[2] तदञ्जलिना प्रतिगृह्येति। गृहीत्वा दक्षिणेनाथ पात्रं सव्ये करोति तदिति **शांखायनगृह्यकारिकायाम्।**

।।श्रीः।। सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणस्यानामिकया त्रिः प्रयौति नमः श्यावास्यायान्न[3]शने यत्त[4] आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामीति (१.३.१८)।।

प्रतिग्रहणानन्तरं तं सव्ये पाणौ सव्यहस्ते निधाय दक्षिणस्य [5]हस्तस्यानामिकया कृत्वा मधुपर्कं नमः श्यावा[6]स्यायानिति मंत्रेण त्रिः

---

१ *आ. गृ.* १.२४.१५

२ *तै. सं.* २.६.८.६.

३ ० यायान्नश० – स

४ यत – स

५ "हस्तनिधाय दक्षिणस्यानामिकया" इति स – मातृकायाम्।

६ श्यानास्या – स.

वारत्रयं दधिमधुघृतानि प्रदक्षिणं प्रयौति मिश्रयत्येकीकरोत्याड्वालयतीत्यर्थः। श्यावास्यायेति पाठ इति **भर्त्तृयज्ञपादाः**। दक्षिणग्रहणं तु सव्यहस्तस्थस्यैव दक्षिणेन प्रयवनं यथा [1]स्यादित्येतदर्थम्। ततश्च भक्षणं भुवि पात्रं निधायैव कर्त्तव्यम्। तथा च **कारिकायाम्**।

सव्ये कृत्वा करे स त्रिराड्वालयति मंत्रतः।

नमः श्यावेति सव्यस्थं दक्षिणग्रहणाद्यत इति।

आश्वलायनसूत्रे[2]। "सव्ये[3] पाणौ कृत्वा" **मधुवाता ऋतायत**[4] इति तृचेनावेक्ष्यानामि[5]कांगुष्ठेन च त्रिः प्रदक्षिणमालोड्येति। भर्त्तृयज्ञपादास्तु अर्थान्तरे सव्यस्य पाणेर्विनियुक्तत्वाद्दक्षिणस्यैवानामिकया प्राप्ते दक्षिणग्रहणमन्यपदार्थार्थम्। कथम्। सामान्येष्वपि पदार्थेषु विशेषोपदेशाभावेऽपि दक्षिणेनैव पाणिना क्रियत[6] इत्याहुः।

।।श्रीः।। **अनामिकाङ्गुष्ठेन च त्रिर्निरुक्षयति** (१.३.१६.)।।

दक्षिणस्येत्यनुवर्त्तते। तेन सव्यहस्तस्थस्यैव मधुपर्कस्या[7]-वयवमेकदेशं दक्षिणहस्तस्यानामिकाङ्गुष्ठेनादाय त्रिर्निरुक्षेत्। उत्तरस्यां दिशि नितरां सिञ्चेत् प्रक्षिपेत् निरस्येदित्यर्थः। अनामिकाङ्गुष्ठेनेति समाहारद्वन्द्वः। अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामित्यर्थः। चशब्दात्प्रति[8]यवनं

---

१ यस्यादित्ये० – स

२ १.२४.१५.

३ 'सव्ये पाणौ कृत्वा' इति नास्ति आ. गृह्ये। सव्ये. "इति केचित्पठन्ति' इति देवस्वामिभाष्ये।

४ ऋ. सं. १.९०.६.

५ ० नामिकया चाङ्गुष्ठेन इति *आ. गृह्ये* पाठः।

६ त्रित्यत – स

७ स्यावचमेक ० – स

८ प्रतियववं – स

निरुक्षणम्। विजातीय - निरुक्षणव्यवहितत्वात्प्रतियवनं मन्त्रावृत्तिः। एवमेव भर्त्तृयज्ञपादैः कर्काचार्यैश्च व्याख्यातम्[1]। **कारिकायाञ्च।**

त्रिरेवा[2]नामिकांगुष्ठेन तत्स्थस्य निरुक्षति।

निरुक्षेत्प्रतियवनं च शब्दकरणादिह।

मन्त्रावृत्तिर्भवेत्प्रत्युड्वालनं व्यवधानतः।

निरुक्षणेनेति।

।।श्रीः।। तस्य त्रिः प्राश्नाति यन्मधुनो मधव्यं परमꣳ रूपमन्नाद्यम्। तेनाहम्मधुनो मध[3]व्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानीति (१.३.२०.)।।

अनामिकांगुष्ठेनेत्यनुवर्त्तते। तस्येत्यवयवलक्षणा षष्ठी। तस्य मधुपर्कस्यावयवमेकदेशमनामिकाङ्गुष्ठांभ्यां 'यन्मधुन' इत्यनेन मंत्रेण त्रिः प्राश्नाति। उच्छिष्टस्यै वाऽनाचान्तस्य मंत्रोच्चारणं भवति। "[4]मधुपर्के च सोमे च नोच्छिष्टो भवति द्विज" इति **मनुवाक्यात्।** किं चाऽग्रिमसूत्रे आचम्य प्राणान्त्संमृशतीत्युक्तम्। तत्रोच्छिष्टस्य मंत्रोच्चारणे कर्त्तव्ये आचमनस्य प्राप्तत्वादेव पुनर्ग्रहणं मधुपर्कप्राशनमंत्राचमनपरिसंख्यार्थम्। अत्र यद्यपि मधुपर्कद्रव्यस्यैकत्वं तथापि [5]भक्ष्यमाणतदवयवस्य पृथक्त्वात्प्रतिभक्षणं मंत्रावृत्तिः। तदुक्तमार्यपादैः। अनामिकांगुष्ठाभ्यां च

---

१ "अतश्च प्रतिप्रयवणं निरुक्षणम्। एवञ्च त्रिर्निरुक्षणं व्यवधानात्प्रतिप्रयवणं मन्त्राभ्यासः" इति कर्काचार्याः।

२ त्रिरेधा० – स

३ मव्येन

४ मध्येमर्के – स

५ भक्षमाण – स

प्राशनं यन्मधुन इति। एवं द्विर[1]परम्। उच्छिष्टेनैव मंत्रोच्चार इति। तच्च भक्षणं भुवि पात्रं निधायैव कर्त्तव्यमित्युक्तं प्राक्। तदुक्तं **कारिकायाम्**।

मधुपर्कस्य तस्य त्रिः प्राश्नात्यवयवं ततः।

भूमौ निधाय तत्पात्रं स यन्मधुन इत्यतः।

आवृत्तिः प्रति भक्षं स्यान्मन्त्रस्य द्रव्यभेदतः।

उच्छिष्टस्य भवेन्मंत्रोच्चारणं मनुरब्रवीदिति।

आश्वलायनकारिकायाम्।

त्रिरुद्गृह्य त्रिरुत्क्षिप्य भूमौ पात्रं निधाय च।

प्राश्नात्यस्यैकदेशं तु विराजो दोह मंत्रतः। इति

।।श्रीः।। **मधुमतीभिर्वा प्रत्यृ[2]चम्** (१.३.२१.)।।

वा शब्दो विकल्पार्थः। 'मधुव्वाता ऋतायत' इत्येताभिर्वा तिसृभिर्ऋग्भिर्मधुशब्दवतीभिः प्रत्यृचं प्राश्नीयात्। एवमेव भर्त्तृयज्ञादिभिर्व्याख्यातम्। उच्छिष्टशेषप्रतिपत्तिमाह।

।।श्रीः।। **पुत्रायान्तेवासिने वोत्तरत आसीनायोच्छिष्टं दद्यात्** (१.३.२२.)।।

तदुच्छिष्टमुत्तरत उपविष्टाय पुत्राय दद्यात्। पुत्राभावेऽसन्निहिते वा उत्तरत उपविष्टायाऽन्तेवासिने ब्राह्मणायैव शिष्याय वा दद्यात्। शिष्यायोच्छिष्टदानन्तु ब्राह्मणविषयम्। [3]अन्यस्याध्यापनासम्भवात्। अनयोरभावे पक्षद्वितयमाह।

---

१ हिरपरं – स

२ यत्यृचम् – स

३ अत्रान्य – स

।।श्रीः।। सर्वं वा प्राश्नीयाद्वा (१.३.२३)।।

सर्वमुच्छिष्टं स्वयं प्राश्नीयाद्वा[१]।

।।श्रीः।। प्राग्वाऽसञ्चरे निनयेत् (१.३.२४.)।।

अथवा तदुच्छिष्टं प्राक् प्राच्यां दिशि असञ्चरे संचरणरहिते प्रदेशे निनयेत् त्यजेत्। यस्य नास्ति पुत्रोऽन्तेवासी वा[२] तस्य द्वौ पक्षाविति भर्तृयज्ञपादाः। चत्वारस्तुल्यविकल्पा इत्यन्ये। **कारिकायाम्।**

दद्यात्पुत्राय तच्छेषमस्ति चेत्स समीपतः।

आसीनायोत्तरे यद्वा शिष्याय तदभावतः।

सर्वं वा द्रव्यमश्नीयात्क्षिपेद्वा प्रागसंचरे। इति

आश्वलायनसूत्रे[३] तु तूष्णीं चतुर्थम्। न सर्वम्। न तृप्तिं गच्छेत्। ब्राह्मणा[४]योदङ्ङुच्छिष्टं प्रयच्छेत्। अलाभेऽप्सु। सर्वं वेति।

छन्दोगसूत्रे[५]। तूष्णीं चतुर्थम्। भूय एवाभिपाय शेषं ब्राह्मणाय दद्या[६]दित्यादि। ब्राह्मणाय शिष्यायेत्यर्थः।

---

१ ० नीयाद्दा – स ...ः प्राश्नीयात् इति

२ वा इति नास्ति स – मातृकायाम्

३ *आ. गृ. सू.* १.२४.१८–२२. तूष्णीं चतुर्थमिति नास्ति आ० गृह्ये।

४ ब्राह्मणायो दद्यात् – ग, स

५ *गो.गृ.सू.* ४.१०. , १६–१७; अभिपाय आभिमुख्येन पीत्वा इति *गोभिलगृह्यभाष्ये।*

६ दद्यात् दित्यादि – स।

।।श्रीः।। आचम्य प्राणान्त्संमृशति[1] वाङ्मऽआस्ये नसोः प्राणोऽक्ष्णो[2]श्चक्षुः कर्णयोः श्रोत्रं बाह्वोर्बलमूर्वोरोजोऽरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सहेति (१.३.२५.)।।

शेषप्रतिपत्त्यनन्तरं स्मृत्युक्तप्रकारेणाचमनीयोदकेनाचम्य 'वाङ्म[3] आस्य' इत्यादिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं यथालिङ्गं प्राणान्प्राणायतनान्संमृशति। उच्छिष्टस्य मंत्रोच्चारणे कर्त्तव्ये आचमनस्य प्राप्तत्वात्पुनर्ग्रहणं मधुपर्कप्राशनमंत्राचमनपरिसंख्यार्थम्। तत्र 'वाङ्म आस्य' इत्यनेन मन्त्रेण वागायतनं मुखमभिमृशति। यथा चास्मिन्मन्त्रवचने प्राणायतनयोर्मध्ये मे इत्येतत्पदमुच्चारितमेवमुत्तरेष्वपि मन्त्रवचनेषु प्राणायतनयोर्मध्ये मे इत्येतत्पदमनुषञ्जनीयमेव। तुल्ययोगित्वात्। तेन 'नसोर्मे प्राण' इति नासिके अभिमृशेत्। युगपच्चा[4]भिमर्शनम्। तद्वचनत्वाच्छक्यत्वाच्च। "[5]अक्ष्णोर्मे चक्षुरिति चक्षुषी युगपदे वाभिमृशेत्।' कर्णयोर्मे श्रोत्रमिति कर्णावभिमृशेत्। यद्यपि मंत्रस्य द्विवचनान्तत्वाद्युगपदभिमर्शनं कर्त्तुं युज्यते तथाप्येकप्रयत्नेन युगपद्दक्षिणेन पाणिनाभिमर्शनस्याशक्यत्वाद्भेदेनैव दक्षिणकर्णस्याभिमर्शनं कृत्वोत्तरस्य कार्यम्। तत्रापि सन्निपत्योपकारकत्वान्मंत्रस्यावृत्तिर्भवत्येव। तदुक्तं श्रीकल्पकारेण मुहुर्मुहुः '[6]युगपत्तद्वचनत्वात्। भेदे मन्त्रावृत्तिः सान्निपातित्वादिति। एवमेव श्रीभर्त्तृयज्ञपादैरार्यपादैश्च व्याख्यातम्। बाह्वोर्मे बलमिति बाहू अभिमृशेद्भेदेनैव मन्त्रावृत्त्या। ऊर्वोर्म ओज इत्यूरू युगपदेव। अरिष्टानि

---

१ संमृशन्ति – स

२ प्राणोक्ष्योश्च – स, ग

३ वाग्म –ग, स

४ ० पद्या० – स

५ अक्ष्यो० –ग, स

६ *का.श्रौ.सू.* ८.३.२८–२६; "......युगपदञ्जनं द्वित्वाभिधायकत्वान्मन्त्रस्य। भेदेन वाऽञ्जनम्। तस्माद् भेदः। भेदे च मन्त्रावृत्तिः सान्निपातित्वादिति" कर्काचार्याः।

मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सहेति सर्वगात्राण्यभिमृशेत्। अत्रैषु मंत्रेष्वस्त्वित्यध्याहारः[1]। अन्त्ये [2]संत्विति साकांक्षत्वादिति कर्काचार्याः[3]। तथा च **कारिकायाम्।**

द्विराचामेत्स शुध्यर्थं प्राणसंमर्शनं क्रमात्।
स्याद्वाङ्म आस्य इत्याद्यैरस्त्वित्यध्याहृतिर्भवेत्।
साकांक्षत्वात्प्रयोगः स्यान्नसोर्मे प्राण अस्त्विति।
म इत्यत्रानुषङ्गः स्यादक्ष्णोर्मे चक्षुरित्यतः।
कर्णयोः श्रोत्रमित्येवं ततो बाह्वोर्बलं तथा।
भेदेनैव प्रयोगः[4] स्यादधिष्ठानद्वयादिह।
ऊर्वोर्म ओजोऽस्त्वित्यत्र दक्षिणे-व पाणिना।
विनियोगो यथा लिंगं मन्त्राणामनुपूर्वशः।
अरिष्टानीति संत्वन्तं मन्त्रेणाङ्गानि संस्पृशेत्। इति

।।श्रीः।। आचान्तोदकाय शासमादाय गौरिति[5] त्रिः प्राह (१.३.२६)।।

आचान्तोदकायेति वचनात्पुनराचामेत्ततोऽस्मै शासमादाय गामाहृत्य गौरिति त्रिर्ब्रूयात्। विष्टरादीनां च मध्येन परिपठितत्वादादिग्रहणेन न सम्बध्यते त्रिर्वचनमित्यन्तं भर्तृयज्ञव्याख्यानम्। अन्ये 'त्वाचान्तमुदकं ये-

---

१ ० ध्याहमः –स.

२ संविति – स.

३ "साकाङ्क्षत्वादस्त्वित्यध्याहारः। मे इत्यस्य च सर्वत्रानुषङ्गः। अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूरित्यत्र सन्त्वित्यध्याहारः" इति *स्मार्तसूत्रव्याख्यायाम्,* पृ.४८.

४ प्रयोगा – स

५ गौरीति – स

नासावाचान्तोदकस्तदर्थं शासादानमित्याहुः[1]। तादर्थ्यञ्च पशवालम्भनस्य तदर्थत्वात्। अर्घयिता गौरिति त्रिः प्राह। कर्कमते आलभ्यतामित्यध्याहारः। साकांक्षत्वात्। तदुक्तं **कारिकायाम्।**

आचान्तमुदकं येन स आचान्तोदको भवेत्।

तस्मा अर्घयिता शासमादायालम्भनाय गोः।

त्रिः कृत्वा गौरिति ब्रूयादालभ्यतां सकृत्ततः। इति तथा।

आचान्तग्रहणात्केचि[2]दिच्छन्त्याचमनक्रियाम्।

आचार्या अपरे प्राहुरेतदर्थविशेषणम्। इति

आश्वलायनसूत्रे। आचान्तोदकाय गां वेदयन्त[3] इति। **तत्कारिकायाम्।**

आचान्तः पुनराचामेदथ गां च निवेदयेदिति। **छन्दोगसूत्रे** तु विशेषः। आचान्तोदकाय गौरिति नापितस्त्रिर्ब्रूयादिति[4]। अस्य च भाष्यम्। चमु अदने। आचान्तं भक्षितमुदकं येन सोऽयमाचान्तोदकस्तस्मै आचान्तोदकाय प्रकृतत्वादर्हणीयाय। सप्तम्यर्थे चतुर्थी। आचान्तोदके अर्हणीये इति। नापितः क्षुरकर्मकृत्। प्रकृतायाः गोः समीपेऽवस्थाय गौरिति [5]त्रिर्ब्रूयात्। ब्रूयादित्यनेनोच्चैष्ट्वं[6] दर्शयति। कथं नाम यथार्हणीयः

---

१ *स्मार्त्तसूत्रव्याख्यायाम्,* पृ. ४८

२ चिदित्याचमन० – स (इच्छन्ति इति नास्ति)

३ १.२४.२५ "तत्राचान्तोदकवचनमपार्थकम्। . . . .आचमनस्य प्राप्तत्वात्। नेदं शौचार्थमाचमनं चोद्यते। किं तर्हि। कर्माङ्गमाचमनं चोद्यते। यथा दर्शपूर्णमासयोरग्निहोत्रे च। इति *देवस्वामिभाष्ये*

४ *गो. गृ.* ४.१०.१८.

५ गौरितिर्ब्रूयात् – स. (त्रिर्नास्ति स–मातृकायाम्)

६ उच्चैस्त्वमिति *गो. गृह्यभाष्ये,* पृ. ३५६

शृणोति तथा ब्रूयादिति। अथवा तादर्थ्ये[1] चतुर्थी स्यात्। कथं नामार्हणीयं प्रति नापितः स्वकीयं चक्षुर्मनश्च संधाय गौरिति[2] प्रब्रूयादिति। ननु शुचेर्मन्त्रप्रयोगाधिकारादुत्तरसूत्रेऽस्य मन्त्रप्रयोगोपदेशादाचान्तोद-कायेत्यवाच्यम्। न। कुतः। इहाचान्तोदकायेति वचनात्प्राक् प्रतिभक्षं आचमनं न स्यादिति। एवं प्रयोगत आआचमनादुच्छिष्टमेव न स्यादिति गम्यते। यथा प्राणाग्निहोत्रे सोमभक्षे चेति।।

।।श्रीः।। प्रत्याह। माता रुद्राणां दुहिता वसूनाꣳ स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः। प्रनुवोचञ्चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट। मम चामुष्य च पाप्मानꣳ हनोमीति यद्यालभेत (१.३.२७.)।।

गौरिति त्रिरुक्तेऽर्घ्यो माता रुद्राणामित्यमुं मन्त्रं प्रत्याह। तत्र यदि गामालभेत यदि भक्षणेच्छा स्यात्तदा यथावस्थितमन्त्रप्रयोगः। परं तु केवलममुष्येत्यस्य पदस्य स्थाने षष्ठ्यन्त[3]मर्घयितुर्देवदत्तस्येति नाम गृह्णीयात्। ततश्च मम च देवदत्तस्य च पाप्मानं[4] हनोमीत्येवं प्रयोगः। श्रीभर्तृयज्ञ[5]पादैरेवमेव व्याख्यातम्।

।।श्रीः।। अथ यद्युत्सि[6]सृक्षेन्मम चामुष्य च पाप्मा हतः ओमुत्सृजत तृणान्यत्त्विति ब्रूयात् (१.३.२८.)।।

अथ प्रकारान्तरे। यदि तामुत्सिसृक्षेदुत्स्रष्टुमिच्छेदर्घ्यस्तथाप्येष मन्त्रविधिर्भवत्येव। विशेषस्तु मम[1] चामुष्य च पाप्मा हत ओमुत्सृजत

---

१ तादर्थे – स

२ गौरि – स

३ मयितु – स। 'र्घ' इति नास्ति,

४ पाप्मानां – स

५ भतृपादै. – स

६ ० द्युन्सिष्टसृक्षे० – स

तृणान्यत्त्विति ब्रूयादित्येवमर्घ्येणोक्ते तामुत्सृज्य तस्यै तृणानि भक्षणार्थं प्रयच्छेत्। यत्तु कर्काचार्यैरोमुत्सृजत[2] तृणान्यत्त्वित्येतदुच्चैर्ब्रूयात्। निगदो ह्ययमिति। शेषमुपांश्वेवेत्युक्तं[3] तत्र किं मूलमिति त एव विदुः। न चोपांशुप्रयोगः श्रुतेर्न संप्रैषा इत्येतस्यात्र प्रसक्तिरस्तीति वाच्यम्। वेदसम्बन्धाभावात्। न ह्यत्र स्मृतेर्वेदमूलकत्वेन प्रामाण्यं तैरङ्गीकृतम्। अपितु [4]स्मरणादेवेति। तस्माद्यत्किंचिदेतत्। अत्रोत्सर्गो वा आ[5]लम्भो वेत्यर्घ्यस्येच्छया[6]। एवमेव सर्वत्र विकल्पे प्राप्ते क्वचिन्नियममाह।

।।श्रीः।। न त्वेवामाꣳसोऽर्घः स्यात्। अधियज्ञमधिविवाहं कुरुतेत्येव ब्रूयात् (१.३.२६–३०.)।।

अधियज्ञमधिविवाहं च यज्ञे ऋत्विजामर्हणे विवाहे च वैवाह्यस्य जामातुरर्हणे अमांसो मांसवर्जितोऽर्घो मधुपर्को नैव स्यात्। तत्र गवालम्भनं कुर्यादेव। तत्र पूर्वमन्त्रे हनोमि इत्यन्ते कुरुतेति ब्रूयादेव। अत्र श्रीभर्तृयज्ञपादाः। तु शब्दोऽवधारणार्थः। एव शब्दः समुच्चयार्थः। किमवधार्यते। किं वा समुच्चीयते। अधियज्ञमेव नान्यकाले ऋत्वि[7]जामर्हणे। अधिविवाहमेव नान्यकाले विवाह्यस्यार्हणे। अधियज्ञमधिविवाहं चेति समुच्चीयते। कुरुतेत्येवेति प्रतिवचननियमार्थ इति। एतदालम्भप्रकारस्तूपरिष्टाद्वक्ष्यते। यद्यपि मधुपर्के गवालम्भो विहितस्तथापि कलिवर्ज्यत्वात्संप्रत्यनालम्भः। अत्र यक्ष्यमाणास्त्वृत्विज

---

१ मचामुष्य – स

२ सृज्यत – स

३ ० श्वे० – ग

४ स्मरेणा० – स

५ अलंभो – स

६ ० स्वेच्छया – ग

७ ऋत्विमर्हणे – स

इत्यनेन यक्ष्यमाणाश्च परिगतसम्वत्सरा एवार्घ्या न संवत्सरादर्वागित्युक्तं प्राक् तदपवादमाह।

।।श्रीः।। यद्यप्यसकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेत कृतार्घ्या एवैनं याजयेयुर्नाऽकृतार्घ्या इति श्रुतेः (१.३.३१.)।।

यद्यपि सम्वत्सरस्य संवत्सरमध्ये यजमानोऽसकृद्वारं वारं सोमेन यजेत सोमयागं कुर्यात्तथापि कृतार्घ्या एव कृतमधुपर्का एवैनं यजमानं याजयेयुः। कुतः। नाकृतार्घ्या इति श्रुतेः। अकृतार्घ्या न याजयेयुरिति श्रुत्यर्थः। यद्यपि वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेतेत्यनेनैकस्मिन्वसन्ते सकृदेव ज्योतिष्टोमो विधीयते तथाप्येतस्माल्लिंगादेकस्मिन्नपि वसन्तेऽसकृत्पुनः पुनरपि सोमयागो भवतीति केचित्। अपरे तु [1]वाजपेयराजसूयप्रायश्चित्तसोमाभि[2]जिद्विश्वजिदादिविषयमिदमित्याहुः। **छन्दोगसूत्रे**। पुनर्यज्ञविवाहयोश्चेति।[3] यज्ञे ऋत्विजां विवाहे वैवाह्यस्य। संवत्सरमध्येऽपि पुनर्यज्ञविवाहयोरर्हणं स्यादिति। **शांखायनसूत्रे**[4]। षण्णां चेदर्घ्याणामन्यतम आगच्छेद्गोपशुमज[5]मन्नं वा यत्सामान्यतमं मन्येत तत्कुर्यात्। नामांसोऽर्घः स्यात्। अधियज्ञमधिविवाहं कुरुतेत्येव ब्रूयात्। आचार्यायाग्नेयः। ऋत्विजे बार्हस्पत्यः। वैवाह्याय प्राजापत्यः। राज्ञ ऐन्द्रः। प्रियाय मैत्रः। स्नातकायैन्द्राग्नः। यद्यप्यसकृत् संवत्सरस्य सोमेन यजेत कृतार्घ्या एवैनं याजयेयु[6]र्नाऽ कृतार्घ्या[7] इति। हेमाद्रौ [1]विश्वामित्रः।

---

१ वाचयापेय – स

२ ० जिद्विधिश्वजिदादि ० – स

३ *गो.गृ.सू.* ४.१०.२६.''तयोर्निमित्तभूतयोः सम्वत्सरमध्येऽप्यागतानाचार्यादीन् पुनरर्हयेयुः। अपर आह – 'यज्ञविवाहयोर्निमित्तयोरर्व्वागपि सम्वत्सरादृत्विगाचार्यौ प्राप्तौ पुनरर्हयेयुः इति'' इति भाष्ये।

४ *शां. गृ. सू.* २.१५.१–१० (अथ षडर्घणकर्म)

५ ० पशुमजं वा – ग, स.

६ याजयेयु – स

७ त्कितार्घ्या – स

संपूज्य मधुपर्केण ऋत्विजः कर्म कारयेत्।

अपूज्य कारयेत्कर्म किल्विषेणैव युज्यते। इति

इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठकश्रीरामचन्द्रसूनुमहायाज्ञिक-श्रीगंगाधरकृतायां पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तौ प्रथमकाण्डे तृतीया कण्डिका।।३।।



---

१ वृद्धयाज्ञवल्क्येन धर्मशास्त्रकाररूपेण स्मृतः। महापातकविषयकवचनान्य–स्यापरार्क–देवण्णभट्टजीमूतवाहनादिभिः स्वकीयग्रन्थेषु प्रायेणोद्धृतानि। (द्र काणे, *धर्मशास्त्र का इतिहास*, १, पृ. ६३)

।। चतुर्थी कण्डिका।।

मूलम् - चत्वारः पाकयज्ञा हुतोऽहुतः प्रहुतः प्राशित इति।।१।। पञ्चसु बहिःशालायां विवाहे चूडाकरण उपनयने केशान्ते सीमन्तोन्नयन इति।।२।। उपलिप्त उद्धतावोक्षितेऽग्निमुपसमाधाय।।३।। निर्मन्थ्यमेके विवाहे।।४।। उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे कुमार्याः पाणिं गृह्णीयात्।।५।। त्रिषु त्रिषुत्तरादिषु।।६।। स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्यां वा।।७।। तिस्रो ब्राह्मणस्य वर्णानुपूर्व्येण।।८।। द्वे राजन्यस्य।।९।। एका वैश्यस्य।।१०।। सर्वेषाꣳशूद्रामप्येके मन्त्रवर्जम्।।११।। अथैनां वासः परिधापयति जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा। शतं च जीव शरदः सुवर्च्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति।।१२।। अथोत्तरीयम्। या अकृन्तन्नवयं या अतन्वत। याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ। तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति।।१३।। अथैनौ समञ्जयति। समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ। संमातरिश्वा संधाता समुदेष्ट्री दधातु नाविति।।१४।। पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामति। यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनु पवमानो वा। हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोत्वित्यसाविति।।१५।। अथैनौ समीक्षयति। अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्च्चाः। वीरसूर्देवकामास्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः। सोमोऽददद्गन्धर्वाय गन्धर्वोऽदददग्नये। रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्। सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न ऊरू उशती विहर। यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्या इति।।१६।।

।।श्रीः।। चत्वारः पाकयज्ञाः (१.४.१)।।

पच्यतेऽन्वहमनेनेति पाकः करणव्युत्पत्त्याऽधिकरणव्युत्पत्त्या वा पाकः। अकर्त्तरि कारके च संज्ञायामिति[1] घञ्। पाको गृह्याग्निरावसथ्याग्निः शालाग्निरौपासनाग्निः पचनाग्निर्विवाहाग्नि-रित्यनर्थांतरम्। पाके यज्ञाः पाकस्य यज्ञा वा पाकयज्ञाः। ते चत्वारश्चतुःप्रकारा भवन्तीत्यर्थः। के ते पुनश्चत्वारः पाकयज्ञा इत्यपेक्षायामाह।

।।श्रीः।। हुतोऽहुतः प्रहुतः प्राशित इति।।

हूयत एवाऽग्नौ यस्मिन्कर्मणि न बलिप्रदानं स हुतः। यथा सायं–प्रातःकालीनमग्निपरिचरणं देवयज्ञो [2]पाककर्मादयश्च। तदुक्तं **शाङ्खायनगृह्यसूत्रे।** हुतोऽग्निहोत्रहोमेनेति[3]। अग्निहोत्रशब्देन तत्साधनाग्निसदृशः स्मार्त्तोऽग्निर्लक्ष्यते। यद्वाऽग्नौ हूयते तद्धोत्रं द्रव्यं तस्य हवनं होमो देवतोद्देशेन त्यक्तस्य द्रव्यस्य प्रक्षेपो यस्मिन्कर्मणि तदग्निहोत्रम्। अग्निहोत्रहोमकर्मणः श्रौतत्वात्। न हि स्मार्त्तेऽग्निहोत्रहोमोऽस्ति। तेनाग्निहोत्रे पाकेऽग्नौ होमो यस्य सोऽग्निहोत्रहोमस्तेन हुतः पाकयज्ञो भवति।

।।श्रीः।। अहुतः।।

न हूयतेऽग्नौ यस्मिन्कर्मणि सोऽहुतः[4] पाकयज्ञः। यथा भूतयज्ञसर्पबलिस्रस्तरारोहणमणि[5]कावधानानि। तदुक्तं **शाङ्खायनगृह्ये।**

---

१ संज्ञायाति – स

२ पाकर्मा० – स

३ *शां. गृ. सू.* १.१०.७ (क)

४ सोऽहूतः – स

५ ० काय ० – स

अहुतो[1] बलिकर्मणेति। बलिकर्मणेत्येतत्प्रस्तरारोहणस्याप्युपलक्षकम्। होमाभावात्।

।।श्रीः।। प्रहुतः[2]।।

प्रकर्षेण हुतः प्रहुतः। यत्र होमो बलिहरणञ्च। प्रकर्षश्च बलिप्रदानाधिक्यात्। यथा पक्षादिश्र[3]वणाकर्मादयः। यद्वा हुते एव पक्षादिश्रवणाकर्मादेरन्तर्भावः। हूयते प्रधानतयाऽग्नौ स हुतः। न त्वस्मिन्पक्षे बलिसंबंधस्य परिसंख्या। प्रहुतस्त्वन्वष्टका-कर्मपार्वणश्राद्धादिपित्र्यं कर्मोच्यते। प्रकर्षश्च होमे पिंडप्रदानभोजनादीतिकर्त्तव्यताविशेषात्। तदुक्तं **शाङ्खायनगृह्ये। प्रहुतः** पितृकर्मणेति[4]। अतएव गोतमेन[5] सप्तपाकयज्ञसंस्थासु श्राद्धं परिगणितम्। अष्टका पार्वणः श्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी[6] चैत्र्याश्वयुजीति[7] सप्तपाकयज्ञसंस्था[8] इति। अतएव भर्तृयज्ञपादैः कर्काचार्यैश्चाऽग्निमत एव श्राद्धेऽधिकारो नाऽनग्निमत इत्युक्तम्। **युक्तं[9] चैतत्।** पाकयज्ञत्वाच्छ्राद्धस्य। तेन साग्नेः प्रवासे श्राद्धं च न भवति। किंत्वग्निसन्नि[10]धावेवर्त्विगादिद्वारा कारणीयम्। इतरपाकयज्ञ-वदग्निसाध्यत्वात्। प्रपञ्चितं चैतत् **प्रवासकृत्यकारिकाया**मस्माभिः।

---

१ *शां. गृ. सू.* १.१०.७. (ख)

२ प्रहूतः – स

३ ० श्रपणा० – ग

४ *शां० गृ०* सू. १.१०.७. (ग)

५ *गौतमधर्मसूत्राणि* (मिताक्षरावृत्तिसहितानि) डा० उमेशचन्द्रपाण्डेयः, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, गोपालमन्दिर लेन, वाराणसी, १६६६ सीरीज़ १७२

६ ० ग्रहिणी – स ; ० ग्राहिणी – ग.

७ ०युजी चेति – ग, स

८ १.८.१६.

९ मुक्तं – स

१० ० धानेव० – स

अतएव तद्विकृतिभूतन्नित्यश्राद्धं पित्र्यो बलिर्वा प्रहुतः पाकयज्ञो भवत्येव। तदुक्तं **शांखायनगृह्यकारिकायाम्।**

पित्र्यं यत्पिंडदानादिकर्म स प्रहुतो मखः।

अतो यत्किंचन श्राद्धमावपेत् प्रहुते तु तत्।

तथा –

नहि प्रहुतसम्बन्धः प्रेतश्राद्धेषु विद्यते।

कृतेषु तेषु शास्त्रेण पितृलोकाप्तिरिष्यते। इति

।।श्रीः।। प्राशितः।।

यत्र प्राश्यते। न होमो नापि बलिप्रदानम्। यथा नृयज्ञो यथार्हं भिक्षुकानतिथीश्च संभजेरन्निति। तदुक्तं **शांखायनगृह्ये**[1]। प्राशितो ब्राह्मणे हुतः इति। तथा सर्वासां पयसि पायसꣳ श्रपयित्वा ब्राह्मणान्भोजयेदिति। केचित्त्वेतद्ब्राह्मणभोजनस्य वृषोत्सर्गाङ्गत्वमाहुः।

।।श्रीः।। इति शब्दः प्रकारान्तरपरिग्रहे। अस्ति हि पञ्चमः प्रकारो ब्रह्मयज्ञ इति। तस्य पाकयज्ञत्वव्यावृत्त्यर्थं चत्वार इति ग्रहणम्। तेनाऽनग्नेरपि ब्रह्मयज्ञो भवत्येव। अत्र[2] भर्तृयज्ञपादाः। उपदिश्यमाना एवैते चत्वारो भवन्ति। प्रकारवचनमप्रवृत्तिकविशेषकरत्वादनर्थकमिति। नानर्थकम्। प्रकारान्तरसूचनार्थत्वात्। चत्वारः प्रकारा उपदिष्टाः। अस्ति हि पञ्चमः प्रकारः स नोपदिष्टस्तत्सूचनार्थ[3]मेवैतत्सूत्रम्। कश्चासौ। ब्रह्मयज्ञ इति। तस्य विधेर्ब्राह्मणोपदिष्टत्वात्। यथा ऽहरहः स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति। अत्र[4] पाकयज्ञा इत्यन्वर्थसंज्ञाकरणादन्वहं

---

१ *शां. गृ. सू.* १.१०.७. (घ)

२ अन्यत्र – स

३ ० नार्थमवै. – स

४ अ – स

पाकोऽप्यत्रैव कर्त्तव्य इति सूचितं भवति। अतएवाह **यज्ञपार्श्वे** कात्यायनः।

पचनाग्नौ पचेदन्नं सूतके मृतकेऽपि च।

अपचन्नेकरात्रेण पुनराधानमर्हतीति[1]।।

अनेन सूतकमृतकयोराशौचयो[2]र्वैश्वदेवाभावेऽप्य[3]वश्यमहरहः पाकेऽग्नावन्नपाकः कर्त्तव्य इत्युक्तं भवति। तथा च मनुः।

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गार्ह्यं कर्म यथाविधि।

पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृहीति।[4]

याज्ञवल्क्योऽपि।

कर्म स्मार्त्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही।
दायकालाहृते[5] **वापि**[6] **श्रौतं वैतानिकाग्निष्विति**[7]।

अत्र प्रत्यहं प्रतिदिनं पाकलक्षणं तदपि विवाहाग्नाविति मिताक्षराकारेण[8] व्याख्यातम्। तथा **चतुर्विंशतिमते**।

प्रातर्होमं तु निर्वर्त्य समुद्धृत्य हुताशनात्।
शेषं महानसे कृत्वा तत्र पाकं समाचरेत्।

---

१ द्र. *स्मार्तोल्लासे*, पृ. १७०

२ ० शौचयैश्व. – स

३ ० वश्यनह. – स

४ *मनुस्मृतिः* – ३.६७.

५ ० लादत्ते. – स

६ वावि – स

७ *याज्ञ. स्मृति.* १.५.६७.

८ "स्मृत्युक्तं वैश्वदेवादिकं कर्म लौकिकं च यत्प्रतिदिनं पाकलक्षणं तदपि गृहस्थो विवाहाग्नौ विवाहसंस्कृते कुर्वीत। ... श्रुत्युक्तमग्निहोत्रादिकं कर्म वैतानिकाग्निषु आहवनीयादिषु कुर्वीत। *तत्रैव*, पृ. ३१.

तमग्निं पुनराहृत्य शालाग्नावेव निक्षिपेत्।
ततोऽस्मिन्वैश्वदेवादिकर्म कुर्यादतन्द्रितः। इति

तथा शांखायनगृह्यकारिकायाम्।

नित्यपाकस्य शालाग्नेरेकदेशस्य कार्यतः।
पा[1]कार्थमुल्मुकं हृत्वा तत्र पक्त्वा महानसे।
वैश्वदेवोऽग्न्यगारे स्यात्पाकार्थः सोप्यलौकिकः।[2]
भूरिपाको भवेद्यत्र श्राद्धादावुत्सवेषु च।
कृतेऽपि वैश्वदेवे स लौकिको नैव कार्यतः।
होमेनान्तरितं केचिदाहुः सर्वत्र लौकिकम्।
न तत्समञ्जसं तेषामुपयद्ढोमदर्शनात्।[3]
समासं चोल्मुकस्याहुरग्न्यगारे महानसात्।
पाकान्ते वैश्व[4]देवात्प्राक् नैतदप्युपपद्यते।
आहृतेऽप्युल्मुके पाकः शामित्रे दृश्यते पशौ।
[5]वचनादाहृतिः सा तु लौकिकस्त्वपवर्गतः।
धूपको दीपकश्चैव तापार्थं यश्च नीयते।
सर्वे ते[6] लौकिका ज्ञेयास्तावन्मात्रापवर्गतः। इति

---

१ ० कार्थं मु. – स
२ सोप्यानौकिकः – स
३ ० मुपद्दोम. – स; तेषामुपयद्धोम. (गदाधरभाष्ये, पृ. ३८)
४ देवाप्राक् – स
५ नचदाहृतिः – स
६ ति – स

समासे कृते [1]महानसेऽवशिष्टादग्ने[2]र्द्धूपाद्यर्थं नीतानामग्नीनां[3] लौकिकत्वम्। **अत्र** गृह्यस्थालीपाकानां कर्मेत्यनेन प्रतिज्ञासूत्रेण गृह्याग्निविषयं कर्म प्रतिज्ञातम्। तत्र चत्वारः पाकयज्ञा इत्यनेन तद्गतानां यज्ञानां चतुःप्रकारकत्वमुक्तम्। तेनैतत्सूत्रोक्तानां सर्वेषां हुतादीनां शालाग्निसंबंधत्वाच्छालाग्निमतोऽधिकारस्स च शालाग्नावेव न निरग्नेर्नापि लौकिक इत्येवं प्राप्ते विशेषमाह।

।।श्रीः।। पञ्चसु बहिः[4] शालायां विवाहे चूडाकरण उपनयने केशान्ते सीमन्तोन्नयन इति (१.४.२.)।।

पञ्चसु विवाहादिषु सीमन्तोन्नयनांतेषु कर्मसु [5]बहिर्बाह्योऽगृह्यो लौकिकोऽग्निर्भवतीत्यर्थः। अतएव कर्काचार्यैरुक्तं "विवाहादयश्चाऽगृह्याग्निविषया"[6] इति। शालायां मण्डपे कर्म कर्त्तव्यमिति शेषः। यद्वा बहिः शालायामिति बाह्या शाला बहिःशाला तस्यां बाह्ये मण्डप इत्यर्थः। तत्रापि लौकिकेऽग्नावेव पञ्चैतानि भवन्ति। कुतः। आवसथ्यगृह्यशब्दप्रवृत्तेः। न हि वचनं विना आवसथाद्गृहाद्बहिर्[7]नेतुं शक्यते। अतएवौपासनमरण्य[8] [9]हृत्वेत्यत्राऽरण्ये [9]औपासनहरणविधिः समर्थितो भवति। अन्यथाऽग्निमतः[10] सर्वमौपासने कर्म भवति। तेनाऽरण्ये

---

१ ० नंसे – स
२ ० ग्नेद्धूपा. – स
३ ० ग्निना – स
४ बहिशायां – स
५ बलिर्वाह्योक्त० – स
६ स्मार्त्तसूत्रव्याख्या, पृ. ६०.
७ ० द्वद्वि० – स
८ *पा. गृ. सू. ३.८.३*
९ अपासन. – स
१० ० मताः – स

[1]नयनमौपासनस्यार्थ प्राप्तमेव। तद्विधानमनर्थकं स्यात्। तस्मादेतेषु लौकिकेऽग्नावेव कर्म भवति न गृह्ये। विवाहोत्तराङ्गभूतेऽग्निमतः सर्वकर्मणामौपासनाग्नौ विहितत्वाच्चतुर्थीकर्मण्यपि विवाहाग्निरेव स्थापनीयः। धारणस्य दृष्टत्वात्। **शांखायनगृह्यसूत्रभाष्य-कारेणैवमेतत्स्वसूत्रं** व्याख्यातम्। तथा **तत्कारिकायाम्।**

केषु कर्मसु शालाग्निः केषु नेति[2] तु[3] सम्प्रति।

हुतादयोऽमी शालाग्नौ संस्कारत्वाद्यथामताः।

तथा संस्कारकं तस्मिन्त्सर्वमस्त्वविशेषतः।

इति प्राप्ते सूत्रमेतत्पञ्चस्वित्युत्तरं भवेत्।

विवाहादिषु बाह्योऽग्निर्मण्डपे च तदिष्यते।

हुतादियज्ञाः शालाग्नौ नहि संस्कारमात्रतः।

किं त्वेकान्तेन सम्बन्ध इत्यादिना ग्रन्थेन[4] ।

ननु स्वात्मसंस्कारकेष्वेव स्वाहितो[5]ऽग्निरुपयुज्यते। आदधीतेत्यात्मनेपदश्रवणात्। अन्यगामिक्रियाफलककर्मणः स्वाहितेऽग्नौ निषेधात्प्रायश्चित्तविधानाच्च। तेनैतेषु लौकिक एव भविष्यति किमर्थं पुनर्विधानमिति। उच्यते। [6]गृह्यस्थालीपाकानां कर्मेति प्रतिज्ञावचनाद्गृह्याग्नावेवैतेषामनुष्ठानं भविष्यतीति तद्व्यावृत्त्यर्थम्।

---

१ नमन. – स

२ नेतु–स

३ 'तु' इति नास्ति स–मातृकायाम्।

४ ग्रन्थे – स

५ ० हितौ. – स

६ गृह्य. – स

दृश्यते चाऽन्यसंस्कारकं कर्म स्वगृह्येऽग्नौ वचनात्। यथा **शांखायनगृह्ये**[1] नामकरणे सूतिकाग्नौ जन्मतिथिप्रभृतिहोममुक्त्वैवमेव मासि मासि जन्मतिथिं हुत्वोर्ध्वं सम्वत्सराद्गृह्येऽग्नौ जुहुयादिति। तथा पुत्रसंस्कारककर्माङ्गभूतवृद्धिश्राद्धस्य [2]स्वेऽग्नावनुष्ठानदर्शनात्। यत्त्वा-**श्वलायनगृह्ये** –

आन्वष्टक्ये[3] **च पूर्वेद्युर्मासि मास्यथ पार्वणम्।**

काम्यमभ्युदयेऽष्टम्यामेकोद्दिष्टं तथाष्टमम्।

चतुर्ष्वाद्येषु साग्नीनां वह्नौ होमो विधीयते।

पित्र्यब्राह्मणहस्ते स्यादुत्तरेषु चतुर्ष्वपि।

इत्याभ्युदयिकश्राद्धे पित्र्यब्राह्मणहस्तेऽग्नौ करणहोमविधानं तत्तच्छाखापरम्। अस्तु वा पाणिहोमस्य [4]सर्वशाखापरस्तथाप्युल्मुकस्तु स्वाग्नेरेव निधेयः। अनग्नेश्चाग्निसंबन्धान्यकर्मव्युदासार्थम्। पञ्चस्वे-[5]वाग्निसम्बन्धेष्वनग्निरधिक्रियते नान्यत्रेति। साग्नेर्द्वितीयविवाहेऽपि लौकिक एव स्यात्। अतएवोक्तम्।

द्वितीयादिविवाहे च वैवाह्ये सति लौकिक[6] इति। यत्तु [7]शाखान्तरवचनम्।

---

१ *शां.गृ.सू.* १.२५. ४–६, १०–११, एतस्मिन्नेव सूतिकाग्नौ स्थालीपाकं श्रपयित्वा।४। जन्मतिथिं हुत्वा त्रीणि च भानि सदैवतानि।५। तन्मध्ये जुहुयाद्यस्मिन् जातःस्यात् पूर्वं तु दैवतं सर्वत्र।६। एवमेव मासि भासि जन्मतिथिं हुत्वा।१०। ऊर्ध्वं सम्वत्सराद् गृह्येऽग्नौ जुहोति।११।

२ ० श्वोनाव. –स

३ आनष्टक्ये – स। *आ०गृ० कारिका* (?)

४ सर्वं – स

५ ० स्वेनाग्नि. – स

६ ० किल – स

७ शास्त्रा. – स

भार्यायां विद्यमानायां द्वितीयामुद्वहेद्यदि।

तदा वैवाहिकं कर्म कुर्यादावसथे[1]ऽग्निमान्।

इत्यादि[2] तत्तच्छाखापरम्। अतएव **स्मृतिचन्द्रिकायाम्।**

''जीवत्यामपि ज्येष्ठायां द्वितीयस्त्रीपरिणयने कृते।

उत्सर्गेष्वाग्नीनु[3]त्सृज्यान्यया सह पुनरादध्यात्। इति

अत्र स्मार्त्तेऽग्नौ तु स्थालीपाको भवति। य एवाहिताग्नेः पुरोडाशास्त एवानाहिताग्नेश्चरव [4]इत्युक्तत्वात्। अत्र विवाहादिपदस्याऽ[5]समासतः प्रणयनं तत्र तत्र तत्सम्बन्धान्य[6]कर्मणोऽप्युपलक्षणार्थम्। **विवाह** इति चतुर्थी-कर्मणोऽप्युपलक्षकम्। तदेकदेशात्। किञ्च। विवाहार्थ स्थापितस्यैव [7]यानरथाक्षभंगादिप्रायश्चित्ते [8]**तमेवाग्निमुपसमाधायेत्**यनेन धारणानुवृत्ति-दर्शनात्। तच्च चतुर्थीकर्मार्थम्। अन्यथा तद्धारणमनर्थकं स्यात्। **चूडाकरण** इति [9]तदव्यवहितपूर्वकालीनान्नप्राशनस्याप्युपलक्षकम्। **उपनयन** इति ब्रह्मचारिव्रतस्याप्युपलक्षकम्।[10] केशान्त[11] इति

---

१ आवसथ्ये इत्यपि पाठः।

२ ० मादित्यादि. – स

३ ० सृत्याचमा सहपुनराध्यात् – सं

४ इत्युत्वात् – स

५ ग मातृकायां ३१ पृष्ठे= दस्या = इति पदं चिह्नीकृत्य पार्श्वे 'दानां' इति लिखितं वर्तते।

६ सम्बन्धान्म – स

७ ० वाऽनस्थाक्ष. – ग,स

८ *पा. गृ. सू.* १.१०.१.

९ तदनुध्याव्यव. – स

१० ० णम् – स

११ केशान्तर – स

समावर्त्तनस्नानस्याप्युपलक्षकम्। सीमन्तोन्नयन इति श्रुत्युक्तगार्भिकहोमजातकर्महोमानामप्युपलक्षकम्। इतिशब्दः प्रकारे।[1] तेन पाकयज्ञविधानेन विहितोप्यवकीर्णिनः[2] पशुराज्याहुतीवालौकिकेऽग्नावेव स्यात्। हविर्यज्ञविधानविहितस्यापि तथोक्तत्वात्। न [3]व्रात्यस्तोमवदलौकिके। व्रात्यस्तोमा अपि लौकिकेऽग्नावेवेति कर्कसम्प्रदायकारौ। यत्तु देवयाज्ञिकै[4]र्नौपासनश्रुतेरितिसूत्रे तस्मिन्गृह्याणीत्यापस्तम्बः। "गृहाय हितं गृह्यम्। गृहशब्दश्च दम्पत्योर्वर्त्तते। अतश्च यत्किंचिद्दम्पत्योर्हितं शान्तिकपौष्टिक-व्रताङ्गभूतहोमादिकं तत्सर्वमावसथ्येऽग्नौ भवति।" अतएवाह कात्यायनः।

न स्वेऽग्नावन्यहोमः स्यान्मुक्त्वैकां समिदाहुतिम्।[5]

स्वगर्भसत्क्रियार्थाश्च यावन्नासौ प्रजायते।

अग्निस्तु नामधेयादौ होमे सर्वत्र लौकिकः।

न हि पित्रा समानीतः पुत्रस्य भवति क्वचित्। इति

अतश्च सीमन्तोन्नयनं स्मार्त्तेऽग्नावेव कार्यमिति[6] तच्छन्दोगविषयम्। **छन्दोगपरिशिष्ट**स्थकात्यायनवाक्यार्थस्योपसंहृतत्वात्। **किं च।** पुत्रानुत्पाद्य संस्कुर्यादित्यनेन सुतसंस्काराणां[7] [8]स्वाधिकारिकत्वात्सुतसंस्कारकहोमाः स्वेऽग्नावेव कर्त्तव्याः स्युः।

---

१ प्रकारो – स

२ कीर्णितः – स

३ ० स्तोवद. – स

४ *का. श्रौ. सू.* १.१.२०

५ ० दाज्यहुतिम् – स। *कात्या. स्मृ.* १८.१६–१७.

६ "देवभाष्ये परिभाषायाम्" इति गदाधरभाष्ये, पृ. ७

७ ० कारार्णां. – स

८ स्वाध्याधिकारिक – स

जातेष्टिवत्। तस्माद्वक्तव्य[1]मेवैतत्। तथाऽस्माकं तु लौकिकेऽग्नौ [2]विधानाल्लौकिकेऽग्नावेव स्यात्। न च शाखान्तरोपसंहारन्यायेन तदुपादानं युक्तम्। आकांक्षाया[3] अभावात्। स्वशाखाविरुद्धत्वाच्च। अतएव **तत्परिशिष्टे** कात्यायनः[4]।

यन्नाम्नातं स्वशाखायां परोक्तमविरोधि यत्।

विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयमग्निहोत्रादिकर्मवत्।

स्वशाखाश्रयमुत्सृज्य परशाखाश्रयं[5] तु यः।

कर्त्तुमिच्छति दुर्मेधा[6] मोघं[7] तस्य च चेष्टितम्। इति

अक्रिया त्रिविधा प्रोक्ता विद्वद्भिः कर्मकारिणाम्[8]।

अक्रिया च परोक्ता च तृतीया चाऽयथाक्रिया। इति

अतएवार्यपादैरेतेषु लौकिक एवोक्तः। विवाहादयश्चाऽगृह्याग्निविषया इति कर्काचार्यश्च। एवमेव सर्वैर्व्याकृतत्वात्। [9]यदप्यतश्च यत्किंचिद्दम्पत्योर्हितं शान्तिकपौष्टिकव्रताङ्गभूतहोमादिकं तत्सर्वमाव[10]-सथ्येऽग्नौ भवतीति तदपि गृह्यसूत्रो[11]क्तकर्मविषयम्। ''तस्मिन्गृह्याणी''-

---

१ द्वक्तव्य० – स

२ ०ग्नौ विना – स

३ ० क्षामा० – स

४ *कात्या. स्मृ.* ३.३,२.१.

५ ० श्रमं ' स

६ दुर्ज्ञेधा – स

७ मोद्यं – स

८ कारिकारिणां – स

९ तदप्य. – स

१० ० सथ्यग्नौ – स

११ ० सूक्तोक्त. – स

त्यापस्तम्बसूत्रादपि। गृह्याणि गृह्यसूत्रोक्तानीत्यर्थः। धर्मशास्त्रपुराणोक्तेषु तु यत्रैव विशिष्य ग्रहयज्ञादौ शालाग्नौ कुर्यादिति विहितम् तथा प्रायश्चित्ताङ्गभूतहोमे[1] आरम्भे सर्वकृच्छ्राणां समाप्तौ च विशेषतः आज्येनैव हि शालाग्नौ जुहुयाद् व्याहृतीः पृथगिति तत्रैव शालाग्नौ[2] होमः। अन्यत्र तु लौकिके एव होमः। तथा चोक्तमपरार्केण 'कर्मस्मार्त्तमिति'' वाक्यव्याख्याने। एतच्च कल्पसूत्रगृह्यसूत्राम्नातकर्म तत्तदग्निषु प्राप्तमेव धर्मशास्त्रपुराणविहितानां ग्रहयज्ञादिकर्मणां वैवाहिकाग्नि-श्रौताग्निसम्बन्ध[3]विवृत्यर्थमिति। अत्र ग्रहयज्ञग्रहणमुपप्रदर्शनमात्रार्थम्। ग्रहयज्ञे तु **गौतमेन**[4] शालाग्नेरुक्तत्वात्। अतएव **मिताक्षराकारेण**[5] ग्रहयज्ञे शालाग्निरुक्तः[6]। विनायकशान्तौ[7] तु लौकिकेऽग्नौ स्थालीपाकविधिना चरुं श्रपयित्वेत्युक्तम्। तथा च **स्मृत्यर्थसारे।**

गार्ह्यमौपासने कुर्यात्सर्वाधानी तु लौकिके।

स्मार्त्तं च लौकिके कार्यं श्रौतं वैतानिकाग्निषु। इति

---

१ होमै -- स

२ शाग्नौ. -- स। द्र० *याज्ञ०* १.५.६७

३ निवृ. -- स

४ *गौतमधर्मसूत्राणि,* २.२.१७.

५ याज्ञवल्क्यस्मृतिभाष्यकारेण विज्ञानेश्वरेण ग्रहशान्तिप्रकरणे -- १२.३०८

६ ''शान्तिकपौष्टिकाद्यनुष्ठानहेतुमभिधाय शान्तिकपुण्याहस्वस्त्ययनायुष्य-मङ्गलसंयुक्तान्याभ्युदयिकानि विद्वेषिणः स्तम्भनाभिचारद्विषद्वृद्धियुक्तानि च शालाग्नौ कुर्यादिति शान्तिकादीनि दर्शितानि।'' पृ. ६७.

७ *याज्ञ. स्मृ.,* आचार. गणपतिकल्प. ११.२८५, पृ. ६१। ''मितसंमितादिभिर्वि-नायकस्य नामभिः स्वाहाकारान्तैः प्रणवादिभिर्जुहुयात्।.....षट् मन्त्रा भवन्ति। .....एतैरेव......तस्मिन्नेवाग्नौ हुत्वा तच्छेषं बलिमन्त्रैरिन्द्राग्नि-यमनिर्ऋतिवरुणवायुसोमेशानब्रह्मांनन्तानां नामभिः चतुर्थ्यैन्तैर्नमोन्वितैस्तेभ्यो बलिं दद्यादिति''।

स्मार्त्त मन्वादिस्मृत्युक्तं धर्मशास्त्रपुराणोक्तमित्यर्थः। गार्ह्यमौपासन इति पृथगभिधानात्। अतएव **व्यवहाराध्याये**[1] "भ्रातृणामथ दम्पत्योः पितुः पुत्रस्य[2] चैव हि" इति श्लोकव्याख्याने "अतश्चोभयविधाग्निनिरपेक्षेषु कर्मसु पूर्त्तेषु जायापत्योः पृथगधिकारः सम्पद्यते" इत्यनेन ग्रन्थेन पूर्त्तकर्मसु श्रौतस्मार्त्ताग्निसम्बधाभावो दर्शितो मिताक्षराकारेण। एवमेतेषु लौकिकाग्निमुक्त्वेदानीं तत्र विशेषमाह।

।।श्रीः।। **उपलिप्त उद्धतावोक्षिते[3]ऽग्निमुपसमाधाय** (१.४.३.)।।

यत्र यत्र लौकिकाग्नेः स्थापनं कर्त्तव्यं भवति तत्रोपलिप्ते उद्धते[4] उल्लिखितेऽवोक्षितेऽग्निमुपसमाधायाऽऽत्मसम्मुखं लौकिकमग्निन्निधाय कर्म कर्त्तव्यमिति शेषः। विवाहे विशेषमाह।

।।श्रीः।। **निर्मन्थ्यमेके विवाहे** (१.४.४)।।

विवाह इति वक्ष्यमाणस्य दाराहरणस्य कर्मणो नामधेयम्। तत्रैक आचार्या निर्मन्थ्यमचिरनिर्मथितमग्निमुपसमाधाय विवाहं कुर्वन्ति। अतश्च निर्मथनं पाक्षिकम्। निर्मन्थनपक्षे ये केचिदरणी ग्राह्ये। **मानवसूत्रे**[5]। प्रागुदकप्लवं[6] लक्षण[7]मुद्धत्यावोक्ष्य स्थण्डिलं गोमयेनोपलिप्य मण्डलं चतुरश्रं वाग्निन्निर्मथ्याभिमुखं प्रणयेदिति[8]। **शाङ्खायनसूत्रे**[1]। उपलिप्त

---

१ *याज्ञ. स्मृति.*, व्यवहाराध्याये, ऋणादानप्रकरणम् – ३.५२ पृ. १५५

२ पितुस्य – स

३ ० क्षितो – स

४ उधृते – स

५ मानसूत्रे – स

६ प्रागुदवं – स

७ मुद्ध. – स

८ *मानवसूत्रे* १.१०.१. प्रागुदकप्लवमित्यस्य स्थाने प्रागुदञ्चमिति पाठः। "प्राच्यः पञ्च यत्र लेखा उदीची चैका तत्प्रागुदञ्चलक्षणं कर्त्तव्यमिति" अष्टावक्रभाष्यम्।

उद्धतावोक्षितेऽग्निं प्रणीय। निर्मथ्यैके[२] विवाह इति। अत्र परिसमुह्येत्यादि पर्युक्ष्य जुहुयादित्यन्तस्यैष एव विधिर्यत्र क्वचिद्धोम इत्यनेन प्राप्तत्वादुपलेपनादेः पुनर्ग्रहणं [३]परिसमूहनोद्धरणयोः परिसंख्यार्थम्। स्वयं[४]करणप्रतिषेधार्थं चेति श्रीभर्तृयज्ञपादाः। युक्तं चैतत्। पुत्रानुत्पाद्य संस्कुर्यादिति गर्भाधानादिविवाहान्तस्य पित्रधिकारिकत्वात्। दृश्यते चात्रान्यकर्तृत्वम्।

[५]**अथैनौ समञ्जयति। अथैनौ समीक्षयतीति** स्पष्टम्। तथा। **आचार्याय वरं ददातीति।** न च **सा मामनुव्रता** भवेत्यादि लिंगविरोधः शंक्यः। "पुरुष[६]योगिमंत्रसंस्कारयोस्त्यागे सामर्थ्यादि[७]त्यधिकरणे न तत्तन्मंत्रे संस्कार्यस्य कर्तृत्वनियमात्। "[८]यज्ञ नमश्च त इति वेदिमालभत" इति वत्। किं चात्रान्वारम्भो विधीयते। स चान्यकर्तृकत्वे एवोपपद्यते न स्वकर्तृकत्वे। "[९]दानवाचनान्वारम्भणवरवरणव्रतप्रमाणेषु यजमानं प्रतीयादि"त्यन्वारम्भस्य याजमानत्वात्। न च

---

१ *शां. गृ. सू.* १.५ ३–४

२ निर्मथ्यमेकै – स

३ 'परि' नास्ति स–मातृकायाम्

४ ०करणं – स

५ *पा. गृ. सू.* १.४.१४., १.४.१६., १.८.१४; १.८.१

६ योगिर्म. – स

७ ० दिसधि. – स; का. श्रौ. सू. १.७.२० पुरुषयोगी यो मन्त्रः "तनूपा० इत्येवमादिः प्रत्यगाशीर्युक्तः, यश्चात्मसंस्कारः पावनमुण्डनादिः, तौ द्वावपि त्यागे प्रतिपत्तव्यौ। त्यागशब्देन त्यागाधिकृतो लक्षणया यजमानोऽभिधीयते। यजमानयोगिनौ भवत इत्यर्थः। यजमान एव हि समर्थ आशीः प्रार्थनं कर्त्तुम्। संस्कारोऽपि च फलप्रतिग्रहयोग्यतापत्त्या यजमानयोग्येव इति कर्काचार्याः।

८ *का. श्रौ. सू.* ३.६.२०

९ *का. श्रौ. सू.* १.१०.१२

ब्रह्मणोऽन्वारम्भोऽनुपदेशात्। नाप्यन्वारम्भस्यैतन्नित्यं सर्वत्रेति[1] सर्वपाकयज्ञहोमशेषत्वम्। संस्कार्याऽन्यकर्त्तृके एव कर्मणि पुनरन्वारम्भविधानात्। अतएव श्रौतसूत्रे पूर्णाहुतिहोमप्रकरणे अन्वारब्ध एवं सर्वत्र स्वाहेत्यनेन सर्वत्र पूर्णाहुतिविध्यन्तके होमेऽन्वारम्भप्राप्तावुपसदि पुनरन्वारब्धे जुहोतीति पुनरन्वारम्भविधाना-दाधानपूर्णाहुतावेवान्वारम्भो नान्यपूर्णाहुतिकविध्यन्तेऽन्वारम्भ-प्रवृत्तिरितिसर्वैर्व्याकृतम्। अतएवार्यपादैरेवमेव प्रयोग उपनिबद्धः।[2]

।।श्रीः।। उदगयन[3] आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे कुमार्याः पाणिं गृह्णीयात्। (१.४.५)।।

उदगुत्तरस्यां दिश्ययनं[4] गमनं सूर्यस्य यस्मिन्काले। मकरसंक्रमणमारभ्य कर्कसंक्रमणपर्यन्ते काले। स यत्रोदङ्ङावर्त्तते देवेषु तर्हि भवतीति श्रुतेः। आपूर्यमाणपक्षे शुक्लपक्षे। य एवापूर्यते[5]ऽर्द्धमासः स [6]देवानाम् इति श्रुतेः। पुण्याहे [7]शुक्रास्तादिदोषरहितचन्द्र-तारानुकूलसहितज्योतिःशास्त्रोक्तलक्षणलक्षिते शुभे पुण्येऽहनि कुमार्याः पाणिं यथोक्तविधिना गृह्णीयात्। तदुक्तम्।

अमायां चैव भद्रायां करणे विष्टिसंज्ञिके।
यः करोति विवाहं सः शीघ्रं याति यमालयम्।
[8]प्रतिपद्दुःखजननी द्वितीया प्रीतिवर्द्धनी।

---

१ *पा. गृ. सू. १.५.४; का. श्रौ. सू. ४.१०.५*

२ ० निबधः — स

३ उदरगयन — स

४ दिश्यनम् — स

५ ० पूर्यतर्द्धे. — ग ; पूर्यतेर्द्धे. — स

६ देवा — ग, स

७ शुक्रादिदोष. — स

८ प्रतिपदुःख — स

सौभाग्यदा तृतीया स्याच्चतुर्थी चार्थनाशिनी।
पञ्चम्यां सुखवित्तानि षष्ठी विघ्नप्रदा मता।
विद्याशीलसुखाप्तिः स्यात्सप्तम्यामफलाष्टमी।
नवमी शोकभयदा चानन्दो दशमीदिने।
सुखदैकादशी ज्ञेया सफला द्वादशी मता।
मानपुत्रौ त्रयोदश्यां चतुर्दश्यौ तु दोषदे।[१]
फलं बहुविधन्नित्यं पञ्चदश्यां विशेषतः। इत्यादि।

मानवसूत्रे[२]। "ब्राह्मणो भार्याꣳविन्देत्। कृत्तिकास्वातिपूर्वैरिति वरयेत्। रोहिणी मृगशिरः[३] श्रवणः श्रविष्ठोत्तराणीत्युपयमेत्[४] तथोद्वाहे यद्वा पुण्योक्तम्" इति। उदगयनादीनां विसमासेनोच्चारणमह्नः पूर्वाह्णस्य च प्रज्ञप्त्यर्थम्। अहरेव देवा इति पूर्वाह्णो[५] देवा इति च श्रुतेः। तथा च **शांखायनगृह्यसूत्रे**[६]। प्रातर्यत्रैतन्महावृक्षाग्राणि[७] सूर्य आतपति स होमकालः स्वस्त्ययनतमः सर्वासामावृतामन्यत्र निर्देशादिति[८]। सर्वेषां शान्तिकपौष्टिककर्मणां शान्तिपुण्याहंस्वस्त्ययनायुष्यमंगलसंयुक्तादीनामिति भाष्यकारः। तथा विवाहप्रकरणे। उदिते प्राङ्मुखा गृह्याः प्रत्यङ्मुखा आवहमाना गोत्रनामान्यनुकीर्त्तयन्तः कन्यां वरयन्तीति। अतएव

---

१ षदै – स

२ *मा.गृ.सू.* १.७.२–५ पाठभेदः प्राप्यते – "तानि तीर्थानि ब्रह्मणः भार्या विन्दते" इति। गस–मातृकयोः ब्राह्मणो इति वर्तते।

३ ० गश्मिः – स

४ ० यमे – *मा.गृ.सू.*

५ पूर्वाह्णौ – ग

६ "अथ दर्शपूर्णमासौ" इति प्रकरणे।

७ ० ग्राहि. – स

८ *शां.गृ.सू.* १.३.२.

कर्काचार्यैश्चतुर्थीकर्मण्यपररात्रग्रहणं पूर्वाह्णव्युदासार्थमिति[1] व्याख्यातम्। उदगयनादीनां च समुच्चय इति भर्तृयज्ञपादाः। युक्तमेतददृष्टार्थत्वेन श्रुतत्वात्। उक्तञ्च। "[2]धर्ममात्रेषु समुच्चयोऽविरोध" इति। एतच्च सर्वं दैवकर्मविषयमिति कर्काचार्याः[3]। युक्तं चैतत्। वाक्यात्। अपरे तूदगयनादीनां विसमासकरणं विकल्पार्थं तथा च तन्त्रान्तरम्। सार्वकालिकमेके विवाहमित्येवं व्याख्याव्याजेन विवाहार्थत्वमेवाहुः। तथा च **शांखायनः**। उदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे कुमार्यै पाणिं गृह्णीयादिति[4]। वस्तुतस्तु पञ्चसु बहिःशाालायामित्याद्युक्तेष्वेव कर्मसूदगयनादिनियमविधिः। गृह्यसूत्रोक्तान्यकर्मसु तत्र तत्र पृथक्कालविधानात्। सीमन्ते पुनः षष्ठेऽष्टमे वा मासि कुर्यादित्युक्तत्वान्नैकान्तत उदगयननियमः। आपूर्यमाणपक्षपुण्याहनियमस्तु प्रवर्त्तत एव। अविरुद्धत्वात्। तदुक्तम् **आश्वलायनसूत्रे।**[5] उदगयन आपूर्यमाणपक्षे[6] कल्याणे[7] नक्षत्रे चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः।

---

१ *पा.गृ.सू.* १.११.१ "चतुर्थेऽहन्यपररात्रे गृहाभ्यन्तरतोऽग्निमुपसमाधाय विवाहशेषत्वाद्बहिःशालायां माभूदित्यभ्यन्तरग्रहणं, पूर्वाह्णव्युदासार्थं चापररात्रस्य" इति कर्कव्याख्या। पृ. ११८

२ *का.श्रौ.सू.* १.८.७; "ये गुणा धर्ममात्राः तेषां समुच्चयः। कुत एतत्। अविरोधे हि ते वर्त्तन्ते ... प्रतिनियतानि ह्यदृष्टानि। तस्मादृज्वादीनां समुच्चय" इति कर्काचार्याः।

३ "सर्वं दैवविषयमेतदभिधीयते" इति, पृ० ६०

४ *शां. गृ. सू.* १.५.५

५ *आ. गृ. सू.* १.४. १–२

६ उदग्यदा गच्छत्यादित्यस्तदुदगयनम्। आपूर्यमाणस्य चन्द्रस्य यः पक्षः स तथोक्तः। स हि मासस्य पक्षस्य च कर्ता। अथवा आपूर्यमाणश्चासौ पक्षश्चापूर्यमाणपक्षः। स हि चन्द्ररश्मिभिरापूर्यते शुक्लपक्ष इत्यर्थः इति नारायणः।

७ ज्योतिःशास्त्राविरुद्धं कल्याणं नक्षत्रम्। इति नारायणः *आ. गृ. सूत्रे।*

सार्वकालमेके विवाहमिति। आपूर्यमाणपक्ष इति ब्राह्मणविषयम्। क्षत्रियादीनां तु कृष्णपक्षे एव। तथा च **हेमाद्रौ** वसिष्ठः।

आपूर्यमाणपक्षे तु विवाहो ब्राह्मणस्य तु।
इतरेषां तु वर्णानां कृष्णपक्षे विधीयते। इति

यत्तु सार्वकालिकमेके विवाहमिति तदधर्म्यविवाहविषयम्। तदुक्तं **कालादर्शे।**

''अधर्म्या ये विवाहास्ते [1]सम्मताः सार्वकालिका इति। तत्रैव **गृह्यपरिशिष्टे** ''धर्म्येष्वेव विवाहेषु काल[2]प्रतीक्षणन्नाधर्म्येष्विति''। यत्तु **कालादर्शे** निशायां विवाहाम्नानं तच्छाखान्तरपरमसंभवपरं वा। उदगयन इति मीनयुक्ते चैत्रे पौषे आषाढादिषट्सु वर्ज्यः। कुमारीशब्देनाऽरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्ष[3]गोत्रजामित्यादिस्मृत्युक्तलक्षणलक्षिताऽभिधीयते। तदिह विस्तरभयान्न विविच्यते। कुमारी अक्षतयोनिरिति भर्तृयज्ञपादाः। ''कुमारीग्रहणं विंशतिप्रसूताव्युदासार्थम्। स्मर्यते हि विंशतिप्रसूतायाः पुनर्विवाह'' इति [4]कर्काचार्याः। पाणिं गृह्णीयादित्यनेन सवर्णापरिणयनं सूचितं भवति। पाणिर्ग्राह्यः[5] सवर्णास्विति याज्ञवल्क्योक्तेः[6]। पाणिं गृह्णीयादित्यनेन मंत्रवत्पाणि[7]ग्रहणस्यैव प्राधान्यमुच्यते। यदाह**परार्के** नारदः।

---

१ तेम्मताः – स

२ प्रतिक्षण – स

३ अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्। अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम् इति याज्ञवल्क्यः आचा. ३.५२।

४ ककाo - स

५ पाणिग्राह्याः - ग, स

६ *याज्ञ.स्मृ.*, आचाराo, विवाहo ३, ६२।
''स्वगृह्योक्तविधिना'' इति मिताक्षराकारः।

७ o ग्रहणास्यैव - स

पाणिग्रहणिका मंत्रा नियतं दारलक्षणम्।

तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे। इति

अत्र सप्तमे पदे निष्ठाश्रवणात्तदंत[1]विशिष्टमेकमेव कर्म। "स्वगोत्राद्भ्रश्यते[2] नारी विवाहात्सप्तमे पदे" इत्युक्तेश्च। इतरद्वासः परिधानहोमादिकं तदङ्गम्[3]। तत्रापि ज्योतिःशास्त्रविहितलग्ननवांशादरः शाब्दे। "अथास्यै[4] दक्षिणꣳ हस्तं गृह्णाति साङ्गुष्ठं गृभ्णामि ते" इति पाणिग्रहणे कर्त्तव्यः। ज्योतिःशास्त्रे पाणिग्रहणे एव लग्नादिविधानात्। विलग्नपाणिग्रहणे दोषाम्नानात्। तथा च **शांखायनगृह्यकारिकायाम्।**

ज्योतिर्विदुपदिष्टेऽत्र लग्ने पाणिग्रहो भवेत्।

प्राङ्मुख्याः सम्मुखस्तिष्ठन्नासीनायाश्च दक्षिणम्।

पाणिं साङ्गुष्ठमुत्तानं पाणिना दक्षिणेन तु।

उत्तानेन च गृह्णीयान्मंत्रो गृभ्णामि ते मत इति।

तथा सर्वसूत्रे[5] पाणिग्रहणस्यैव प्राधान्येनाभिधानात्। "[6]पाणिर्ग्राह्यः सवर्णास्वित्यादिविशेषाभिधानाच्च। तथा "[7]नान्दीश्राद्धं पिता कुर्यादाद्ये पाणिग्रहे बुध" इति लिङ्गाच्च। कन्यादानं तु कन्यापितुः प्रधानं

---

१ ० तदंन - स

२ भ्रस्यते - स

३ तदंगा - स

४ *पा. गृ. सू.* १.६.३

५ चशांसर्वत्रे - स

६ *याज्ञ. स्मृ. आ.* विवाह. ३.६२ पाणिग्राह्यः - स

७ पुत्रजन्मविवाहादौ वृद्धिश्राद्धमुदाहृतम्। तत्र नान्दीमुखमिति विशेषः समुदाहृत इति वृद्धवसिष्ठः। अपि च– "कन्यापुत्रविवाहेषु प्रवेशे नववेश्मनः। शुभकर्मणि बालानां चूडाकर्मादिके तथा। सीमन्तोन्नयने चैव पुत्रादिमुखदर्शने। नान्दीमुखान्पितृनादौ तर्पयेत्प्रयतो गृहीति" *विष्णुपुराणे* (३.१३.५-६)।

फलवत्त्वात्। अतएव तेन तद्दाननिमित्तमेवाऽभ्युदयिकं कार्यम्। विवाहनिमित्तं तु वरस्य पित्रा कार्यम्।

नान्दीश्राद्धं पिता कुर्यादाद्ये पाणिग्रहे बुधः।
अत ऊर्ध्वं प्रकुर्वीत स्वयमेव तु नान्दिकम्।

तथा –

स्वपितृभ्यः पिता दद्यात् सुतसंस्कारकर्मसु।
पिंडानोद्वहनात्तेषां तस्याभावे तु तत्क्रमात् इत्युक्तेः[1]।

वरस्य तु तत्र प्रतिग्रहणे[2] स्वत्वमात्रं जन्यते न प्रतिग्रहो विवाहः। अधर्म्येषु तदभावात्। तथा चोक्त**मपरार्के**। विवाहशब्देन मंत्रवत्पाणिग्रहणं दारस्वीकारः। अतश्च पाणिग्रहणाकरणे समाप्तेः प्राक्स्मरणे प्रायश्चित्तपूर्वकं तस्याभ्यावृत्तिः। समाप्तेरूर्ध्वं तु सकल[3]स्याभ्यावृत्तिः। दानं तु न प्रवर्त्तते। कन्यादानं[4]पितुस्तत्प्राधान्यात्। स्वत्वस्योत्पन्नत्वाच्च। इतरस्याऽकरणे समाप्तेः प्राक् प्रायश्चित्तपूर्वकमनुष्ठानम्। ऊर्ध्वं तु प्रायश्चित्तमात्रं न तदावृत्तिः। तदुक्तम् –

प्रधानस्याक्रिया यत्र साङ्गं तत्क्रियते पुनः।
तदङ्गस्याक्रियायां तु नावृत्तिर्नैव तत्क्रिया।[5] इति

पाणिग्रहणे नक्षत्रनियममाह[6]।।

।।श्रीः।। त्रिषु त्रिषूत्तरादिषु। स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्यां वा। (१.४.६-७)

---

१ *कात्या० स्मृ.* १८.२१; पिण्डशब्दः श्राद्धं लक्षयति।
२ ० ग्रहेण - स
३ नस्याभ्या - स ।
४ दानं नास्ति-ग– मातृकायाम्; कन्यादानपितुः -स
५ त क्रियेति - स; *कात्या. स्मृ.* ३. ६
६ नियमाह - स

उत्तरा आदिर्येषां तानि तेषु कतिषु[1] त्रिषु त्रिषु। यथा उत्तराफल्गुनीनक्षत्रे। हस्ते। चित्रायाम्। उत्तराषाढासु। श्रवणे। धनिष्ठानक्षत्रे। उत्तराभाद्रपदे। रेवत्यां। अश्विन्याम्। स्वातौ। मृगशिरसि। रोहिण्याम्[2]। वा शब्दः प्रत्येकं द्रष्टव्यः। तेनैतेषां नक्षत्राणां मध्येऽन्यतमे चन्द्रताराद्यनुकूले पाणिग्रहणं कुर्यात्। ज्योतिःशास्त्रेऽन्यान्यपि नक्षत्राण्युक्तानि सन्ति तानि त्वेतेषामसम्भवे ग्राह्याणि।

।।श्रीः।। **तिस्रो ब्राह्मणस्य वर्णानुपूर्व्येण** (१.४.८.)।।

आनुपूर्व्यं क्रमः। वर्णक्रमेण ब्राह्मणस्य तिस्रो भार्या भवन्ति। ब्राह्मणस्य ब्राह्मणी प्रथमा। क्षत्रिया द्वितीया। वैश्या तृतीया।।

।।श्रीः।। **द्वे राजन्यस्य** (१.४.९.)।।

वर्णानुपूर्व्येणेत्यनुवर्त्तते। राजन्यस्य क्षत्रियस्य क्षत्रिया प्रथमा। वैश्या[3] द्वितीया।

।।श्रीः।। **एका वैश्यस्य** (१.४.१०)।।

स्वा[4] वैश्या। वर्णानुपूर्व्यग्रहणाद्व्युत्क्रमपरिणयनं[5] प्रतिषिद्धम्।।

।।श्रीः।। **सर्वेषां वा[6] शूद्रामप्येके मंत्रवर्जम्** (१.४.११)।।

एक आचार्याः सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां शूद्रामपि भार्यामिच्छन्ति। चतुर्थी ब्राह्मणस्य। तृतीयां राजन्यस्य। द्वितीयां वैश्यस्येति। एके नेति। तत्र विशेषमाह मन्त्रवर्जम्। तस्याः परिणयनं मन्त्रवर्जममन्त्रकं भवतीत्यर्थः। शूद्रापरिणयनं तु रमणार्थमेव न धर्माय।

---

१ कतिषु इति नास्ति स-मातृकायाम्

२ रोहिन्यां - स

३ वैश्यो द्वितीयाः - स

४ श्वा-स

५ परिणयनं प्रतिणयनं–स

६ वा-ग, स। महादेवगंगाधरबाक्रेण सम्पादिते सूत्रग्रन्थे न वर्तते।

रामा रमणाय विन्देत न तु धर्मायेति यास्कोक्तेः।[१] असवर्णपरिणयनं तु कलौ निषिद्धत्वात्संप्रति नादरणीयम्।।

।।श्रीः।। **अथैनां वासः परिधापयति जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा। शतं च जीव शरदः सुवर्च्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वाऽऽयुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति** (१.४.१२)।।

अथाग्निनिधानानन्तरमेनां कुमारीं रक्तमहतं वासः परिधापयति जरां गच्छेत्यनेन मन्त्रेण। तदुक्तं **शाङ्खायनगृह्ये**। "रक्तमहतं वा वासः परिधायेति"[२]। "अहतेन वसनेनेति" **गोभिलसूत्रे**।[३] अहतलक्षणं तु [४]कात्यायनेनोक्तम्।

ईषद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम्।

अहतं तद्विजानीयात्सर्वकर्मसु पावनमिति।

ईषद्धौतं सकृदरजकधौतम्। न तु तेजकधौतेनेति **हेमाद्रौ** वृद्धमनूक्तेः। तेजको रजकः। कश्यपेन त्वन्यथोक्तम्।

अहतं यन्त्रनिर्मुक्तं वासः प्रोक्तं स्वयंभुवा।

शस्तं तन्माङ्गलिक्येषु तावत्कालन्न सर्वदा। इति

माङ्गलिक्यं विवाहादि। तत्रैव यंत्रनिर्मुक्तं नान्यत्र यज्ञादौ। परिधापयतीति णिजन्तत्वात्परिधापयत्याचार्य एव। तथा च भर्तृयज्ञपादाः।

---

१ अग्निं चित्वा न रामामुपेयात्। रामा रमणायोपेयते न धर्माय इति। *निरुक्ते* १२.२ "रामा पुनः ।शूद्रा......" इति *दुर्गवृत्तिः,* पृ० ५५०-५१. छज्जूराम, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९६३.

२ *शां.गृ.सू.* १.११.३ (इन्द्राणीकर्मप्रकरणे) ग.स.मातृकयोः वा इति नास्ति

३ *गो. गृ.* २.१.१८

४ द्रष्ट. *स्मार्तोल्लासे,* पृ. १४१

परिधापनक्रियोपदेशादाचार्य एवेति। कर्काचार्यमते तु वर एव। कारितार्थे एव चायं मंत्रः[1]। परिधत्स्वेति लिङ्गात्।

श्रीः।। अथोत्तरीयम्। या अकृन्तन्नवयं या अतन्वत। याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ। तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वाऽऽयुष्मतीदं परिधत्स्व वास इति (१.४.१३)।।

परिधापयतीत्यनुवर्त्तते। अथ वस्त्रपरिधानानन्तरमुत्तरीयं वासो या अकृन्तन्नवयमिति परिधापयति। अत्राप्याचार्य एव। अत्रापि कारितार्थे एव मन्त्रः।

।।श्रीः।। अथैनौ समञ्जयति। समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ। सम्मातरिश्वा संधाता समुद्देष्ट्री दधातु नाविति (१.४.१४)।।

अथोत्तरीयवासः परिधानोत्तरमेनौ वधूवरौ समञ्जन्तु विश्वेदेवा इत्यनेन मंत्रेण समञ्जयति परस्परं कज्जलेन चक्षुषो रञ्जनं कारयतीत्यर्थः। चक्षुरञ्जनं परस्परमित्यार्यपादाः।[2] समञ्जनमक्ष्यञ्जनमिति **शाङ्खायनगृह्यभाष्यकारः**। **मानवे**[3] विशेषः। चतसृभिर्द्दर्भेषीकाभिः शरे[4]षीकाभिर्वा समुञ्जाभिः सतूलाभिरित्येकैकया त्रैककुभस्याञ्जनस्य सन्निकृष्य वृत्रस्यासि कनीनकेति भर्तुर्दक्षिणमक्षि त्रिः प्रथममांक्ते तथापरं

---

१ "मन्त्रश्च कारितार्थे। परिधापयिता चात्र वर एव। अपरे त्वध्वर्युमत्र कर्तारमिच्छन्ति परिभाषितं ह्येतदध्वर्युः कर्मसु वेदयोगादिति। नैतदित्यपरे। नहि स्मार्तेष्वध्वर्योः कर्तृत्वं, समाख्यया हि श्रौतेष्वध्वर्योः कर्तृत्वमिष्यते न चात्र समाख्याऽस्ति वेदयोगांभावात्। स्मरणादेव हि स्मृतीनां प्रामाण्यमुक्तम्। अतः समाख्याऽभावात्स्वयमेव कर्त्तृत्वम्" - इति कर्काचार्याः *स्मार्तसूत्र-व्याख्यायाम्।*

२ प्राप्तः -स

३ *मा. गृ. सू.* १.११.८-६

४ शरीषीकी. - स

तथा पत्नयाः शेषेण तूष्णीम्। दिशि शलाकां प्रविध्यति यानि रक्षांसीति[1]। गात्रसंस्पर्शनमिति केचित्। परस्परानुलेपनमित्यपरे। सम्मुखीकरणमित्यन्ये। समञ्जयतीति णिजन्तत्वात्परस्परं [2]समञ्जेथामित्याचार्येणाध्येषितौ समञ्जनं परस्परं कुरुतः। मन्त्रोच्चारणं तु वरस्यैव[3] लिङ्गात्। तथा च भर्तृयज्ञपादाः। आचार्यश्चोदितौ स्वयमेव मन्त्रमुच्चारयति। "समापो हृदयानि नाविति लिङ्गेनेति"। आचार्य अध्येषयति परस्परं समञ्जाथामित्यार्यपादाः। कारयितृत्वं च सन्निधानात्कन्यापितुरेव। "सन्निहितो ह्यसौ प्रदातृत्वादिति" कर्काचार्याः। अञ्जनोत्तरं शांखायनानां विशेषः। यथेयमिति[4]। दक्षिणे पाणौ शललीं त्रिवृतं ददाति[5]। रूपं रूपमित्यादर्शं सव्ये[6]। रक्तकृष्णमाविकं क्षौमं वा त्रिमणिं प्रतिसरं ज्ञातयोऽस्या बध्नन्ति नीललोहितमिति[7]। मधुमतीरोषधीरिति मधूकानि[8] बध्नातीति[9]। अत्र विशेषो याज्ञवल्क्येनोक्तः।

पाणिर्ग्राह्यः सवर्णासु गृह्णीयात्क्षत्रिया शरम्।

वैश्या प्रतोदमादद्याद्वेदने त्वग्रजन्मनः[10]। इति

---

१ यानि रक्षाꣳस्यभितो व्रजन्त्यस्या वध्वा अग्निसकाशमागच्छन्त्याः। तेषामहं प्रतिविध्यामि चक्षुः स्वस्ति वध्वै भूतपतिर्दधातु इति (६)

२ जेथामि० - स

३ वास्यैव - स

४ स्वशाखीया श्रुतिः इति शां. गृह्ये पादटिप्पण्याम्, पृ. १० "यथेयं शचीं वावातां सुपुत्रां च यथाऽदितिम्। अविधवां चापालामेवं त्वमिह रक्षतादिममिति"।

५ *शां. गृ. सू.* १.१२.६

६ *शां. गृ. सू.* १.१२.७

७ *शां. गृ. सू.* १.१२.८

८ मुमूकानि - स.

९ *शां. गृ. सू.* १.१२.९

१० *याज्ञ.स्मृ.* आचार० विवाह. - ३.६२

स्त्री शरादिकं गृह्णाति तत्पाणिस्थितं च वरो गृह्णीयादित्यर्थः। अग्रजन्मन इत्युत्कृष्टोपलक्षणम्। तथा च मनुः[1]। "वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्र[2]योत्कृष्टवेदने" इति।

।। श्रीः।। पित्रा[3] प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामति यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनु पवमानो वा। हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोत्वित्यसाविति (१.४.१५)।।

समञ्जनानन्तरं कन्यां पिता ददाति। ततस्तेन प्रत्तां प्रकर्षेण स्मृत्युक्तदानविधिना दत्तां प्रतिग्रहविधिना द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णात्विति वक्ष्यमाणेन मन्त्रेणादाय गृहीत्वैव निष्क्रामति यदैषि मनसा दूरमित्यनेन मंत्रेण। असाविति सर्वनामस्थाने आमन्त्रणविभक्तियुक्तं तस्याः नामग्रहणं कार्यम्। असावित्यपनोद इत्युक्तत्वात्। आदाय गृहीत्वेत्येकार्थपदद्वयमप्रतिग्रहस्यापि क्षत्रियादेः प्रतिग्रहविधिनैवाऽऽदान-प्रज्ञप्त्यर्थम्।

एवमेव कर्काचार्यैर्व्याकृतम्। पित्रा[4] प्रत्तामित्यनेन ब्राह्मो विवाहः सूचितः। तथा **चाश्वलायनसूत्रे**[5]। "अलंकृत्य कन्यामुदकपूर्वां दद्यादेष ब्राह्मो विवाहः। तस्यां जातो द्वादशावरान्द्वादश परान्पुनात्युभयतः। ऋत्विजे वितते कर्मणि दद्यादलंकृत्य स दैवः। दशावरान्दशपरान्पुनात्युभयतः। सह धर्म चरतम्[6] इति प्राजापत्यः। अष्टावरानष्ट परान्पुनात्युभयतः। गोमिथुनं दत्त्वो[7]पयच्छेत्स आर्षः।

---

१ *मनुस्मृ.* ३.४४."शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया। वसनस्य० इत्यादिः।

२ ० योकृ० - स

३ पित्रादि-स

४ प्रत्रा - स

५ *आ. गृ. सू.* १.६.१

६ चर - स; चरत - ग

७ पयच्छेत - ऐथलसम्पादिते *आ० गृह्ये* पाठः।

सप्तावरान्सप्त परान्पुनात्युभयतः। मिथः समयं कृत्वोपय[१]च्छेत् स गान्धर्वः। धनेनोपतोष्योपयच्छेत्स[२] आसुरः। सुप्तानां[३] प्रमत्तानां वाऽपहरेत्स पैशाचः। [४]हत्वा भित्त्वा वा शीर्षाणि रुदन्तीं[५] रुदद्भ्यो हरेत् स राक्षस'' इति।

एवमेव [६]**याज्ञवल्क्यादिस्मृतिषु**। अत्र सकलविवाहोपयोगी विशेषो **यज्ञपार्श्वे**नोक्तः।

विवाहे वितते तन्त्रे होमकाल उपस्थिते।

कन्याया ऋतुरागच्छेत्कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः।

स्नापयित्वा तु तां कन्यामर्चयित्वा यथाविधि।

युञ्जाना वाऽऽहुती हुत्वा ततस्तन्त्रं[७] प्रवर्तयेदिति।

युञ्जानः[८] प्रथमं मन इत्येकां युक्त्वा य[९] सवितेति द्वितीयामिति **मदनपारिजात**कारः। **स्मृत्यर्थसारे** तु युञ्जानमाहुतिं हुत्वेति पाठः। तन्मते चैकैवाहुतिः सेत्स्यति। तथा तत्रैव। यद्वा।

विवाहहोमे प्रक्रान्ते यदि कन्या रजस्वला।

त्रिरात्रं दम्पती स्यातां पृथक्शय्यासनाशनौ।

चतुर्थेऽहनि संस्नातौ तस्मिन्नग्नौ यथाविधि।

विवाहहोमं कुर्यातामित्यादि स्मृतिसंग्रह इति।

---

१ पम० - स; कृत्वोपयच्छेत - ऐथलसम्पादिते *आ. गृह्ये।*

२ पयच्छेत - ऐथलसम्पादिते *आ. गृह्ये।*

३ सुप्तां प्रमत्तां - ग. स.

४ ह्वत्वा इत्यपि पाठः। ''भित्त्वा च'' इति ऐथल–सम्पा. गृह्ये।

५ रुदतीं इति ऐथलसम्पादिते *आ. गृह्ये।*

६ *याज्ञ. स्मृ.* आचारा० विवाह. - ३, ५८, ५६, ६०, ६१.

७ तन्तस्तं - स

८ ० जामः - स

९ म - स

अत्र दानोत्तरं स्वस्वकुलाचाराश्च कर्त्तव्याः। तदुक्तं दानानन्तर**माश्वलायनेन**[1]। "अथ खलूच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्माश्च तान्विवाहे प्रतीयात्। समानं[2] तु वक्ष्याम" इति। **शाङ्खायनसूत्रे** च। "चतस्रोऽष्टौ वाऽविधवाः शाकपिंडीभिः सुरयाऽन्नेन च तर्पयित्वा[3] चतुरानर्त्तनं[4] [5]"कुर्यु"रित्युपक्रम्य "स्नातं[6] कृतमङ्गलं वरमविधवाः सुभगा युवत्यः कुमार्यै वेश्म प्रपादयन्ति। [7]तासामप्रतिकूलः[8] स्यादन्यत्राभक्ष्य[9]पातकेभ्यः। [10]ताभिरनुज्ञातोऽस्यै वासः प्रयच्छतीति"[11]। एतत्सूत्रे च ततो वासः परिधानादीति विशेषः। स्वसूत्रे[12] च। "ग्रामवचनं च कुर्युः विवाहश्मशानयोर्ग्रामं प्राविशतादिति वचनात् तस्मात्तयोर्ग्रामः प्रमाणमिति श्रुतेरिति वक्ष्यमाणत्वात्। निष्क्रमणोपदेशाच्छालायां परिधानादि" भवति। अत्र कन्यायाः पितुरभावे -

पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा।

कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः[13]।।

इत्यादिस्मृत्युक्ता दानकर्त्तारो ज्ञेयाः।

---

१ *आ. गृ. सू.* १.७.१-२. "खलु शब्दोऽपार्थकः। उच्चावचा इति नानाप्रकारा बहवश्चेत्यर्थः। तेन ग्रामधर्मैः जनपदधर्मैः कुलधर्मैश्च विवाहे भवितव्यमिति साधितं भवति" इति देवस्वामिभाष्ये।

२ "यत्तु समानं तद् वक्ष्यामः" इति पाठः ऐथलसम्पादिते आ. गृह्ये।

३ तपयि०-स

४ वर्तनं-स

५ *शां.गृ.सू.* १.११.५ (इन्द्राणी कर्म)

६ *शां.गृ.सू.* १.१२.१ (अथ विवाहकर्म)

७ *शां.गृ.सू.* १.१२.२.

८ ० कूप - स

९ इति *शां.गृ.सूत्रे* (सहगलसम्पादिते) पाठः। क्ष—ग, स

१० *शां.गृ.सू.* १.१२.३

११ ० प्रयच्छति "रैभ्यासीदिति"।

१२ *पा. गृ. सू.* १.८.११-१३

१३ *याज्ञ. स्मृ.* आचार० विवाह. – ३.६३

।।श्रीः।। अथैनौ समीक्षयत्यघोरचक्षुरपतिघ्न्येऽधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्च्चाः। वीरसूर्द्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः। सोमोऽददद्गन्धर्वाय गंधर्वोऽदददग्नये। रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्। सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न ऊरू उशती विहर। यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपं यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्या इति (१.४.१६.)।।

अथानन्तरमेनौ समीक्षयति परंस्परमीक्षयत्यघोरचक्षुरित्यनेन मंत्रेण। अत्र [1]कारितोपदेशात्परस्परं समीक्षेथामित्याचार्येणाध्येषितौ परस्परं समीक्षणं कुरुतः। मंत्रपाठस्तु लिङ्गाद्वरस्यैव। एवमेव[2] भर्तृयज्ञपादैर्व्याकृतमार्यपादैश्च।।

इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठकश्रीरामचन्द्रसूनुमहायाज्ञिकश्रीगङ्गाधरकृतायां पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तौ प्रथमकाण्डे चतुर्थी कण्डिका।।४।।



१ कारिणेप० - स

२ एवमे - स (व नास्ति)

।। पञ्चमी कण्डिका।।

मूलम् - *प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीयैके।।१।। पश्चादग्नेस्तेजनीं कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्त्योपविशति।।२।। अन्वारब्ध आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्तं प्राजापत्यꣳ स्विष्टकृच्च।।३।। एतन्नित्यꣳ सर्वत्र।।४।। प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविः।।५।। सर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यांतर-मेतदावापस्थानं विवाहे।।६।। राष्ट्रभृत इच्छञ्जयाभ्यातानांश्च जानन्।।७।। येन कर्मणेर्त्सेदिति वचनात्।।८।। चित्तं च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्च विज्ञातं च विज्ञातिश्च मनश्च शक्वरीश्च दर्शश्च पौर्णमासं च बृहच्च रथंतरं च प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु। तस्मै व्विशः समनमंत सर्वाः स उग्रः स इ हव्यो बभूव स्वाहेति।।९।। अग्निर्भूतानामधिपतिः मावत्विन्द्रो ज्येष्ठानां यमः पृथिव्या वायुरंतरिक्षस्य सूर्यो दिवश्चन्द्रमा नक्षत्राणां बृहस्पतिर्ब्रह्मणो मित्रः सत्यानां वरुणोऽपाꣳ समुद्रः स्रोत्यानामन्नꣳसाम्राज्यानामधिपति तन्मावतु सोम ओषधीनाꣳ सविता प्रसवानाꣳ रुद्रः पशूनां त्वष्टा रूपाणां विष्णुः पर्वतानां मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्तु पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्तततामहाः। इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहेति सर्वत्रानुषजति।।१०।। अग्निरैतु प्रथमो देवतानाꣳ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्। तदयꣳ राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयꣳ स्त्री पौत्रमघन्न रोदात्स्वाहा। इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः। अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियꣳ स्वाहा। स्वस्ति नो अग्ने दिव आपृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र। यदस्यां महि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रꣳ स्वाहा। सुगन्नु पंथां प्रदिशन्नऽएहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्न आयुः। अपैतु मृत्युरमृतं मऽआगाद्वैवस्वतो नोऽअभयं कृणोतु स्वाहेति।।११।। परं मृत्यविति चैके प्राशनांते।।१२।। (५)*

श्रीः।। प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीयैके। पश्चादग्नेस्तेजनीं कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्त्योपविशति (१.५.१–२)।।

अग्नेः पश्चात्पूर्वोपकल्पितां तेजनीं कटं वा दक्षिणपादेन प्रवृत्त्याक्रम्योपविशति। तत्रैक आचार्या अग्निं परिसर्वतः प्रदक्षिणं प्रादक्षिण्येन प्रकृतत्वाद्धस्तगृहीतां कन्यामानीय। अपरे अपर्याणीयैवेति। ततश्च विकल्पः। तेजनी [1]तृणपूलकः। कटः प्रसिद्धः। प्रदक्षिणग्रहणमितरथावृत्तिव्युदासार्थम्। वरस्योत्तरत आचार्यो दक्षिणतः कन्या। तथा चोक्त**माश्वलायनकारिकायाम्।** आत्मनो दक्षिणे पार्श्वे वधूं तामुपवेश्य चेति। रेणुरपि।

अथोपविशतः पश्चादग्निं सव्येतरांघ्रिणा।
कटं वा तृणपूलं वा प्रवृत्त्य च कुशास्तृते।
एकस्मिन्नासने तत्र वधूः तस्य तु दक्षिणे। इति

कटस्तेजन्योरन्यतराक्रमणं वध्वैव कार्यम्। तदुक्तं **छन्दोगसूत्रे।** पश्चादग्नेः संवेष्टितं कटमेवंजातीयं वान्यत्पदा प्रवर्त्तयन्तीं वाचयेत्प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पतामिति[2]। स्वयं जपेद[3]जपन्त्यां प्रास्या इति[4]। बर्हिषोन्तं कटान्तं प्रापयेत्[5]। पूर्वे कटान्ते दक्षिणतः पाणिग्रहस्यो[6]पविशतीति[7]। पश्चादग्नेः कन्यामुपवेश्येति **शाङ्खायनः**[8]। **तत्कारिकायाम्।**

---

१ गृण० - स

२ *गो. गृ. सू.* २.१.२०

३ ० दजन्यां - स

४ *गो. गृ. सू.* २.१.२१. प्रास्याः पतियानः पन्थाः कल्पतां शिवा अरिष्टा पतिलोकं गम्याः। "उपविष्टया खल्वेतया प्रयोजनम्। 'प्रापयेत्' - इत्यत्र प्रेरयेत् इति केचित्पठन्ति। तत्रापि तथैवार्थः" इति चन्द्रकान्ततर्कालंकारभट्टाचार्यः।

५ *गो. गृ. सू.* २.१.२२।

६ ० ह्रस्वो - स

७ *गो० गृ० सू०* २.१.२३

८ *शां. गृ. सू.* १.१२.११.

अग्नेः पश्चादुपविशेद्वरस्तस्य तु दक्षिणे।
कन्योत्तरत आचार्यः प्रतिश्रुतविधानतः। इति

"अत्र केचित्प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीयैक" इत्यन्तं [1]सूत्रमिच्छन्ति। तन्मते प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीय वासः परिधानाद्येके कुर्वन्ति। एके यथोक्तप्रकारेणेत्यर्थः।

।।श्रीः।। अन्वारब्ध आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्तं प्राजापत्यꣳ स्विष्टकृच्च।। एतन्नित्यं सर्वत्र (१.५.३-४)।।

वधूवराभ्यामन्वारब्ध आचार्य आहुतीर्जुहुयात्। अत्र भर्तृयज्ञपादाः। उत्तरत उपविष्ट आचार्यस्ताभ्यामन्वारब्ध आज्याहुतीर्जुहुयात्। **शाङ्खायनगृह्यकारिकायाम्**। "अन्वारम्भो वरे तस्या आचार्येऽपि वरस्य स" इति। उपवेशनक्रमस्तु स्मृत्यन्तराद्दक्षिणतः कन्या ततो वरस्तत आचार्य इति। **मानवसूत्रे**[2] विशेषः। पश्चादग्नेश्चत्वार्यासनान्युपकल्पयेत[3]। तेषूपविशन्ति पुरस्तात्प्रत्य[4]ङ्मुखो दाता पश्चात्प्राङ्मुखः प्रतिग्रहीता दातुरुत्तरतः प्रत्यङ्मुखी कन्या दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः। तेषा[5]मिति। [6]तस्य होमोऽनादेश इत्यनेनाज्याहुतयः। ता आह। आघारौ। परिसंख्या तयोः प्रतिप्रसवः। प्रजापत्युद्देशेन तूष्णीं स्वाहाकारं विनैव पूर्वाघारः। इन्द्राय स्वाहेत्युत्तराघारः। आज्यभागौ। तयोरपि प्रतिप्रसवः। अग्नये स्वाहेत्याग्नेयः[7]। सोमाय स्वाहेति सौम्यः। महाव्याहृतयः। ताश्च भूर्भुवः

---

१ सूच० - स
२ *मानवगृह्यसूत्रम्* १.८.१-२.
३ ० कल्पयीत - रामकृष्णहर्षजीशास्त्रिणा सम्पादिते मा. सूत्रे
४ 'प्रत्यङ्मुखः प्रतिगृहीता दातुरुत्तरतः' प्रत्यङ्मुखी – स
५ *मा. गृ. सू.* १.८.३., "तेषां मध्ये प्राक्तूलान्दर्भानास्तीर्य कांस्यमक्षतोदकेन पूरयित्वा अविधवास्मै प्रयच्छतीति"।
६ *का. श्रौ. सू.* १.८.३७
७ ० नेमः - स

स्वरितस्रो महाव्याहृतय इत्युक्तत्वान्महाव्याहृतिमंत्रका होमा भूः स्वाहा भुवः[1] स्वाहा स्वः स्वाहेति। सर्वप्रायश्चित्तम्[2]। नामधेयात्सर्वप्रायश्चित्तं च पञ्चभिः[3] प्रत्यृचं त्वन्नो अग्न इति द्वाभ्यामयाश्चाग्नेये ते शतमुदुत्तममिति प्रायश्चित्ताध्यायपठितानां पञ्चाहुतीनां[4] समन्त्रको होमः। प्राजापत्यम्। प्रजापतये स्वाहेति। स्विष्टकृत्। अग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति। अनिगदा[5] इत्यनेन परिसंख्यातत्वात्पुनर्विधानम्। प्रतिनिगद्यहोमाः स्वाहाकारप्रदाना इत्युक्तत्वात्प्राकृतानां सत्यपि मन्त्रवत्त्वे चतुर्थ्यन्तं[6] देवतापदमुच्चार्य स्वाहान्तेन होमः कार्यः। अपूर्वाणां तु सर्वप्रायश्चित्तादीनां होमे मंत्रः प्रवर्त्तत एव। अतएव कर्काचार्यैरुक्तम्। "आघारौ पूर्व उत्तरश्च। उत्तराघारे प्रतिनिगद्य होम[7]त्वम्। नह्यत्र मंत्रोऽस्ति। आज्यभागावेक आग्नेयोऽपरः सौम्यः। भूर्भुवः स्वरित्येता महाव्याहृतयः। त्वन्नो अग्न इत्यादिभिः सर्वप्रायश्चित्तमिति"। प्रपञ्चितं चैतदाद्ये सूत्रे।।

श्रीः।। एतन्नित्यꣳ सर्वत्र (१.५.४.)।।

एतदाघारादिस्विष्टकृदन्तं[8] सर्वत्र सर्वकर्मसु यत्र यत्र होमोऽस्ति तत्राज्यतन्त्रे स्थालीपाकादितन्त्रे च नित्यन्नियमेन भवति। यत्र होमोऽस्ति न, स्रस्तरारोहणगर्भाधाननामकरणादौ तत्र[9] तन्न भवति। एवमेव

---

१ "भुवः स्वाहा" इति नास्ति स-मातृकायाम्।

२ *का. श्रौ.* सू. २५.१.१०

३ पभिः - स

४ ० हुति० - स

५ *का. श्रौ.* सू. ६.१०.२२, प्रति. .. . प्रदानाः ६.१०.२३-२४

६ तुर्थतं - स

७ होमित्वं - ग, स

८ ० कृतं - स.

९ नत्र - स

कर्कादिभिर्व्याकृतत्वात्[1]। आर्यपादैश्चैवमेव प्रयोग उपनिबद्धः। केचित्त्वहोमलिङ्गकेऽपि गर्भाधानादौ चतुर्दशाहुतीनां विधानार्थमेतन्नित्यं सर्वत्रेत्याहुः। तदयुक्तमित्यपरे। अहुतपाकयज्ञोत्सेदापत्तेः। अन्ये त्वहुतो[2] बलिकर्मणेति **शाङ्खायनसूत्रा**नुरोधाद्युक्तमेवैतदित्याहुः। सर्वत्रेत्यनूच्यमाने विवाह एवैतत्स्यात्। एतत्सर्वत्रेत्येतावताऽर्थस्य सिद्धत्वान्नित्यमित्येतदन्वारम्भस्य सर्वत्राऽनित्यत्वज्ञापनार्थम्। अतएव चूडोपनयनयोरन्वारम्भविधानमुपपद्यते। यन्नित्यं तत्सर्वत्र। पाकयज्ञेषु स्वकर्त्तृत्वनियमात्। नहि स्वस्य स्वयमन्वारम्भो युक्तः[3]। न च ब्रह्मणोऽन्वारम्भः। तस्य याजमानत्वादित्युक्तं प्राक्। यन्मते विवाहे स्वस्यैव कर्त्तृत्वन्नाचार्यस्य तन्मतेऽपि न ब्रह्मणांन्वारम्भः कर्त्तव्योऽपि तु कन्ययैव। तदुक्तं **छन्दोगसूत्रे**[4] स्वयंकर्त्तृत्वपुरस्कारेण। दक्षिणेन पाणिना दक्षिणम[5]ंसं-समन्वारब्धायाः षडाज्याहुतीर्जुहोतीति[6]। **शाङ्खायनसूत्रे**[7] च। "पश्चादग्नेः कन्यामुपवेश्यान्वारब्धायां महाव्याहृतिभिस्तिस्त्रो[8] जुहोतीति। **आश्वलायनसूत्रे**[9] च। "अन्वारब्धायां हुत्वा तिष्ठन्प्रत्यङ्मुखः प्राङ्मुख्या आसीनाया 'गृभ्णामि[10] ते सौभगत्वाय हस्तमित्यंगुष्ठमेव गृह्णीयादिति।"

---

१ "एतच्चतुर्दशाहुतिकं नित्यं सर्वकर्मसु भवति यत्र यत्र होमोऽस्ति। यथा धृताक्तानि कुशेण्ड्वानि जुहुयादिति। यत्र पुनर्होम एव नास्ति यथा स्रस्तरारोहणे लाङ्गलयोजने च तत्रैतन्न भवति"। इति कर्काचार्याः, पृ. ७३.

२ *शां. गृ. सू.* १.१०.७

३ मुक्तः - स.

४ *गो. गृ. सू.* २.१.२४

५ ० णमेतम० - स

६ अग्निरेतु प्रथम इत्येतत्प्रभृतिभिः इति गोभिलगृह्ये!

७ *शां गृ. सू.* १.११.४.

८ ० महाव्याहृतिभिर्हुत्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति - "अग्नये सोमाय प्रजापतये मित्राय वरुणायेन्द्रायेन्द्राण्यै गन्धर्वाय भगाय पूष्णे त्वष्ट्रे बृहस्पतये राज्ञे प्रत्यानीकायेति"

९ *आ.गृ.सू.* १.७.३

१० *ऋ.सं.* १०.८५.३६

अतएव विवाहे एवान्वारम्भो नान्यत्रेति [1]युक्तमुत्पश्यामः। एवमेतासां चतुर्दशाहुतीनां सक्रमकं होमसम्बन्धसर्वकर्मसु विधानमुक्त्वेदानीं स्वि[2]ष्टकृदर्थमा[3]ज्यादन्यत्स्थालीपाकादिद्वितीये द्रव्ये विद्यमाने स्विष्टकृतः कालान्तरविधानं तेनैव द्रव्येण तदनुष्ठानमित्युभयमेकप्रपत्तेनाह।।

श्रीः।। प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविः (१.५.५.)।।

चेद्यद्याज्यादन्यत्स्थालीपाकादि किञ्चित्स्विष्टकृदर्थे द्रव्यं भवति तदा तेनैव द्रव्येण महाव्याहृतिभ्यः प्राग[4]र्वाक्पूर्वं स्विष्टकृद्धोमो भवति। एवमेव भर्तृयज्ञपादैर्व्याख्यातम्। ऊर्ध्वं प्रधानात्स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविरिति वक्तव्ये यत्प्राङ्महाव्याहृतिभ्य इति तन्महाव्याहृति–संयोगार्थम्। कथं नाम यत्रैव[5] महाव्याहृतयस्तत्रैव स्विष्टकृद्धोमो भवति नान्यत्र। तेन[6] [7]नाज्यादशेषादित्याज्यतन्त्रे स्विष्टकृतोऽकरणे प्राप्ते महाव्याहृतिसंयोगात्प्राप्तिः। तस्माद्य[8]स्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते सर्वत्रैव[9] स्विष्टकृदन्वाभक्त इत्यनेन हविर्मात्रात्स्विष्टकृत्प्राप्तौ सायंप्रातरग्निपरिचरणे फलीकरणमिश्रसर्षपावापे वैश्वदेवे च महाव्याहृतिसंयोगाभावादभावः। एवमेव भर्तृयज्ञपादैः सायंप्रातरग्नि–

---

१ द्युक्त - स

२ शिवष्ट० - स

३ प्राज्या - स

४ प्रागवाक् - स

५ मत्रैव – स

६ तेनाज्याद० - स

७ *का.श्रौ.सू.* ३.३.२७ "ध्रौवाज्यस्याशेषत्वात् न ततः स्विष्टकृदवदानम्। न स्विष्टकृदर्थमवदानं ध्रौवादाज्याद् ग्रहीतव्यम्। कुत एतत् अशेषत्वात्। न ह्येतच्छेषभूतम्" इति कर्काचार्याः।

८ द्यद्यैकस्यै - स

९ सवत्रैवं - स

परिचरणप्रकरणे व्याख्यातम्। एवं सर्वसाधारणं धर्मविशेषमुक्त्वा पुनर्विवाहेऽनुक्तकालानां होमानां कालनिय[1]ममाह।

श्रीः।। सर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यान्तरमेतदावापस्थानं विवाहे (१.५.६.)।।

विवाहे राष्ट्रभृदादिहोमानामनुक्तकालानां सर्वप्रायश्चित्तोत्तरं प्राजापत्याद्धोमात्प्रागावापस्थानं प्रक्षेपस्थानं तदन्तरे तेषां राष्ट्रभृदादीनां होमः कर्त्तव्य इत्यर्थः[2]। एतन्नित्यं सर्वत्रेति सर्वस्य प्रकृतत्वात्प्रकृतेऽपि विवाहे पुनर्विवाह इत्युच्यते। केचिद्विवाहे राष्ट्रभृत इच्छन्नित्युत्तरसूत्रेण सह सम्बन्धमिच्छन्ति। तेषां सर्वत्रैतदावापस्थानम्। तत्त्वनुपपन्नमिति भर्तृयज्ञपादाः। अन्येषु कर्मस्वकृतदेशानां होमानामनुपदेशात्। येषां तु विधिमात्रम्। स्थानमेतत्तेषामुपपद्यत इति। अन्ये [3]तूतूलपरिमेहाहुत्य-

---

१ ०यमाह - स

२ "सर्वप्रायश्चित्तं त्वन्नो अग्न इत्यारभ्य उदुत्तममित्यन्तमाहुतिपञ्चकम्। प्राजापत्यः प्राजापत्याहुतिः सर्वप्रायश्चित्तं च प्राजापत्यश्च सर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यौ तयोरन्तरं सर्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यान्तरम् एतदावापस्थानं कस्मिन्कर्मणि विवाहे। आवापस्थानम् आवापश्चान्यत्र विहितस्य होमजपादेः कर्मणः कर्मान्तरे प्रक्षेपः। आवापस्य आगन्तुकत्वेन अन्ते निवेशो युक्तः न्यायात् तन्निवृत्त्यर्थं तमेवाह" इति हरिहरः पारस्करगृह्यसूत्र–व्याख्याने, पृ. ७५। "एतत्सर्वप्रायश्चितहोमप्राजापत्यहोमयोर्मध्यं विवाहाख्ये कर्मणि आगन्तुकहोमस्थानमित्यर्थः" इति विश्वनाथः *गृह्यसूत्रप्रकाशिकायाम्,* (पृ० ७८)।

३ *पा.गृ.सू.* ३.७.१-४ - (उतूलपरिमेहः)। उतूलो दास उच्यते। तस्य भ्रमणशीलस्य वशीकरणाय परिमेहः परिषेकः क्रियते। "परि त्वा गिरेरह परिमातुः परिस्वसुः परिपित्रोश्च भ्रात्रोश्च सख्येभ्यो विसृजाम्यहम्" इत्यनेन मन्त्रेण। स्वपतो दासस्य जीवतः पशोर्विषाणे स्वं मूत्रमासिच्यापसव्यं तमेव त्रिः परिषिञ्चन्परीयात् परि त्वा गिरेरित्यनेन मन्त्रेण। स यदि पुनर्भ्रम्यादेव ततो दावाग्निमुपसमाधाय आगन्तुकत्वाच्चतुर्दशाहुतिकान्ते घृताक्तानि कुशेण्ड्वानि जुहुयात् परि त्वा ह्वलनो ह्वलमित्यनेन मन्त्रेण। एवं कृते क्षेम्य

वकीर्णिप्रायश्चित्ताहुतिस्थानविधानार्थमाहुः। तद्धोमस्थानानुपदेशात्। तदयुक्तम्। सीमन्तोन्नयनहोमस्यापि तदेव स्थानं स्यात्। स्थानानुपदेशात्। अस्तु तथेति चेन्न। स्विष्टकृद्धोमोत्तरं प्रधानहोम आपद्येत। न च तद्युक्तम्। तस्मात्पूर्वैव व्याख्या ज्यायसी। अनुक्तकालानां होमानां कालमुक्त्वेदानीं तानुपदिशति।

श्रीः।। राष्ट्रभृत इच्छन् (१.५.७)।।

इच्छन्रा[1]ष्ट्रभृद्वद्राष्ट्रभृतो जुहोति। राष्ट्रभृद्धोमश्चाग्नौ विहितस्तद्वदत्रापि जुहोति। [2]नामातिदेशेन तद्धर्मप्राप्तिः। मासमग्निहोत्रं जुहोतीतिवत्। तत्र चैवं सूत्रितम्। द्वादशगृहीतं विग्राहं जुहोत्यृताषाडिति प्रतिस्वाहाकारꣳ राष्ट्रभृतो वाट्कारान्तः पूर्वः पूर्वो मंत्रः। अस्यायमर्थः। जुह्वां द्वादशगृहीतमाज्यं गृहीत्वा तदेवाज्यं द्वादशवारं विग्राहं विगृह्य-विगृह्य विभज्य-विभज्य तस्यैकैकं द्वादशांशमृताषाड़ृतधामेत्यादिभिर्द्वादशमंत्रैः प्रतिस्वाहाकारं राष्ट्रभृतो राष्ट्रभृ[3]त्संज्ञका आहुतीर्जुहोति। तत्र ऋताषाड़ृतधामेत्यादिषु द्वादशमंत्रेषु समाम्नायपठितेषु परस्परं व्यतिषक्तेषु पूर्वः पूर्वो मंत्रः पुल्लिंगविशेषणविशिष्टो वाट्कारांतस्तस्मै स्वाहा वाडित्येवमन्तो भवति। उत्तरस्तु स्त्रीलिङ्गविशिष्टस्ताभ्यः स्वाहेति स्वाहाकारान्त एव। अथातो राष्ट्रभृतो[4] जुहोतीति। प्रकृत्याज्येन द्वादशगृहीतेन ता उ द्वादशैवाहुतयो भवन्ति। तथा। ता एता एव द्वादशगृहीतेनैकेन द्वादशाहुतयो भवन्ति। तथा। गंधर्वा[5]प्सरोभ्यो जुहोति। मिथुनानि जुहोति। पुꣳसे पूर्वस्मै जुहोत्यथ स्त्रीभ्यः। तथा। उभाभ्यां

एव भवति'' इति कर्कभाष्ये। ''उतूलस्य दुर्विनीतस्य दासस्य परि समन्तात् मेहः सेचनं वशीकरणाभिषेक इति यावत् कर्म'' इति हरिहरः।

१ ० छन्राष्ट्रद्व० - स

२ नामातिदेशेन इत्यारभ्य जुहोतीति पर्यन्तं पुनरुक्तिः – स।

३ ० भृज्ञका - स।

४ ऋताषाड़ृतधामाग्निर्गन्धर्व इत्यादिभिर्मन्त्रैराग्निका द्वादश होमा राष्ट्रभृतः।

५ गंधवा - स

वषट्कारेण च स्वाहाकारेण च पुꣳसे जुहोति स्वाहाकारेणैव स्त्रीभ्य इति। ऋताषाडृतधामेति च सर्वस्य श्रुतत्वात्। अत्र पुꣳसे पूर्वस्मै जुहोत्यथ स्त्रीभ्य इति क्रमेण होमविधानात्समाम्नाये स्त्रीलिङ्गपुल्लिङ्गपदव्यतिषक्तपठितानां मन्त्राणां यथालिङ्गं सम्बन्धः कार्यः। तथा हि। यानि पुल्लिङ्गपदानि स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै इति व्यवहितपठितान्यपि[1] तान्यपकृष्य ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्व इत्यनेन पुल्लिङ्गपठितेन पूर्वमन्त्रेण सह योज्यानि। यच्च स्त्रीलिङ्ग[2]पदं ताभ्य इति तद्व्यवहितपठितमप्यपकृष्योत्तरेण मंत्रेण स्त्रीलिंङ्गपठितेन तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नामेत्यनेन सह योज्यम्।

ततश्चैवं प्रयोगः। ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वः स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाडिति पूर्वो मन्त्रः। [3]इदमृतासाहे ऋतधाम्नेऽग्नये गन्धर्वाय। तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ताभ्यः स्वाहा। इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यः। कर्काचार्यास्तु। अत्र च तस्यौषधय इति सापेक्ष[4]त्वादृताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्व इत्यनुवर्त्तत इत्याहुः। एवमुत्तरेष्वपि मंत्रेषु यथार्थं प्रयोगः। अत्राऽज्यतंत्रत्वात्स्रुवेणैव सकृत्सकृद्गृहीतेन होममिच्छन्ति। अपरे तु स्रुचि द्वादशगृहीतं गृहीत्वा[5] विगृह्य-विगृह्य होममिच्छन्ति। नाम्ना [6]तद्धर्मप्राप्तेः। आधानपूर्णाहुतिवत्।

---

१ ० पठितान्यपकृष्य ऋतान्यपकृष्य - स

२ ० स्त्रीं गपदं - स

३ "इदमग्नये गन्धर्वायेति त्यागः "इति विश्वनाथभाष्ये।

४ ० मेक्ष० - स

५ गृहीत्वा विगृह्य होम० - स

६ तधर्म - स

।। श्रीः ।। जयाभ्यातानांश्च जानन्।

येन कर्मणेर्त्सेदिति[1] वचनात् (१.५.७–८) ।।

चित्तं च चित्तिश्चेत्येवमादयः प्रजापतिर्जयानिन्द्रायेत्येवमंता जयाः। लिङ्गात्। एकेनापि जयालिङ्गकेन छत्रिणो गच्छन्तीति वत्सर्वेषु प्रयोगः। शेषे अभ्याताना मंत्राः। तान्श्चेच्छन् जुहोति। जानन् जयाभ्यातान[2]होमफलं जानन्। कुत एतत् येन कर्मणेर्त्सेदितिवचनात्। येन कर्मणा ऋद्धिं समृद्धिमिच्छेत्तत्र जयाञ्जुहुयादिति वचनं भवति। ऋध्[3] वृद्धौ। "धातोः कर्मणः[4] समानकर्तृकादिच्छायां वेति[5] सन्। आप्त्रप्ऋधामीदि[6]तीत्। चशब्दो राष्ट्रभृद्भिः सन्नियोगार्थः। यदि राष्ट्रभृतो जुहोति तदा होमः। वचनोपन्यासः स्मृतिमूलप्रदर्शनार्थम्। यद्वा चशब्दोऽनुक्तशाखांतरीयसंततिहोमानां समुच्चयार्थः। तान्श्च जुहोति जानन्। मन्त्रादिकम्।

तथा च **मानवसूत्रे**। "उद्वाहे होमा जयाभ्यातानाः संततिहोमा राष्ट्रभृतश्च। आकूताय स्वाहेति जयाः प्राचीदिग्वसन्तऋतुरित्यभ्यातानाः प्राणादपान**ꣳ** स तन्वांत्विति[7] संततिहोमा ऋताषाडृतधामेति[8] राष्ट्रभृतश्च। त्रातारमिन्द्र**ꣳ** विश्वा[9] आदित्या इति मङ्गल्ये[10]" इति। अत्र येन

---

१ कर्मणेर्च्छेदिति कर्मणेच्छेदिति च पाठान्तरम्।

२ ० तान् - स

३ ऋध - स

४ कर्मणः इति नास्ति - ग, स

५ *अष्टाध्यायी* – ३.१.७.

६ ० मीतीन् - स

७ सन्तन्विति इति पाठः रामकृष्णहर्षजीशास्त्रीसम्पादिते *मानवगृह्ये* (१.११.१४)।

८ द्वादश राष्ट्र० - शास्त्रिणा सम्पादिते *मानवे*।

९ विधा - स

१० माङ्गल्ये इत्यपि पाठः।

कर्मणेत्सैदिति वाक्योपन्यासाद्विवाहादन्यत्रापि 'ऋद्धिमिच्छता जयाहोमः कर्त्तव्य इति गम्यते। तथा च **कारिकायाम्।**

चशब्दो राष्ट्रभृद्भिस्तु संयोगार्थं समीरितः।

येनेच्छेत्कर्मणा ऋद्धिं तत्रैव जुहुयाज्जयाः।

अतोऽन्यत्र जयाहोमः कर्तव्य ऋद्धिमिच्छता।

अभ्यातानां जयानां[1] च होमो वैकल्पितो भवेत्।

जानन् शब्दो विकल्पार्थः कथितः कति सूनुनेति। अत्र कर्काचार्याः। एतांश्चेच्छन्[2] जुहोति। जानन्शब्दो विकल्पार्थः। चशब्दो राष्ट्रभृद्भिः सन्नियोगार्थ इति। इच्छन्जुहोतीत्यनुवृत्त्या ऐच्छिके प्राप्ते पुनर्जानन् शब्दोपात्तविकल्पो जयाभ्यातानानां[3] मिथो विकल्पविधानार्थः। यदि राष्ट्रभृतो जुहोति तदा जयाहोमो वाऽभ्यातानहोमो वा कार्य इत्यर्थस्तन्मते फलितो भवति। वस्तुतस्तु जानन्शब्दस्य विकल्पार्थकत्वमेव नास्ति। ज्ञानार्थकत्वात्। तथा च [4]वैश्वानरं च जानन्नित्यत्र जानन्शब्दो विकल्पार्थः। ज्ञानार्थ इत्यपरे। स यदि तं चरकेभ्यो वा यतो वाऽनुब्रवीतेति वचनादिति व्याख्यातम्। दृश्यते च तेषामियं शैली यत्स्वाभीष्टपक्षे अपरे इतिकरणम्। तथा च। "यजुष्मतीश्च जानन्"[5] इत्यत्र [6]यां काञ्च यजुष्मतीमिष्टकां विद्यात्ताम्मध्यमायां चिता ऽउपदध्यादिति वचनादिति श्रुतिरेव व्याख्यानत्त्वेन दर्शिता। अपि च। [7]जानन्ब्राह्मणोक्ता जुहुयाद्वेत्यत्रापि यां काञ्च

---

१ जयानामिति नास्ति स - मातृकायाम्

२ इच्छन्नेव - कर्कभाष्ये पाठः।

३ चित्तं च चित्तिश्चेत्यादि - प्रजापतिर्जयानिन्द्रायेत्येवमन्ता जयामन्त्राः। अग्निर्भूतानामित्यष्टादश मन्त्रा अभ्यातानसंज्ञाः।

४ *का. श्रौ. सू.* ६.६.२३

५ *का. श्रौ. सू.* १७.६.१५.

६ *श.प.ब्रा.* ८.७.२.१८, ०द्यातान्म० - स

७ *का.श्रौ.सू.* १८.६.६

ब्राह्मणवतीमाहुतिं विद्यात्तामेतस्मिन्काले जुहुयादिति[1] श्रुतिरेव व्याख्यानत्वेन प्रदर्श्यै[2] तत्सूत्रस्थो वा शब्दोऽपि तामेव प्रकृत्याह। न जुहुयान्नेदतिरेचयानीति[3] विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्प इति कल्पार्थे व्याख्यातः। यद्येतस्य विकल्पार्थकत्वं स्यात्तदाऽत्र वा शब्दाम्नानमनर्थकं स्यादेव। जयाभ्यातानानां मन्त्राणां स्वशाखायामनाम्नानान्मंत्रानुपदिशति।

।। श्रीः।। चित्तं च चित्तिश्चाकूतं चाकूतिश्च विज्ञातं च विज्ञानं[4] च मनश्च शक्वरीश्च दर्शश्च पौर्णमासं च बृहच्च रथन्तरं च प्रजापतिर्जयानिंद्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु[5]। तस्मै विशः समनमन्तः सर्वाः स उग्रः स इहव्यो बभूव स्वाहेति (१.५.६)।।

चित्तं चेत्येवमादीनि द्वादशदेवतापदानि। प्रजापतिर्जयानिति त्रयोदश। प्रजापतिर्जयानिति समग्रो मन्त्रः। ततश्च होमकाले पूर्वं द्वादश देवतापदेषु स्वाहाकारयोगाच्चतुर्थ्यन्तः प्रयोगः कर्त्तव्यः। [6]नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्चेत्यनुशासनात्। न चैतेषां द्वादशानां मंत्रत्वाद्यथाम्नातानामेव प्रयोग इति शंकनीयम्। मंत्राभावात्। नह्येते

---

१ *श.प.ब्रा.* ६.४.२.२७, द्यातामे – स

२ प्रदश्यै० - स; प्रदृश्यै० - ग

३ *श.प.ब्रा.* ६.४.२.२८

४ विज्ञातिश्च इति केचित् पठन्ति।

५ "प्रजापतिः परमेश्वरः, जयन्ति शत्रूनिति जयाः तान् जयान्मन्त्रानिन्द्राय प्रायच्छत् ददौ वृष्णे अभिमतार्थवर्षणाय इन्द्रविशेषणं वा। ततः स इन्द्रः पृतनाजयेषु असुरसेनाविजयाख्यकर्मसु उग्रः प्रचण्डो बभूव। किं च ततस्तस्मै इन्द्राय विशः प्रजाः समनमन्त सम्यङ् नेमुः"। तथा च *तैत्तिरीया* श्रुतिः - "देवासुराः संयत्ता आसन्। स इन्द्रः प्रजापतिमुपाधावत्स तस्मा एताञ्जयान्प्रायच्छत्तानजुहोत्ततो देवा असुरानजयंस्तज्जयानां जयात्वमिति"। अत्र प्रजापतिर्जयानित्येकेनापि जयालिङ्गेन छत्रिन्यायेन त्रयोदशमन्त्रा जया इत्युच्यन्ते। इति गदाधरभाष्ये, पृ. ७७.

६ *पाणिनिकृताष्टाध्यायी* २.३.१६.

मन्त्राः। शाखान्तरे एतेषां चतुर्थ्यन्तत्वेन प्रयोगपाठात्। एतेन कर्कोक्तं[1] व्याख्यानं निर्मूलत्वादुपेक्षणीयम्। अतएव भर्तृयज्ञपादाः। "इमानि शाखान्तरोपदिष्टानि देवतापदानि। एतेषां प्रयोगकाले सम्प्रदानलक्षणेन प्रयोगः। चित्ताय स्वाहा इत्यादि। एतेषां द्वादश देवतापदानि। त्रयोदशस्तु समस्त एव पठितः प्रजापतिर्जयानिति। अतएवार्यपादै[2]स्तादृश एव प्रयोग उपनिबद्धः। तस्मात्साधूक्तं द्वादशैतानि देवतापदानीति। जया उक्ता अभ्यातानानुपदिशति।

।।श्रीः।। अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्विन्द्रो ज्येष्ठानां यमः पृथिव्या वायु[3]रन्तरिक्षस्य सूर्यो दिवश्चन्द्रमानक्षत्राणां बृहस्पतिर्ब्रह्मणो मित्रः सत्यानां वरुणोऽपाᳪं समुद्रः स्रोत्यानामन्न[4]ᳪं साम्राज्यानामधिपति तन्मावतु सोम ओषधीनाᳪं सविता प्रसवानाᳪं रुद्रः पशूनां त्वष्टा रूपाणां विष्णुः पर्वतानाम्मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्तु पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्तततामहाः। इह मावन्त्वस्मिन्

---

१ "चित्तं च चित्तिश्चेत्यत्र केचिच्चतुर्थ्यन्तेन प्रयोगमिच्छन्ति। तदयुक्तम्। नह्येतानि देवतापदानि किं तर्हि मन्त्रा एव, मन्त्राणाञ्च यथाऽऽम्नातानामेव प्रयोग इष्यते इति कर्काचार्याः"। कर्कमते तु मन्त्रा एते, ते च यथाऽऽम्नाता एव प्रयोक्तव्याः।

२ पादौस्ता० - स

३ *पा.गृ.सू.* १.७.५-६ इत्येतयोः द्वयोः सूत्रयोः व्याख्यानक्रमे स–मातृकायां गतिरोधः दृश्यते। चतुर्थं शूर्पकुष्ठया......त्रिः इत्यनन्तरं पा.गृ.सू. १.५.१०. इति सूत्रस्य व्याख्यानं "युरन्तरिक्षस्य सूर्यो दिवश्चन्द्रमानक्षत्राणा-मित्यादिसूत्रोल्लेखनेन पुनः प्रारभते। १.५.१०. इत्यारभ्य १.७.५. यावत् सूत्राणां प्रयोगमूलकं व्याख्यानं स-मातृकायां अधिकं वर्तते। सर्वं तु सूत्रवृत्तौ समाविष्टमस्ति इति विशेषः।

४ ० नांवरुणोमन्न - स

ब्रह्मण्यस्मिन्क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन्कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहेति सर्वत्रानुषजति (१.५.१०.)।।

अग्नि[1]र्भूतानामधिपतिरित्यारभ्य पितरः पितामहा इत्यन्ता अष्टादशमन्त्रा अभ्याताना संज्ञाः। तत्राऽग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्विति प्रथमो मन्त्रः। इन्द्रो ज्येष्ठानामिति द्वितीयः। यमः पृथिव्या इति तृतीयः। एवमष्टादश मन्त्रा यथा समाम्नाता ज्ञातव्याः। अत्राद्ये मन्त्रे अधिपतिः, स मावत्विति मन्त्रावयवः समाम्नातः। स द्वितीयादिष्वपि मन्त्रेष्वनुषञ्जनीयः[2]। सर्वशेषत्वेनाम्नातत्वात्। अतएवाऽन्नᳬ साम्राज्यानामधिपति तन्मावत्वित्यत्र वैलक्षण्यादननुषङ्गे प्राप्ते विलक्षण एव समाम्नातः तथा मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावन्त्वित्यत्र च। अन्त्यस्तु" पितरः पितामहाः परेऽवरे[3] ततास्तततामहाः। इह मावन्त्वस्मिब्रह्मण्यस्मिन्क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां "[4]पुरोधायामस्मिन्कर्मण्यस्यां देवहूत्यां स्वाहेति" सम्पूर्णः समाम्नातः। अत्र चोत्तमे मंत्रेऽस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्क्षत्रे इत्यादि मन्त्रावयवः समाम्नातः स पूर्वेषु सप्तदश मंत्रेष्वनुषज्यते। तुल्ययोगित्वात्। ततश्च प्रयोगकाले एवं प्रयोगः कर्त्तव्यः।

अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन्कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳬं स्वाहेति। इन्द्रो ज्येष्ठाना[5]मधिपतिः स [6]मावत्वस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्क्षत्र इत्यादि। एवमुत्तरेष्वपि मन्त्रेषु ज्ञेयम्। अत्र

---

१ "अग्निर्भूतानामित्यारभ्य चतुर्थमिति (१.७.५–६) यावत् व्याख्यानस्य पुनरावृत्तिः स - मातृकायां वर्तते।

२ ० नुमञ्जनीयः - स

३ परेऽनरे—स

४ पुरोहिधा०—स

५ ष्ठाभामधि०—स

६ मानत्व-स

रुद्रः पशूनामिति होमान्ते उदकोपस्पर्शनम्। रौद्रत्वान्मन्त्रस्य[1]। अन्त्ये तु प्राचीनावीतिना दक्षिणामुखेन च होमः। पित्र्यत्वात्। सव्यं [2]कृत्वाऽपामुपस्पर्शः।

।।श्रीः।। अग्निरैतु प्रथमो देवतानाᳬ [3]सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु [4]मृत्युपाशात्। तदयᳲ राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयᳬ स्त्री पौत्रमघन्न रोदात्स्वाहा। इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः। अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियᳬ स्वाहा। स्वस्ति नो अग्ने दिव आपृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र। यदस्यां[5] महि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रᳬ स्वाहा। सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिर्[6]मध्ये ह्यजरन्न आयुः। अपैतु मृत्युरमृतन्न आगाद्वैवस्वतो नोऽअभयं कृणोतु स्वाहेति (१.५.११)।।

अभ्यातानहोमानन्तरमग्निरैतु प्रथम इत्याद्याश्चतस्र आहुतीर्जुहोति[7]। शाखान्तरीयत्वात्पूर्णः पाठः। **कारिकायाम्**।

द्वाविंशतिरभ्याताना जुहुयात्तद्भुतेन ताः।
अग्निर्भूतानामित्याद्यास्तत्र सप्तदशस्वपि।

---

१ *का०श्रौ०सू०* १.१०.१४ रौद्रं राक्षसमासुरमाभिचरणिकं मन्त्रमुक्त्वा पित्र्यमात्मानञ्चालभ्योपस्पृशेदप उपस्पृशेदप इति।

२ कृत्वोपा० – ग, स

३ सौम्ये-स

४ मन्यु॰-स

५ यदस्माम्-स

६ ॰मद्धे- ग, स

७ "अग्निरैत्वित्यादिकाः परं मृत्यवित्यन्ताः पञ्च मन्त्राः। परं मृत्यविति च जुहुयात्। एके आचार्याः परं मृत्यवित्येतामाहुतिं प्राशनान्ते संस्रवप्राशनान्ते जुहुयादितीच्छन्ति। उदकस्पर्शः" इति *हरिहरभाष्ये।*

अनुषङ्गो भवत्यस्मिन्ब्रह्मणीत्यादि शेषतः।
सर्वत्राधिपतिः पूर्वं स मावत्वनुषज्यते।
रौद्रीं पैत्रीं हुतिं हुत्वा स्पृशेत्प्राणीतकं जलम् इति।

।।श्रीः।। **परम्मृत्यविति च** (१.५.१२क)।

परं मृत्यवित्यनेन मन्त्रेण संहितापठितेन च होमः। एतस्य संहितापठितत्वात्प्रतीक[1]ग्रहणम्।

।।श्रीः।। **एके प्राशनान्ते** (१.५.१२)।

एके आचार्याः परं मृत्यविति संस्रवप्राशनान्ते होममिच्छन्ति। एवमपि स्मरणात्। ततश्च विकल्पः। अस्मिन्पक्षे पुनरपि प्राशनं प्रवर्तत एवेत्यार्यपादाः। अन्येऽप्येवमेवाहुः।

इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठकश्रीरामचन्द्रसूनुमहायाज्ञिकश्रीगङ्गाधरकृतायां पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तौ प्रथमकाण्डे पञ्चमी कण्डिका।।५।।



---

१ ० करग्र० - स

।। षष्ठी कण्डिका ।।

मूलम् - *कुमार्या भ्राता शमीपलाशमिश्राँल्लाजानञ्जलिनाञ्जलावाव-पति।।१।। ताञ्जुहोति सꣳहतेन तिष्ठती अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत। स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा।। इयन्नार्युपब्रूते लाजानावपंतिका। आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा। इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव। मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियꣳ स्वाहेति।।२।। अथास्यै दक्षिणꣳ हस्तं गृह्णाति सांगुष्ठं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथाऽऽसः। भगोऽअर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः। अमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि विवहावहै सह रेतो दधावहै प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्द्यावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः। संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतमिति।।३।। (६)*

।।श्रीः।। कुमार्या भ्राता शमीपलाशमिश्राँल्लाजानञ्जलिना-ञ्जलावावपति। तान्जुहोति सꣳहतेन तिष्ठती अर्यमणं देवं कन्याऽऽग्निमयक्षत। स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा। इयन्नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका।। आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा। इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव। मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियꣳ[1] स्वाहेति (१.६.१-२)।।

कुमार्या वृतायाः[2] एव कुमार्या भ्राता शमीपलाश[3]मिश्राँल्लाजानं-जलिना कृत्वा कुमार्या अञ्जलावावपेत्। शम्याः पलाशानि पत्राणि

---

१ मन्यतामिमं-स

२ प्रत्ताया-स

३ पालाश-स

तैर्मिश्रितॉंल्लाजान्। मिश्रणोपदेशाच्छमीपलाशानामप्रदेयत्वम्। प्रयोजनञ्च विस्मरणे[1]ऽनभ्यावृत्तिः। न च प्रदेयधर्माः। संहतेन सम्मिलितेनाविरलेनाञ्जलिना तिष्ठती[2] ताँल्लाजानर्यमणमिति प्रति मन्त्रं विगृह्य[3] विगृह्य जुहोति। केचित्तु संहतेन[4] मंत्रेणेत्याहुः। तन्मते त्रिभिर्मन्त्रैरेकैवाहुतिः सिद्धा[5] भवति। शाखान्तरे[6] तु संहतेनाञ्जलिनेति स्पष्टमभिहितम्। मन्त्रपाठः कुमार्या एव। लिंगात्। अत्रार्यपादाः। कुमारीमुत्थाप्य पाणिभ्याम[7]ञ्जलिं कारयेत् अंजलावुपस्तारः। भ्राता शमीपलाशमिश्राँल्लाजानञ्जलिना कृत्वा कुमार्या अञ्जलावावपति[8]। आचार्यो[9] द्विरभिघारयति। क्षताभ्यङ्गः। ताञ्जुहोति प्राजापत्येन संहताभ्यां पाणिभ्यां त्रिभिर्विग्रहैरर्यमणमिति प्रतिमंत्रमिति। **कारिकायाम्।**

वधू[10]भ्राताञ्जलौ तस्या[11] लाजानञ्जलिनावपेत्।

शमीपलाशमिश्राँस्तान्गृहीत्वाञ्जलिनैव सा।

जुहोत्यर्यमणं देवमित्याद्यैस्त्रिभिरेव तान्[12]।

---

१ विभ्मरणे-स

२ तिष्ठन्ती–स

३ विगृह्य पदस्य आवृत्तिर्नास्ति-स

४ संहरतेन-स

५ सिद्धां-स

६ शाखान्तरेण-स

७ पाणितेभ्यां-स

८ वापति-स

९ आचार्या-स

१० "भ्राता भ्रातृस्थानो वा" इति *आ॰गृ॰सू॰* १.७.८ भ्रातेति सोदर्यस्य ग्रहणम्। भ्रातृस्थानो वेति। मातुलपुत्रः पितृव्यपुत्रो वा भ्रातृस्थान इत्युच्यते। भ्रातुरभावे भ्रातृस्थानेन भवितव्यम् इति आ॰गृ॰भाष्यकारः

११ तस्यां-स

१२ वान्-स

अञ्जलिस्थाँस्त्रिधा सर्वान्प्राङ्मुखी प्रतिमंत्रतः।

प्राजापत्येन तीर्थेन दैवेनैवेति बह्वृचाः[१]।

अन्यो भ्रातुरभावे स्याद्बान्धवो ज्ञातिरेव वा। इति

अत्र लाजानां प्रदेयद्रव्यत्वाद्ग्रहणप्रोक्षणाधिश्रयण-पर्यग्निकरणश्रपणानि भवन्ति। न च स्थालीपाके चैवमित्यनेन स्थालीपाके एवेति वाच्यम्। प्रदेयद्रव्यसंस्काराणां प्रकृतिप्राप्तत्वात्। न च स्थालीपाके चैवमित्यनेन ग्रहणादिधर्मविधानम्। तूष्णीं प्राप्तस्य देवतादेशपरत्वात्। स्थालीपाकपदं च प्रदेयद्रव्यपरमित्युक्तं प्राक्। तथा च **मानवे**[२]। "ततो यथार्थं कर्मसन्निपातो विज्ञेयः। अर्यम्णेऽग्नये पूष्णे वरुणाय च व्रीहीन्यवान्वा [३]निरुप्य प्रोक्ष्य लाजा[४]न्भृजति। मात्रे प्रयच्छतीति" न वा। ताञ्जुहोतीत्यनेन सिद्धानामुपदेशेन ग्रहणादिसंस्काराणां परिसंख्यातत्वात्। तथा हि। अत्र कुमार्या भ्राता शमीपलाशमिश्राँल्लाजानंजलिनाञ्जलावावपति जुहोति संहतेन तिष्ठतीत्येतावता तानित्यनुक्तेऽपि लाजाहोमस्य सिद्धत्वाल्लाजाना[५]वपन्तिकेत्यादिलिङ्गाच्च तत्प्राप्तेस्तानिति प्रकृतिप्राप्त-ग्रहणादिसंस्कारव्यावृत्त्यर्थम्। ताँल्लोकसिद्धानसंस्कृतानित्यर्थः। अतश्**छन्दोगसूत्रे** लोकसिद्धानामेवासादनमुक्तम्। यथा। पाणिग्रहणे पुरस्ताच्छालाया [६]उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति[७]। अथ जनन्यामेको ध्रुवाणामपां कलशं[८] पूरयित्वा सहोदकुम्भः प्रावृतो[९]ऽग्रेणाग्निं परिक्रम्य

---

१ बवृचाः-स

२ *मा० गृ० सू०* १.११.१–३तत इति वीप्सायामन्यत्राप्युद्वाहादयं प्रवर्तत इति। ततस्ततो यथार्थ यस्य कर्मणो यत्रार्थः प्रयोजनं तस्य तत्र सन्निपातोऽनुष्ठानं वेदितव्यम् इति अष्टावक्रः।

३ निरुप्यते-स, अभिनिरुप्य- *मानवसूत्रे* पाठः (शास्त्रिणा सम्पादिते)

४ लाजा भृज्जति- *मानवसूत्रे* पाठः

५ लाजावपन्तिके-स

६ नास्ति *गोभिलगृह्ये*

७ *गो.गृ.सू.* २.१.१२.

८ कलसं इति *गोभिलगृह्ये* पाठः

९ प्रावृतो वाग्यतो *गोभिलगृह्ये* पाठः।

दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते[1]। प्राजनेनान्यः[2]। शमीपलाशमिश्राँश्च लाजांश्चतुरो[3]ञ्जलिमात्रान् छूर्पेणोपसादयन्ति पश्चादग्नेः[4]। दृषत्पुत्रञ्चेति[5]। जनन्यां वरस्य सोदराणाम्। प्राजनः प्रतोदः[6]। तेन सहितोऽन्योऽवतिष्ठते। दृषत्पुत्रञ्चेति द्वन्द्वैकवद्भावः। पुत्र[7] उपलाम्। तथा च **शाङ्खायनकारिकायाम्।**

प्रापितैश्चोदकेनापि धर्मैरुच्चारणात्पुनः।

उपस्ताराभिघारादिपरिसंख्यात्र युज्यते।

अतोऽत्र ग्रहणादीनामनुष्ठानन्न सम्मतमिति। अनेनैवाभिप्रायेणार्यपादैः सिद्धानामेव लाजाना[8]मासादनमुक्तं "शमीपलाशमिश्राँल्लाजान्छूर्पेऽवस्थितानिति"।। "उपस्ताराभिघारप्रत्यभिघारास्तु" प्रवर्त्तन्त एव। यद्वै हविरभ्यक्तं यदभिघारितं तज्जुष्टं[9] देवेभ्य इति श्रुतत्वात्। तथा च **मानवे[10]।** [11]"पश्चादग्नेरुपसाद्य शमीपर्णैः संसृज्य[12] शूर्पे समं चतुर्द्धा विभज्याग्रेणाग्निं पर्याहृत्य लाजाधार्यै[13] प्रयच्छति। लाजान्भ्राता[1] ब्रह्मचारी

---

१ *गो॰गृ॰सू॰* २.१.१३

२ *गो॰गृ॰सू॰* २.१.१४

३ चतुरञ्जलि॰ *गो॰ गृह्ये* पाठः

४ *गो॰गृ॰सू॰* २.१.१५

५ *गो॰गृ॰सू॰* २.१.१६

६ प्राजनेन सह प्रतोदेन अन्यः कुम्भधारिणोऽपरः जन्यः प्रावृतो वाग्यतोऽग्रेणग्निं परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते इति गोभिलगृह्यभाष्यकारः चन्द्रकान्ततर्कालङ्कारभट्टाचार्यः २.१.१४

७ मुत्र - स

८ जालाना॰-ग, स

९ त इति नास्ति 'स' मातृकायाम्

१० *मानवगृ॰ सू॰* १.११.१०-१२

११ लाजाः पश्चाद॰ - *मा॰ गृह्ये* पाठः।

१२ सःयुज्य *मा॰ गृह्ये* पाठः। संमृज्य - स

१३ लाजाधार्यै प्रयच्छति इति नास्ति स- मातृकायाम्।

वांजल्योरावपत्युपस्तरणाभिघारणैः संयानंता अविच्छिन्दतीर्जुहुत इति। लाजाधार्यैं मात्रे।

शाङ्खायनसूत्रे[2]**।** लाजाञ्छमीपलाशमिश्रान्पिता भ्राता वा [3]स्यादञ्जलावावपति उपस्ताराभिघारणं प्रत्यभिघारणं चाज्येन। ताञ्जुहोतीति। अस्माच्छूर्पात्।

छन्दोगसूत्रे[4] च। अनुपृष्ठं पतिः परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते वध्वंजलिं गृहीत्वा[5]। पूर्वा माता लाजानादाय भ्राता वा वधूमाक्रामयेदश्मानं[6] दक्षिणेन प्रपदेन। पाणिग्राहो[7] जपती[8]ममश्मानमारोहेति। सकृत्संगृहीतं लाजानामंजलिं भ्राता वध्वंजलावावपति तं[9] सोपस्तीर्णाभिघारितमग्नौ जुहोत्यविच्छिन्द[10]त्यंजलिमियन्नार्युपब्रूत इति।

आश्वलायन[11]**सूत्रे।** वध्वञ्जलावुपस्तीर्य भ्राता भ्रातृस्थानो वा द्विर्लाजानावपति। त्रिर्जमदग्न्यानाम्। प्रत्यभिघार्य हविः[12]। अवत्तं च।

---

१ लाजाभ्राता ब्रह्मचारी वाञ्जलिनाञ्जल्यो-सम्पातं वा अविच्छिन्नैर्जुहतः इति *मा० गृह्ये* पाठः।

२ *शां.गृ.सू.* १.१३.१५-१७

३ वास्मादंज-स

४ *गो.गृ.सू.* २.२.२-६

५ गृहीत्वात्-स

६ स्मानं-ग.स.

७ पाणिग्रहो इति *गो० गृह्ये* पाठः।

८ इमाम्- ग.स। (जपतीमाम्)

६ तं लाजाञ्जलिं। उपस्तीर्णञ्च अभिघारितञ्च उपस्ती०तत्सहितम् इत्यर्थः

१० अविच्छिन्दती विच्छेदमकुर्वती

११ *आ.गृ.सू.* १.७.८.-१२।

१२ हनिरवत्तं-स

एषोऽवदानधर्मः[१]। अर्यमणं देवं कन्याद्रव्यादि मामुतः स्वाहेत्यविच्छिंदत्यंजलिं स्रुचेव जुहुयादिति[२]।

आश्वलायनकारिकायाम्।

भ्रातृस्थानः पितृव्यस्य मातुलस्य च यः सुतः।

मातृष्वसु[३]: सुत[४]स्तद्वत्सुतस्तद्वत्पितुः स्वसुः। इति

अतएवार्यपादैरुपस्ताराभिघारप्रत्यभिघारणान्युपबद्धानि। अत्र ताञ्जुहोतीत्यनेनेमाँल्लाजानामिति तृतीयमंत्रहोमे सर्वहोमोऽपि सूचितो भवति। सतुषद्रव्यस्य भक्षाऽयोग्यत्वात्। तेन पाकयज्ञेष्ववत्तस्याऽसर्वहोमो हुत्वा शेष[५]प्राशनमित्येतल्लाजाहोमेन प्रवर्त्तते। अतएव भर्तृयज्ञपादैरग्निपरिचरणमुक्तम्। अक्षतपक्षे न शेषप्राशनम्। अनदनीयत्वात्। दधिपक्षे तंडुलपक्षे च न प्रतिषेध इति। अत्र न्यायविदोंऽजलेः प्रपतनसम्मार्जनाभ्युक्षणपुनःप्रपतनसंस्कारानिच्छन्ति। होमसाधनत्वाविशेषात्। होमसाधने हि संस्कारविधानन्न स्रुवस्वरूपे। न च वाक्येन श्रुत्या[६] च स्रुवशेषत्वप्रतीतेः स्रुवद्वारा होमार्थत्वम्[७]। प्रकरणेनापूर्वशेषत्वावगमात्। न च श्रुतिर्वाक्ये प्रकरणाद्बलीयसीति वाच्यम्। अपूर्वशेषत्वाभावे वैयर्थ्यप्रसंगात्। अतएव तंत्रे यत्रावद्यातस्तत्रैव प्रोक्षणम्। तथा सति

---

१ वधान-स

२ *आ.गृ.सू.* १.७.१३ अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत। स इमां देवो अर्यमा प्रेतो मुञ्चातु नामुतः स्वाहा। वरुणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत। स इमां देवो वरुणः प्रेतो मुञ्चातु नामुतः स्वाहा। पूषणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत। स इमां देवः पूषा प्रेतो मुञ्चातु नामुंतः स्वाहा। इत्यविच्छिन्दत्यञ्जलिं स्रुचेव जुहुयात् इति।।

३ ०ष्वसु-स

४ सुरत०-स

५ *का.श्रौ.सू.* ६.१०.२६.-२७ स्मार्तहोमेषु होमाय यदवत्तं तस्य असर्वस्य होमः कर्त्तव्यः।

६ श्रुत्वा-स

७ होमार्थः-स

नैर्ऋतचरौ कृष्णानां "व्रीहीणान्नखनिर्भिन्नानामिति श्रुतेषु नखेषु प्रोक्षणन्नप्रवर्त्तत इति पूर्वपक्षं कृत्वाऽपूर्वस्य प्रयोजकत्वात्प्रवर्त्तत एवेति सिद्धान्तितम्। तथा व्री[1]हीन्प्रोक्षतीत्यधिकरणे वाक्येन द्वितीया श्रुत्या च प्रोक्षणे व्रीहिस्वरूपं प्रयोजकमिति पूर्वपक्षीकृत्य फलवत्त्वेन कर्त्तव्यतया चोदितस्यापूर्वस्येतिकर्त्तव्यताऽऽकांक्षा भवति। व्रीहिस्वरूपं तु सिद्धत्वान्न कर्त्तव्यतया चोद्यते। किं तु गुणत्वेन। ततो द्रव्यस्वरूपेनेतिकर्त्त-व्यताकाङ्क्षा। तस्माद्वाक्यश्रुती उपेक्ष्य प्रकरणादपूर्वस्य प्रयोजकत्वमेष्टव्यमिति सिद्धान्तितम्। तस्माद्धोमापूर्वसाधनत्वादञ्जलौ संस्काराः प्रवर्त्तन्त एव। अशेषैर्याज्ञिकैश्चाऽर्कपर्णशूर्पपलाशपत्रदोहनादिषु संस्काराङ्गीकरणात्। तेन दधिपृषातकमञ्जलिना जुहोतीत्यत्रापि संस्काराः प्रवर्त्तन्त एव। तथा श्रौते हस्तेन मारुतां जुहोतीति जुहूधर्माः प्रवर्त्तन्ते।

।।श्रीः।। अथास्यै दक्षिणꣳ हस्तं गृह्णाति साङ्गुष्ठं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भगोऽऽर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः। अमो[2]ऽहमस्मि। सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्। तावेव[3] विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान्विन्द्यावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम[4] शरदः शतꣳ श्रृणुयाम शरदः शतमिति (१.६.३)।।

अथ लाजाहोमा[5]नन्तरम्। अस्यै इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। अस्याः कुमार्या दक्षिणं हस्तं गृह्णाति साङ्गुष्ठमङ्गुष्ठसहितं गृह्णाति गृभ्णामि त

---

१ व्री नास्ति - स।

२ हेमस्मि - स

३ तावेहि बाक्रेमहोदयेन सम्पादिते ग्रन्थे पाठः।

४ जीवे - स

५ ०होमार्थंतरं - स

इत्यारभ्य शतमित्यन्तेन मन्त्रान्ते। प्रत्यगाशीर्योऽगाद्वर एव समन्त्रकं पाणिं गृह्णाति। मया पत्या जरदष्टिर्यथासदिति लिङ्गात् त्रिस्त्रिर्गृह्णीयादिति [1]भर्तृयज्ञपादाः। **छन्दोगसूत्रे**[2]। सव्येन[3] पाणिनाञ्जलिमुपोद्गृह्य[4] दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं[5] साङ्गुष्ठमुत्तानं गृहीत्वैताः षट् पाणिग्रहणीया जपति गृभ्णामि त इति। अत्र **मानवसूत्रे**[6] विशेषः। देवस्य त्वेति हस्तं गृह्णन्नाम गृह्णाति प्राङ्मुख्याः[7] प्रत्यङ्मुख[8] ऊर्ध्वस्तिष्ठन्नासीनाया दक्षिणमुत्तानं[9] दक्षिणेन [10]नीचारिक्तमरिक्तेन यथेन्द्रो हस्त[11]मगृहीदित्यादि। **आश्वलायन**[12]**सूत्रे** च। हुत्वा तिष्ठन्प्रत्यङ्मुखः प्राङ्मुख्या आसीनाया गृभ्णामि[13] ते सौभगत्वाय हस्तमित्यङ्गुष्ठमेव गृह्णीयाद्यदि[14]

---

१ भर्यज्ञ० - स

२ *गो.गृ.सू.* २.२.१६

३ अवसिक्तायाः सव्येन इति *गोभिलगृह्ये* पाठः

४ "मुपोद्गृह्य" इति *गोभिलगृह्ये* पाठः, मुपोह्य– ग, स

५ दक्षिणं पाणिं इति *गोभिलगृह्ये* पाठः

६ *मा.गृ.सू.* - १.१०.१५. "नामधेये प्रोक्ते" देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याः हस्तं गृह्णाम्यसाविति हस्तं गृह्णन्नाम गृह्णाति। प्राङ्मुख्याः प्रत्यङ्मुख ऊर्ध्वस्तिष्ठन्नासीनाया दक्षिणमुत्तानं दक्षिणेन नीचारिक्तमरिक्तेन यथेन्द्रो हस्तमग्रहीत् सविता वरुणो भगः। गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासत् इति पाठः।

७ प्राङ्मुख-स

८ प्रत्यङ्मुख इति नास्ति स-मातृकायाम्

९ दक्षिणमुत्तानं इति नास्ति स-मातृकायाम्

१० तिचारिक्त-स

११ हस्मम०-स

१२ *आ.गृ.सू.* १.७.३-५

१३ *ऋ.सं.* १०.८५.३६

१४ ० यादिष्व०-स

कामयेत[1] पुमांस एवमेव[2] पुत्रा जायेरन्निति। अङ्गुलिरेव[3] स्त्रीकामः। रोमान्ते हस्तं साङ्गुष्ठमुभयकाम इति। **शाङ्खायनगृह्ये**[4] च। गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तमिति दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिं गृह्णाति साङ्गुष्ठमुत्तानेनोत्तानं तिष्ठन्नासीनायाः[5] प्राङ्मुख्याः प्रत्यङ्मुख इति। **शाङ्खायनगृह्यकारिकायां** विशेषः।

ज्योतिर्विदुपदिष्टेऽत्र लग्ने पाणिग्रहो भवेत्।

प्राङ्मुख्याः सम्मुखस्तिष्ठन्नासीनायाश्च दक्षिणम्।

पाणिं साङ्गुष्ठमुत्तानं पाणिना दक्षिणेन तु।

उत्तानेन च गृह्णीयान्मंत्रो गृभ्णामि ते मतः[6]।

कन्याहस्ते शमीगर्भादश्वत्थादाहृतां त्वचम्।

आचाराद्दम्पती पिष्ठामर्पयन्ति करग्रहे[7]।

तिष्ठ[8]न्नित्यकिकारेऽपि पुनस्तत्र च सूत्रणात्।

स्त्रिया[9] सह पुमान्कुर्वन्सर्वकर्माणि कल्पयोः।

ऊर्ध्वः प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठन्नासीना प्राङ्मुखी तथा।

तां पूषन्निति पञ्चर्चममोऽहमिति मंत्रकम्।

जपेत्पाणिं[1] गृहीत्वैते पाणिग्रहणिका मताः।

---

१ कामयीत-ऐथलसम्पादिते *आ.सूत्रे*

२ एव मे-ऐथलसम्पादिते *आ.सूत्रे*

३ अङ्गुलीरेव-ऐथलसम्पादिते आ.सूत्रे

४ *शां.गृ.सू.* १.१३.२.

५ ०सीनामाः- स

६ ममः- स

७ करगृहे- स

८ ०ठन्नीत्य- स

९ स्त्रियमाह- स

इह सूर्यां श्रावयेयुः[२] कन्यां विप्रायुजोर्चिताः?

ऋग्विधानादेतदिष्टं सुयज्ञेनापि सम्मतम्।

सूर्यां विन्दे वधूकामा वासोऽदापयताधरम्।

श्रावये[३]दभिरूपैश्च भ्राता कन्यां पिताऽथवा।

दश पुत्रवती सा स्यान्न च भर्त्रा वियुज्यते। इति

अत्र लाजाहोमादनन्तरमेव पाठात्पाणिग्रहणे प्राप्तेऽथ-शब्दोपादानमन्तरापतितनैमित्तिकोत्कर्षणार्थम्। एवं सर्वेष्वथशब्देषु ज्ञेयम्।

इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठकश्रीरामचन्द्रसूनुमहायाज्ञिकश्रीगंगाधरकृतायां पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तौ प्रथमकाण्डे षष्ठी कण्डिका। ६।।



---

१ पाणिं गृहीत्वैते इति नास्ति स- मातृकायाम्

२ श्रावमेयुः-स

३ श्राववेद-स

।। सप्तमी कण्डिका ।।

मूलम् - *अथैनामश्मानमारोहयत्युत्तरतोऽग्नेर्दक्षिणपादेन। आरोहेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव। अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायत इति॥१॥ अथ गाथां गायति सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति। यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः। यस्यां भूतꣳ समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्। तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यश इति॥२॥ अथ परिक्रामतः तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतु ना सह। पुनः पतिभ्यो जायां दाऽग्ने प्रजया सहेति॥३॥ एवं द्विरपरं लाजादि॥४॥ चतुर्थꣳ शूर्पकुष्ठया सर्वाल्लाजानावपति भगाय स्वाहेति॥५॥ त्रिः परिणीतां प्राजापत्यꣳ हुत्वा॥६॥ (७)*

।।श्रीः।। अथैनामश्मानमारोहयत्युत्तरतोऽग्नेर्दक्षिणपादेनारोहेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव। अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायत इति (१.७.१)।।

अथ पाणिग्रहणानन्तरमग्नेरुत्तरतः स्थितमश्मानमेनां वधूं दक्षिणपादेनारोहेममश्मानमित्यनेन मन्त्रेणाचार्य आरोहयेत्। मन्त्रपाठोप्याचार्यस्यैव। कारितार्थे चायं मन्त्रः। लिङ्गात्। एवमेव भर्तृयज्ञपादैरार्य[1]पादैश्च व्याख्यातम्। **शाङ्खायनः**[2]। "अश्मानं चोत्तरत अवस्थाप्य[3]। एहि सूनरीत्युत्थाप्य। [4]एह्यश्मानमधितिष्ठेति। दक्षिणेन प्रपदेनाश्मानमाक्रमय्येति"।

कारिकायाम्।

---

१ रार्यपादै० इति नास्ति स- मातृकायाम्

२ *शां.गृ.सू.* १.१३.१०-१२

३ उपस्थाप्य *शां.गृह्ये* पाठः

४ "एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मेव त्वं स्थिरा भव। अभि तिष्ठ पृतन्यतः सहस्व पृतनायत इति। *शांखायने।*

"गत्वोभावुत्तरेणाग्निं तस्याः सव्येतर[1]करम्।
सव्येनादाय हस्तेन वधूपादं तु दक्षिणम्।
शिलामारोपयेत् प्रागायतां दक्षिणपाणिना। इति
शाङ्खायनकारिकायाम्।
दृषदं [2]सोपलामग्नेरुत्तर्यः स्थापयेदुदक्।
एहीत्येनामथोत्थाप्य वरः कृतकरग्रहः।
तस्या दक्षिणपादाग्रं दृषद्येहीति कारयेत्। इति

।।श्रीः।। अथ गाथां गायति सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति। यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः। यस्यां भूतꣳ समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्। तामद्य गाथां गास्यामि या[3] स्त्रीणामुत्तमं यश इति (१.७.२)।।

अथाक्रमणानन्तरं सरस्वति प्रेदमिति मन्त्ररूपां गाथां गायति। वर एव प्रत्यगाशीर्योगात्। सरस्वति प्रेदमवेति प्रत्यगाशीर्योगात्पतिर्गायेदिति भर्तृयज्ञपादाः। अश्मनश्चोपरि स्थितायां गाथागानमाचार्यस्य सरस्वति प्रेदमवे[4]त्यार्यपादाः।

।।श्रीः।। अथ परि[5]क्रामतस्तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतु ना सह। पुनः पतिभ्यो जायां दाऽग्ने प्रजया सहेति (१.७.३)।।

अथ गाथागानोत्तरं वधूवरौ प्रदक्षिणं परिक्रामतः परिक्रमणं कुरुतस्तुभ्यमग्र[6] इति मन्त्रेण। तत्राऽग्रे वधूपश्चाद्वरः। अनुपृष्ठं पतिः

---

१ सन्ये-स

२ सोपाठा०-स

३ यामि-स

४ मने-स

५ क्रामतः-स (परि इति नास्ति)।

६ तुभ्यमव-ग.स.

परिक्रम्येति **छन्दोगसूत्रात्**[1]। वरस्यैव मन्त्रवचनं "पुनः पतिभ्यो जायां दा" इति लिङ्गात्। अविशेषोपदेशेऽपि चाग्नेरेव परिक्रमणं प्रकृतत्वाल्लिङ्गाच्च। अत्र परिक्रम[2]णमश्मानमुत्तरेण। ब्रह्माग्न्योरन्तरा च कर्तव्यम्। "हविष्पात्रस्वा[3]म्यृत्विजां पूर्वं[4] पूर्वमित्युक्तेः[5]। **शाङ्खायन-कारिकायाम्**। "प्रदक्षिणं परिणयेदुदकुम्भ हविर्भुजाविति"।

।।श्रीः।। एवं [6]द्विरपरं लाजादि (१.७.४)।।

एवमनेनैव प्रकारेण लाजादि कुमार्या भ्रातेत्यादि परिक्रमणान्तं द्विरपरं कर्म भवति। तथा च **छन्दोगसूत्रे**[7]। परिणीता तथैवा[8]वतिष्ठते तथाऽऽक्रामति तथा जपति तथाऽऽवपति तथा जुहोति। एवं त्रिरिति। [9]एवं द्वितीयम्। एवं तृतीयमिति **शांखायनः**[10]।

।।श्रीः।। चतुर्थे शूर्पकुष्ठया सर्वांल्लाजानावपति भगाय स्वाहेति। त्रिः (१.७.५–६)।।

चतुर्थं परिक्रमणं प्रति भगाय स्वाहेति मंत्रेण त्रिर्लाजाञ्जु[11]हुयात् कुमारी। मंत्रस्यापि प्रतिहोममावृत्तिः[12]। तस्मिँश्च होमे कुमार्या भ्राता शूर्पेऽवशिष्टान् सर्वांल्लाजान् शूर्पकुष्ठया शूर्पपुटेन कोणेनाग्रेण कुमार्या

---

१ *गो.गृ.सू.* २.२.२.
२ क्रमश्मान०-स
३ स्नास्यृ-स
४ पूर्वं पूर्वं पूर्वमि-स
५ *का.श्रौ.सू.* १.८.३१ "पूर्वं पूर्वमन्तरमित्यधिकः। समावेशे सत्युत्तरमुतरं बहिर्भवति पूर्व पूर्वमन्तरं भवति इति .कर्काचार्याः।
६ द्विपरं-स
७ *गो.गृ.सू.* २.२.६-१० दक्षिणेन प्रपदेन आक्रामति अश्मानम्
८ तथैधावतिष्ठति-स
९ "अश्मक्रमणाद्येवं द्वितीयम्" इति शांखायने
१० *शां.गृ.सू.* १.१४.२-३
११ जुहोमात् – स
१२ होमकृतिः-स

अञ्जलावभ्यात्ममावपेत्। अत्र सर्वाँल्लाजानावपतीत्युक्तत्वान्न स्विष्टकृदर्थं रक्षणीयम्। तेनाज्यतन्त्रवदाज्येन स्विष्टकृद्धोमोऽते भवत्येव।

इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठकश्रीरामचन्द्रसूनुमहायाज्ञिकश्रीगंगाधरकृतायां पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तौ प्रथमकाण्डे सप्तमी कण्डिका।।



।। अष्टमी कण्डिका ।।

मूलम् - *अथैनामुदीचीꣳ सप्तपदानि प्रक्रामयति। एकमिषे द्वे ऊर्ज्जें त्रीणि रायस्पोषाय चत्वारि मायोभवाय पञ्च पशुभ्यः षड् ऋतुभ्यः सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव।।१।। विष्णुस्त्वा नयत्विति सर्वत्रानुषजति।।२।। निष्क्रमणप्रभृत्युदकुम्भꣳ स्कंधे कृत्वा दक्षिणतोऽग्नेर्वाग्यतः स्थितो भवति।।३।। उत्तरत एकेषाम् ।।४।। तत एनां मूर्द्धन्यभिषिंचति। आपः शिवाः शिवतमाः शांताः शांततमास्तास्ते कृण्वंतु भेषजमिति।।५।। आपोहिष्ठेति च तिसृभिः।।६।। अथैनाꣳ सूर्यमुदीक्षयति तच्क्षुरिति।।७।। अथास्यै दक्षिणाꣳसमधिहृदयमालभते। मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यमिति।।८।। अथैनामभिमंत्रयते। सुमंगलीरियं वधूरिमाꣳ समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतनेति।।९।। तां दृढपुरुष उन्मथ्य प्राग्वोदग्वाऽनुगुप्त आगार आनडुहे रोहिते चर्मण्युपवेशयति इह गावो निषीदंत्विहाश्वा इह पूरुषाः। इहो सहस्रदक्षिणो यज्ञ इह पूषा निषीदत्विति।।१०।। ग्रामवचनं च कुर्युः।।११।। विवाहश्मशानयोर्ग्रामं प्राविशतादिति वचनात्।।१२।। तस्मात्तयोर्ग्रामः प्रमाणमिति श्रुतेः।।१३।। आचार्याय वरं ददाति।।१४।। गौर्ब्राह्मणस्य वरः।।१५।। ग्रामो राजन्यस्य।।१६।। अश्वो वैश्यस्य।।१७।। अधिरथꣳ शतं दुहितृमते।।१८।। अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति। ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्या मयि। मह्यं त्वादात्बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतमिति।।१९।। सा यदि न पश्येत्पश्यामीत्येव ब्रूयात्।।२०।। त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनौ स्यातामधः शयीयाताꣳ संवत्सरं न मिथुनमुपेयातां द्वादशरात्रꣳ षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः।।२१।। (८)*

।।श्रीः।। [1]परिणीतां प्राजापत्यꣳ हुत्वा। अथैनामुदीचीꣳ सप्तपदानि प्रक्रामयत्येकमिषे द्वे ऊर्जे त्रीणि रायस्योषाय चत्वारि

---

१ "त्रिः परिणीतां प्राजापत्यं हुत्वा" इति सप्तमीं कण्डिकायाः अन्तिमं सूत्रम्। गङ्गाधरवृत्तौ इदमष्टमीकण्डिकायां वर्तते।

मायोभवाय पञ्च पशुभ्यः षड्ऋतुभ्यः सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव। विष्णुस्त्वा नयत्विति सर्वत्रानुषजति (१.८.१-२)।।

परिणीतां होमानन्तरं चतुर्थवारं कृतपरिक्रमणाम्[1]। परिणीतामित्यनेन परिक्रमणान्ताः पदार्थाः संगृहीता भवन्ति। तेन भगाय स्वाहेति[2] त्रिर्होमानन्तरं पाणिग्रहणमश्मारोहणं च भवत्येव। एतच्च तूष्णीं भवति मन्त्राऽनाम्नानात्[3]। गानन्न प्रवर्तते मन्त्ररूपत्वात् तथा चार्यपादाः। चतुर्थे भ्रमणे आचार्यस्योपस्तारः। भ्राता शूर्पकुष्ठया[4] सर्वांल्लाजानञ्जलौ प्रक्षिपति। उपरिष्टाद्द्विरभिघारः। न क्षताभ्यंगः। भगाय स्वाहेत्याहुतित्रयं मंत्रावृत्तिः। इदं भगाय। चतुर्थे पाणिग्रहणादिभ्रमणान्तं तूष्णीम्। तथा **चाश्वलायनः**[5]। [6]अपरिणीय शूर्पपुटेनाभ्यात्मम्[7]। तूष्णीं चतुर्थम् ओप्योप्य[8] हैके लाजान्परिणयन्ति। तथोत्तमे आहुती[9] इति तूष्णीं कामेन चतुर्थमिति। अत्र परिणीतामित्यनेनेतरथावृत्तिव्युदासः।

कारिकायाम्।

> **हस्तग्रहणतस्तूर्ष्णी भवेदत्र परिक्रमः।**
> **दम्पत्योर्गच्छतोस्तत्र ब्रह्माग्नी अन्तरा गतिः।**
> **दक्षिणेनोदकुम्भं स्यादुत्तरेण तदुत्तरा।**
> **न स्यादितरथावृत्तिस्त्रिः परीत्यादिसूत्रणा**दिति।

---

१ परिक्रमणम्-ग

२ स्वाहेतिर्होमा॰-स (त्रि इति नास्ति)

३ नाम्नानगइ-स

४ कुष्टया-ग, कुष्टमा-स

५ *आ.गृ.सू.* १.७.१४-१६

६ परिणयनमकृत्वेत्यर्थः।

७ अभ्यात्ममित्याभिमुख्येनेत्यर्थः

८ मोप्याथ-ग.स.। एके आचार्या ओप्य लाजान् परिणयनमिच्छन्ति इति देवस्वामिभाष्ये ।

९ न संनिपततः इत्यधिकं सूत्रे।

शाङ्खायनकारिकायाम्।

तूष्णीमश्मक्रमादि स्यात्सर्वं कोणेन वापयेत्।

अभ्यात्मञ्जुहुयाल्लाजान्होमं कामेन चेष्यत इति।

प्राजापत्यं प्रजापतये स्वाहेत्याज्येन हुत्वाऽथ होमानन्तरमेनां वधूमुदीचीमुदङ्मुखीं सप्तपदानि प्रक्रामयत्येकमिष इत्यादिसप्तभिर्मन्त्रैः प्रतिमंत्रं वर एव। सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भवेति लिंगात्। **कारिकायाम्।**

अथाग्निमुत्तरेणोदङ्मुखीं सप्तपदानि ताम्।

प्रक्रामयेद्वरारोहां तान्युदञ्चि वरः स्वयम्।

यथा व्रजन्त्याः सव्यांघ्रिर्नातिक्रामति दक्षिणम्। इति

शाङ्खायनकारिकायाम्।

इष इत्यादिभिर्मन्त्रैरीशान्यां तु पदक्रमम्।

वधूं सप्तभिराचार्यो भवान्तैः कारयेदथ।

दक्षिणं प्रथमं क्रामेत्सव्यं हीनं ततो वधूः।

सहेयादुत्तरो वध्वा वरः कृतकरग्रहः।

ऊर्ध्वौ तौ प्राङ्मुखा वास्तां सप्तमादुत्तरे पदे।

पदानि तानि चान्यानि . . . .। इति

।। श्रीः ।। **विष्णुस्त्वा नयत्विति सर्वत्रानुषजति** (१.८.२)।।

सर्वत्र सर्वेषु प्रक्रमण-मन्त्रेषु विष्णुस्त्वा नयत्विति मन्त्रोऽनुषञ्जनीयः[१]। तथा च **मानवे**[२]। "अथैनां प्राचीं सप्तपदानि प्रक्रामयत्येकमिषे द्वे ऊर्ज्जे त्रीणि प्रजाभ्यश्चत्वारि रायस्पोषाय पञ्च भवाय षड्ऋतुभ्यः सखा सप्तपदी भव सुमृडीका सरस्वति। मा ते व्योमसंदृशि विष्णुस्त्वा नयत्विति

---

१ मन्त्र अनु. – ग, स।

२ *मा.गृ.सू.* १.११.१७-१८, च नास्ति स- मातृकायाम्।

सार्वत्रानुषजतीति"। **शाङ्खायनसूत्रे**[१]। प्रागुदीच्यां दिशि सप्तपदानि प्रक्रामयति[२]। इष एक[३]पदीत्यादि तान्यद्भिः शमयतीति च। **आश्वलायनसूत्रे**[४]। अथैनामपराजितायां दिशि सप्त पदान्यभ्युत्क्रामयतीष एक इत्यादि। **छन्दोगसूत्रे**[५] विशेषः। "प्रागुदीचीमभ्युत्क्रामयन्त्येकमिष इति। दक्षिणेन[६] प्रक्रम्य सव्येनानुक्रामेत् मा सव्येन दक्षिणमतिक्रामेति ब्रूयादिति।

भर्तृयज्ञपादैस्तु चतुर्थꣳशूर्पकुष्ठया सर्वांल्लाजानावपति भगाय स्वाहेत्यन्तं सूत्रं कृत्वा[७] तृतीये प्रक्रमणे समाप्ते चतुर्थमपि लाजाहोमं जुहुयाद्भगाय स्वाहेत्यनेन मन्त्रेण। अयं विशेषः। शूर्पकुष्ठया सर्वांल्लाजानञ्जलावावपेत्। पूर्वेषु होमेषु शूर्पादेवाञ्जलिमादायावपनम्। एवं च कृत्वास्या लाजानावपतीति वेति शालभिर्वचनमुपपद्यते। शालाँ[८]ल्लाजानावपतीति शालः। त्रिः परिणीतां प्राजापत्यꣳ हुत्वाऽथै[९]नामित्यनेन सूत्रेण त्रिः पदं संबध्य त्रिः परिणीतां सतीं[१०] कुमारीं प्राजापत्यं हुत्वेत्यादि व्याख्याय परिणीतामित्यनूच्यमाने लाजाहोमादनंतरमेव

---

१ *शां.गृ.सू.* १.१४.५-७

२ प्रक्रमयति- *शां.गृ.सू.*

३ "इष एकपदी, ऊर्जे द्विपदी, रायस्पोषाय त्रिपदी, आयोभव्याय चतुष्पदी, पशुभ्यः पञ्चपदी, ऋतुभ्यः षट्पदी, सखा सप्तपदी भवेति"

४ *आ. गृ. सू.* १.७.२० इष एकपद्यूर्जे द्विपदी रायस्योषाय त्रिपदी मायोभव्याय चतुष्पदी प्रजाभ्यः पञ्चपद्यृतुभ्यः षट्पदी। सखा सप्तपदी भव सा मामनुव्रता भव। पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः। इति

५ *गो.गृ.सू.* २.२.११-१३

६ दक्षिणेन पादेन प्रक्रम्य गत्वा पश्चात् सव्येन क्रामेत् गच्छेत्। सव्यं पादमग्रतो न कुर्यादित्यर्थः इति गोभिलभाष्यकारः।

७ कृत्या-स

८ शालाँल्लाजा शालः – नास्ति स–मातृकायाम्

९ थैतामित्य-स

१० नास्ति स-मातृकायाम्

[1]प्राप्नोति। त्रिरित्यनूच्यमाने प्रति [2]परिणययुक्तं प्राप्नोतीत्यादि व्याख्यायैकेषामपरायोजनेत्युक्त्वा पूर्ववद्व्याख्यातम्।

।।श्रीः।। निष्क्रमणप्रभृत्युदकुम्भꣳ स्कन्धे कृत्वा दक्षिणतोऽग्नेर्वाग्यतः स्थितो भवति (१.८.३)।।

निष्क्रमणप्रभृति पित्रा प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामतीत्यारभ्य वरस्य भ्राता वापीकूपतडागादिस्थावरादुदकादुदकुम्भं पूर्णं गृहीत्वा दक्षिणे स्कन्धे कृत्वा विवाहाग्नेर्द्दक्षिणत उदङ्मुखो वाग्यतः स्थितो भवति तिष्ठति। तदुक्तं **छन्दोगसूत्रे**ऽग्निस्थापनोत्तरम्। अथ जन्यानामेको ध्रुवाणामपां कलशं पूरयित्वा सहोदकुम्भः प्रावृतोऽग्रेणाग्निं[3] परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठत इति। जन्यानां भ्रातृणाम्।।

।।श्रीः।। उत्तरत एकेषाम् (१.८.४)।।

एकेषामाचार्याणां मते उत्तरतः स्थितो भवति।

।।श्रीः।। तत एना[4]म्मूर्द्धन्यभिषिञ्चत्यापः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु[5] भेषजमिति (१.८.५)।।

ततस्तस्मादुदकुम्भादुदक[6]मादायाचार्य एनां वधूं मूर्द्धनि शिरस्यभिषिञ्चत्यापः शिवा इति मन्त्रेण।

।।श्रीः।। आपो हिष्ठेति च तिसृभिः (१.८.६)।।

आपो हिष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्ऋग्भिश्चाभिषिञ्चति। **शाङ्खायनकारिकायां** विशेषः।

---

१ लाप्नोति-स

२ परिणम०- स

३ तोऽग्नेणाग्निं-स

४ नाशूर्द्ध०-स

५ कृण्वांनु-स

६ ०भादुदमा०-स

समस्ताभिर्व्याहृतिभिः पूरयत्युदकुम्भकम्।

नवं[1] सोदकमापूर्य वक्ष्यमाणानिमानथ।

वरोदुम्बरपुन्नागजंब्वश्वत्थपलाशयोः।

वरणः क्षीरणो वृक्षा पुन्नामानश्च ते मताः।

एतेषां सद्य आनीता वृक्षक्षीरसमन्वितात्।

सर्वा[2]नभ्यतमान्वापि पल्लवां[3]त्सकुशान्क्षिपेत्
तस्मिन्हिरण्यमप्योप्य पूर्णपात्रे फलन्ततः[4](?)।

कुम्भः[5] स्यादिति शब्दात्तं प्रयच्छेद्ब्रह्मचारिणे।

गृह्णीयाद्वाग्यतश्चासावीशान्यामनलाच्च तम्।

स्थापयेच्च स्थितायाश्च आपः स्थेयाश्च ता मताः।

तथा तौ प्राङ्मुखावास्तां सप्तमादुत्तरे पदे।

पदानि तानि चान्यानि अद्भिः प्रोक्ष्यात्र हावकः।

तिष्ठन्नुदङ्मुखो बिभ्रत्कलशं दक्षिणस्तयोः।

तृचेनापोऽभिषिञ्चेत्तौ पल्लवैः सकुशोदकैः।

अल्पिकामूर्द्धनि तयोः कुम्भेनैवावसिञ्चति।

वध्वाः पूर्वमुदक्संस्थं विमुञ्चेति ततः करम्। इति

अत्र केचित्पूर्वेण सहैकं सूत्रं कृत्वा चतुर्भिर्मन्त्रैरेकमभिषेकं वर्णयन्ति। न चेतिकरणेनात्रभेदः। यथा शुगसि[6] तमभिशोच योऽस्मान्द्वेष्टि

---

१ नवसोंदक०-स

२ नन्यमान्वापि-स

३ पक्षनांत्स०-स

४ ० मप्योप्यपूर्णपात्रफलाततः - ग, स

५ कुंस्यादि०-स

६ शुर्गसि-स। *तैत्ति.सं.* १.३.११.१, *का.श्रौ.सू.* ६.१०.३

यं च वयं द्विष्मो माऽपो मौषधीरिति चेति। **कारिकायां** त्वापः शिवेत्येक आपो हिष्ठेति तिसृभिर्द्वितीय इत्युक्तम्। यथा ततस्तामभिषिञ्चति।

उपविष्टां वधूं मूर्द्धनि प्रवालैरुदकुम्भतः।

आपः शिवाः शिवतमा इति मन्त्रं समुच्चरन्।

आपो हिष्ठेति तिसृभिर्द्वितीयमभिषेचनम्। इति

समुच्चरन्निति समुच्चार्येत्यर्थः। मंत्रस्य करणत्वात्। "चशब्दात्तिसृभिरभिषेक" इति कर्कः। अपरे त्वापो हिष्ठेति तिसृभिः प्रत्यृचमभिषेकमाहुः। प्रतिमन्त्रं वा[1] वाक्यभेदादित्युक्तेः। मन्त्रपृथक्त्वात्कर्मपृथक्त्वमिति **शाङ्खायनसूत्राच्च।** **मानवे**[2]। "कुम्भादुदकेनापो हिष्ठीयाभिर्मार्जयन्त" इति। **शाङ्खायन**[3]**सूत्रे**। "आपो हिष्ठीयाभिस्तिसृभिः स्थेयाभिरद्भिर्मार्जयित्वा। मूर्द्धन्यभिषिच्येति"। **छन्दोगसूत्रे**[4]। अपरेणाग्नि[5]मौदकोऽनुसंव्रज्य पाणिग्राहं मूर्द्धदेशेऽवसिञ्चति

---

१ वा नास्ति-स

२ *मानव गृ.सू.* १.११.२६. उदकुम्भादुदकुम्भधारहस्तादित्यर्थः इति अष्टावक्रः

३ *शां.गृ.सू.* १.१४.८-६

४ *गो.गृ.सू.* २.२.१५; अपरेणाग्निम् अग्नेः पश्चिमया दिशा अनु संव्रज्य आगत्य सप्तपदीस्थानमिति भवदेवभट्टः। औदको गृहीतोदकुम्भः पूर्व्वावस्थितः पाणिग्राहं मूर्द्धदेशे उत्तमाङ्गे अवसिञ्चति। कलसस्थाभिर्ध्रुवाभिरद्भिः। तथा तेनैव प्रकारेण इतरां वधूमपि अवसिञ्चति। "समञ्जन्तु" इत्येतया ऋचा वरेण जप्यमानया . . . "मन्त्रलिङ्गात् वर एवावसिञ्चति इति वीरेश्वरमतमप्यनादरणीयम्। औदकोऽवसिञ्चति इति वचनविरोधात्। तस्मात् . . . पाणिग्राहो मन्त्रं जपति औदकोऽवसिञ्चति इति भाष्यकारः। "विवाहे यो विधिः प्रोक्तो मन्त्रा दाम्पत्यवाचकाः। वरस्तु तान् जपेत् सर्वान् ऋत्विक् राजन्यवैश्ययोः" इति **गृह्यासंग्रहे।** "ततस्तस्मात् स्कन्धस्थितादुदकुम्भादाचारादाम्रादिपल्लवसहितेन हस्तेन जलमादायैनां वधूं मूर्द्धनि शिरस्यभिषिञ्चति वरः" इति हरिहरः *पा.गृ.सू.* -व्याख्याने., पृ. ८८

५ मौटको०-स

तथेंतराॅं समञ्जन्त्वित्येतयर्च्चेति। **आश्वलायनगृह्ये**[1]। उभयोः सन्धाय[2] शिरसी[3] उदकुम्भेनावसिच्येति।

।।श्रीः।। अथैनांॅं सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति (१.८.७)।।

अथाभिषेकानन्तरमेनां वधूं सूर्यमुदीक्षयत्याचार्यस्तच्चक्षुरिति मंत्रेण सा ईक्षते। उदीक्षयतीति कारितार्थत्वात्सूर्यमुदीक्षस्वेत्यध्येषणा। **कारिकायाम्**।

ततः सूर्यमुदीक्षस्वेत्याहैनां स नितम्बिनीम्।
[4]श्रुत्वेतोदीक्षते सूर्यं तच्चक्षुरिति मन्त्रतः। इति

।।श्रीः।। अथास्यै दक्षिणांॅंसमधिहृदयमालभते। मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यमिति (१.८.८)।।

अथ सूर्यावेक्षणानन्तरमस्या वध्वा दक्षिणांसमध्युपरि हस्तं नीत्वा पति हृदयमालभते मम व्रते त इति मन्त्रेण। लिङ्गादभिमर्शनं भर्तुः। **कारिकायाम्**।

नीत्वा करं दक्षिणांसं नीत्वा तेनालभेत्हृदि।
मम व्रते ते हृदयमिति मंत्रेण कामिनीमिति।

।।श्रीः।। अथैनामभिमंत्रयते सुमङ्गलीरियं वधूरिमांॅं समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतनेति (१.८.९)।।

---

१ *आ.गृ.सू. १.७.२१*

२ संनिधाय-आ.गृह्ये

३ शिरसि – स

४ द्युत्वे० - ग, स

अथ हृदया[1]लम्भनानन्तरमाचार्य एनामभिमंत्रयते अवलोकनं कुर्वन्नमुं मन्त्रं पठेत्। तदुक्तं कात्यायनेन[2]।

स्पृशन्ननामिकाग्रेण क्वचिदालोकयन्नपि।

अनुमन्त्रणीयं तु सर्वत्र सदैवमनुमन्त्रयेत्। इति

।।श्रीः।। **तां दृढपुरुष उन्मथ्य प्राग्वोदग्वाऽनुगुप्तागार आनडुहे रोहिते चर्मण्युपवेशयतीह गावो निषीदंत्विहाश्वा इह पूरुषाः। इहो सहस्त्रदक्षिणो यज्ञ इह पूषा निषीदन्त्विति** (१.८.१०)।।

तां वधूं दृढपुरुषो जितेन्द्रिय [3]उन्मथ्योद्गृह्य प्राग्वोदग्वा सन्निधानादग्नेः प्राच्यां वोदीच्यां[4] वा दिश्यनुगुप्तागारे गवाक्षदिरहिते गृहे आनडुहे रोहिते चर्मणि चर्माण्युत्तरलोमानि प्राग्रीवाणीत्युक्तत्वात्प्राग्रीवे उत्तरलोम्नि इह गाव इत्यनेन मंत्रेणोपवेशयति। अनुगुप्तागारं यत्र गवाक्षोऽपि नास्ति। दृढपुरुषो जितेन्द्रिय इति भर्तृयज्ञपादाः। **कारिकायां** तु।

ततः प्राच्यामुदीच्यां वाऽनुगुप्ते निलये वरः
चर्मण्यानडुहे रक्ते तामुत्क्षिप्योपवेश्य तत्।
इह गाव इति प्रोक्त्वा ततः स्विष्टकृदाहुतिः।
प्राशनादिप्रणीतानां विमोकादि भवेदतः[5]
अद्भुतं[6] चेत्परं मृत्युराज्यशेषेण हूयते[7]।
संस्त्रवप्राशनं तत्र स्याद्बभाणेति[8] भाष्यकृत्। इति

---

१ लम्भवान०- स

२ *कात्या. स्मृ.*, २८.१६

३ उन्मश्योद्०-स

४ वोदिश्यनुप्तागारे-स। वोदीच्यामिति नास्ति।

५ भवेदः-स

६ अहुतं-स। .... मृत्युचाज्य० – ग, स।

७ हुयते-स

८ स्यादभाणेति– ग, स

मानवसूत्रे[1]। पश्चादग्ने रोहित[2]चर्मण्यानडुहे प्राग्रीवे लोमतो दर्भानास्तीर्य तेषु वधूमुपवेशयत्यपि वा दर्भेष्वेवेति[3]। **छन्दोगसूत्रे**[4] तु उद्वहन्ति[5]। प्रागुदीच्यां दिशि यद्ब्राह्मण[6]कुलमभिरूपम्। तत्राग्निरुपसमाहितो भवति। अपरेणाग्निमानडुहं रोहितं चर्म्म प्राग्रीवमुत्तरलोमास्तीर्णं भवति। तस्मिन्नेनां वाग्यतामुपवेशयन्ति। सा खल्वास्त एवानक्षत्रदर्शनादिति।

।।श्रीः।। ग्रामवचनं च कुर्युः। विवाहश्मशानयोर्ग्रामं [7]प्राविशतादिति वचनात् तस्मात्तयोर्ग्रामः प्रमाणमिति (१.८. ११–१३)।।

विवाहे ग्रामवचनं कुलवृद्धानां[8] वचनं कुलाचारानुष्ठानविषयकं च वाक्यं प्रमाणत्वेनाङ्गीकृत्य श्रुतिस्मृत्यनुपदिष्टमपि कुलाचारं कुर्युः। कुत एतत्। "विवाहश्मशानयोर्ग्रामं प्राविशतादिति वचनात्"। विवाहे श्मशाने च ग्रामं कुलाचारं प्राविशतात्प्रकर्षेण विशतात्कुरुतादिति स्मृतिवाक्यात्। एतत्स्मृतिवाक्यस्य प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वमाह। "तस्मात्तयोर्ग्रामः प्रमाणमिति श्रुतेः"। तस्मादित्युपसंहारादेतदुपक्रमवाक्यं शाखान्तर एव प्रसिद्धम्। एतस्या अपि शाखान्तरीयत्वात्। यद्वा श्रुतिप्रत्यक्ष एवायमर्थः। अस्ति हि

---

१ *मानव गृ.सू.* १.११.१६

२ रोहिते-मानवे पाठः

३ एवकारश्चर्मव्यावृत्तिं करोतीति केचित्

४ *गो.गृ.सू.* २.२.१७,२.३.१-५

५ *गो.गृ.सू.* २.२.१७ "समाप्तासूद्वहन्ति"। समाप्तासु पाणिग्रहणक्रियासु पाणिग्रहणीयास्वृक्षु वा रथेनाश्वादिना वा वधूमुद्वहन्ति उत्थाप्य नयन्ति"। इतः परमुत्तरविवाहः। केचित् "समाप्तासु" - इति सूत्रच्छेदं "मन्यन्ते"। उद्वहन्ति इति तु उत्तरखण्डिकायाः प्रथमसूत्रप्रतीकम्-इति मन्यन्ते इति भाष्यकारः। सर्व्वेषु सूत्रग्रन्थेषु इत्थमेव सूत्रमत्रैव च खण्डिकासमाप्तिः।

६ ब्रह्मणकूल०-ग, ब्राह्मणकुल-स।

७ प्रविशता० – इति पाठभेदः।

८ ललवृद्धा०-स

शाखान्तरे एवमर्थं वचनं यस्या[1]यमुपक्रमो ग्रामं प्राविशतादिति। उपसंहारश्च तस्मात्तयोर्ग्रामः प्रमाणमिति। केचित्तु द्वे एवैते वाक्ये समानार्थे। उपक्रमोपदिष्टमेकम्। अपरमुपसंहारोपेतम्। तुल्यार्थवाक्य-द्वयोपन्यासस्तु तत्तदाचारानुष्ठानस्येतरस्मार्त्तपदार्थानुष्ठान-वदत्यावश्यकत्व-प्रतिपादनार्थम्। प्रयोजनं च तदकरणे नैमित्तिकपूर्वकं तदनुष्ठानम्। "ग्रामवचनं लोकवचनमिति" भर्तृयज्ञपादाः। "स्त्रियो ग्रामशब्देनाभिधीयन्त" इति कर्कः[2]। अत्राऽऽश्वलायनः[3]। "अथ खलू[4]च्चावचा जनपदधर्मा[5] ग्रामधर्माश्च तान्विवाहे प्रतीयात्। यत्तु समानं तद्वक्ष्याम" इति। [6]तासामप्रतिकूलः स्यादन्यत्राभक्ष्यपातकेभ्य इति।

।।श्रीः।। आचार्याय वरं ददाति (१.८.१४)।।

वरं दक्षिणां ददाति वरः। वरशब्दार्थमाह।

।।श्रीः।। गौर्ब्राह्मणस्य वरः (१.८.१५)।।

ब्राह्मणस्य गौर्वरो भवति।

।।श्रीः।। ग्रामो राजन्यस्य (१.८.१६)।।

वरो भवति।

।।श्रीः।। अश्वो वैश्यस्य (१.८.१७)।।

---

१ यस्माय०-स

२ श्रुतिग्रहणञ्च ग्रामवचनप्रामाण्यज्ञापनार्थम्। .... ताश्च यत्स्मरन्ति तदपि कर्त्तव्यमिति।

३ *आ.गृ.सू.* १.७.१-२ "उच्चावचा इति नानाप्रकारा बहवश्चेत्यर्थः। जनपदधर्मा अङ्गा वङ्गा मगधाः कुरवो विदेहाः पाञ्चालाः शूरसेना इत्येवमादयः। एतेषु ये च ग्रामाः तेषु जनपदेषु च ये धर्मास्तान् विवाहे प्रतीयात् जानीयात् इति देवस्वामिभाष्ये।

४ धावचा-स

५ जनपदधर्माश्चलान्विबा०-स

६ *शां. गृ. सू.* १.१२.२। तासां प्रतिकूलस्याद . . . भक्ष. – ग, स

वरो भवति। विवाहे एवेयं व्यवस्थेति केचित्। तेन [1]पूर्णपात्रो दक्षिणा वरो वेत्यादौ यदृत्विजामभीष्टं सद्यः यजमानेन[2] दातुं शक्यते तद्वरशब्दवाच्यम्। अतएव मूल्याध्याये द्वात्रिंशत्पणिका गावश्चतुः कार्षापणो वर इति पृथङ्नि[3]ष्क्रयाम्नानमुपपद्यते। भर्तृयज्ञपादास्तु। वरचोदनासु गां ब्राह्मणो वरं दद्यादिति स्मरणात्। ग्रामो राजन्यस्य। वरचोदनासु ग्रामं दद्यात्। अश्वो वैश्यस्य। वरचोदनासु वैश्योऽश्वं दद्यादित्याहुः। तन्मते[4] सर्वत्र श्रौते स्मार्त्ते इयमेव वरव्यवस्था। यच्च पृथङ्निष्क्रयाम्नानं तद्वर्णत्रयसाधारण्यार्थम्। अतएव **शाङ्खायनसूत्रे**[5] विवाहप्रकरणे गां ददा[6]नीत्याहेति। विवाहदक्षिणामभिधाय ब्राह्मणेभ्यः किञ्चिद्दद्यात्सर्वत्र स्थालीपाकादिषु कर्मस्विति। सर्वत्र साधारणीं दक्षिणामभिधाय सूर्यां विदुषे वाधूय[7]मिति। पुनर्विवाहदक्षिणामभिधाय दक्षिणाप्रसङ्गात् साधारण्येन वरस्वरूपमुक्तं गौर्ब्राह्मणस्य वरो। ग्रामो राजन्यस्य। अश्वो वैश्यस्येति। अत्र भाष्यकारेण भर्तृयज्ञवद्व्याख्यातम्। **छन्दोगपरिशिष्टे** तु सर्वत्र सर्ववर्णसाधारण्येन वरं गां तु विजानीयादित्युक्तम्। "याज्ञिकेभ्योऽश्वं ददातीति[8]" **शाङ्खायनः**[9]। सूर्याविदे[10] वधूवस्त्रं दद्यात्। अन्नं ब्राह्मणेभ्यः। अथ स्वस्त्ययनं वाचयीतेत्याश्वलायनः[11]।

---

१ *का. श्रौ. सू.* ६.१०.३४; . . . मभिष्टं-स

२ द्यजमा०-स

३ पृथङ्निष्क्रमम्तान० - स

४ तन्माते-स

५ *शां.गृ.सू.* १.१४.१०-१५।

६ ददामी०-स। स्वशाखीया श्रुतिः।

७ वाधूर्यमिति-स। द्रष्ट० *ऋक्संहिता* १०.८५.३४

८ ददानीति–ग; दद्याती०-स

९ *शां.गृ.सू.* १.१४.१७

१० *आ.गृ.सू.* १.८.१२ सूर्यया दृष्टो मन्त्रः सूर्यैव भवति। वृषाकपिरिति यथा। तं मन्त्रं यो वेद स भवति सूर्यावित्। तस्मै सूर्याविदे इति देवस्वामिभाष्ये।

११ *आ.गृ.सू.* १.८.१३-१४

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।

नोपयच्छेत तां कन्यां[1] पुत्रिकाधर्मशंक[2]या।।

इति स्मृतिवाक्यादभ्रातृकापरिणयने प्रतिषिद्धे प्रतिप्रसवमाह।

।।श्रीः।। अधिरथꣳ शतं दुहितृमते (१.८.१८)।।

ददातीत्यनुवर्त्तते। रथेनाधिकमधिरथं शतं गवामेव। [3]अलिङ्गग्रहणे गौः सर्वत्रेत्युक्तत्वात्। संख्यामात्रे च गाव इति **शाङ्खायनाच्च**। दुहितृमते दुहितरः पुत्र्य एव विद्यन्ते न[4] पुत्रा यस्याऽसौ दुहितृमान्। तस्मै श्वशुरायैकेन रथेनाधिकं गवां शतं दत्त्वा कन्यामुद्वहेत्। "तत्परिक्रया[5]याधिरथदानमिति" कर्कः। **कारिकायाम्**।

अपुत्रश्चेत्पिता तस्यास्तस्मै रथाधिकं शतम्।

गवां दद्यान्निषिद्धा सा यतोऽभ्रातृमती वधूः।

न चाऽभ्रातृमतीं कन्यामुपगच्छेत्तु[6] धर्मवित्।

वधूपरिक्रयायाधिरथदान[7]मभाणि तत्। इति

।।श्रीः।। अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति। ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि मह्यं त्वादात्। बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतमिति (१.८.१९)।।

---

१ कन्यान्यां-स

२ शंकयति-स; *मनुस्मृ.* ३.११

३ *का. श्रौ. सू.* १५.२.१३

४ "न" इति नास्ति-स-मातृकायाम्

५ तत्परिणायावाधि-स

६ छेत्त-ग , छेत-स

७ दानभाणितदि०-स

अस्तमितसूर्ये ध्रुवसंज्ञक[1]मुदीच्यां दिशि स्थितं सूक्ष्मन्नक्षत्रं वधूं ध्रुवमसीत्यनेन मंत्रेण वरो दर्शयत्यवेक्षयति। अत्र ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामीति यजुः। ध्रुवैधि पोष्ये मयीत्यृक्[2]। तत्र पूर्ववाक्ये[3] पश्यामीति लिङ्गाद्वधू अनेन मन्त्रेणेक्षत इत्यर्थः प्रतीयते। उत्तरवाक्ये तु मया पत्येति लिङ्गाद्वरकर्तृकमंत्रपाठः प्रतीयते। तत्र केचिद्वरेण ध्रुवमीक्षस्वेत्युक्ता ध्रुवमसीत्याद्यृग्यजुर्भ्यां वधू ध्रुवमीक्षत इत्याहुः। अपरे त्व[4]ध्येषणापूर्वकं वरो दर्शयति सा तूष्णीमीक्षते। उभयोरपि मंत्रयोः पाठो वरस्यैव मया पत्येति लिङ्गादित्याहुः। अन्ये तु पूर्वस्याध्येषणार्थकत्वम्। उत्तरस्येक्षणकरणत्वम्। तेनोत्तरो मन्त्रो वध्वा इत्याहुः। कर्काचार्यास्तु "कारितार्थे चायं मन्त्रः। पश्यामीत्यन्तर्भूत[5]ण्यर्थः। यदुक्तं भवति दर्शयामीति तदुक्तं भवति पश्यामीति। मन्त्रोऽपि चैवमेव व्यवस्थितः। "ध्रुवैधि पोष्ये मयि मह्यं त्वादात्प्रजापतिः मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतमिति" कुमार्यैवोच्यत[6] इत्याहुः[7]। तन्मते एकमेव वाक्यं सकलं कारितार्थे। मन्त्रोऽपि चैवमेव व्यवस्थित इत्येवमेव कारितार्थे एव सकलो व्यवस्थितः समर्थितो भवति। यतो ध्रुवैधीत्यादि कुमार्यैवोच्यत" इति। न तु व्यवस्थित इति पूर्वः कारितार्थे। उत्तरश्च करणार्थे। एतेन कर्काशयमजानता रेणुना–

तस्या अस्तमिते सूर्ये वरो दर्शयति ध्रुवम्।
ध्रुवमसीति मन्त्रेण कारितार्थेऽप्यसौ भवेत्।
ध्रुवैधि पोष्य इत्यादिना साऽपि ध्रुवमीक्षते। इति

---

१ संज्ञमुदी०-स

२ पोष्येमयीत्पृथक्-स

३ वाको-स

४ अपरेनध्ये०-स

५ "त्यत्रान्तर्भूतो णिच्" इति कर्कभाष्ये-स

६ कुमार्येवो० – ग, स। "कुमार्या वोच्यते" इति कर्कभाष्ये

७ कर्काचार्याः

यदुक्तं तत्परास्तम्। **मानव**[1]**सूत्रे** तु विशेषः। "अथास्यै ध्रुवमरुन्धतीं जीवन्तीॐ सप्तऋषीनिति दर्शयेत्। अच्युता ध्रुवा ध्रुवपत्नी ध्रुवं पश्येम सर्वतः। ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुलेयम् इति तस्याः समीक्षमा[2]णायां जपतीति। **आश्व**[3]**लायनः**। ध्रुवमरुन्धतीं सप्त ऋषीनिति दृष्ट्वा वाचं विसृजेतेति। **शाङ्खायनः**[4]। अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति "ध्रुवैधि पोष्या मयीति"[5]। ध्रुवैधि[6] पोष्या मयीति। **छंदोग**[7]**सूत्रे**[8]। "उपनिष्क्रम्य[9] ध्रुवं दर्शयति। ध्रुवमसि ध्रुवाऽहं[10] पतिकुले भूयासममुष्यासाविति पतिनाम [11]गृह्णीयादात्मनश्च। अरुन्धतीं[12] च। रुद्धा[13]हमस्मीत्येवमेवेति"। अत्र सर्वसूत्रेष्वस्तमित इत्युक्तत्वात्पूर्वं सूर्यावेक्षणविधानाच्च दिवैव पूर्वाह्णे विवाहो भवतीति निश्चीयते। अतएवाचार्यैः पूर्वमुक्त[14]मुदगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे कुमार्याः पाणिं गृह्णीयादिति।

---

१ *मा.गृ.सू.* १.१४.६ "अथास्यै (वध्वै) ध्रुवामरुन्धतीत्यादीनि नक्षत्राणि दर्शयेत्। जीवन्ती सप्त ऋषीणामन्तरा ताराः। "अच्युता" एतत्तस्यां वध्वां ध्रुवादि समीक्षमाणायां जपति इति अष्टावक्रभाष्ये

२ तस्यामीक्षमा०-ग.स.

३ *आ.गृ.सू.* १.७.२२

४ *शां.गृ.सू.* १.१७.३. ध्रुवैधि० इति आवृत्तिर्नास्ति

५ ममीति-स।

६ आवृत्तिर्नास्ति स - मातृकायाम्

७ छन्दो-स

८ *गो.गृ.सू.* २.३.८-११

९ उपनिष्क्रम्य-उप समीपे होमस्थानस्य, निष्क्रम्य बहिर्गत्वा

१० ध्रुवां ह-ग। ध्रुवाऽहं-स

११ पतिमाटह्नीयात्मन०-स

१२ सप्तर्षिसमीपवर्त्तिनी सूक्ष्मतमा तारा। वधू अरुन्धतीं दृष्ट्वा जपति "रुद्धा" इत्यादि।

१३ रुद्रा-स

१४ *पा.गृ.सू.* १.४.५

।।श्रीः।। सा यदि न पश्येत्पश्यामीत्येव ब्रूयात् (१.८.२०)।।

सा वधूर्यदि ध्रुवसंज्ञकं सूक्ष्मन्नक्षत्रन्न पश्येत्तथापि पश्यामीत्येव ब्रूयात्। न पश्यामीति न ब्रूयात्।

।।श्रीः।। त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनौ स्यातां (१.८.२१)।।

त्रिरात्रं रात्रिशब्दोऽहो[1]रात्रपरो ज्ञेयः। अक्षारालवणाशिनौ स्याताम्। क्षाराः सज्जीक्षारं यवक्षारं टंकणक्षारमेव चेत्याद्युक्ताः। गुडादयश्च। लवणं सामुद्रादि। अक्षारं च तदलवणं चाक्षारालवणम्। तदशिनौ भोजनकाले वधूवरौ[2] स्याताम्।

।।श्रीः।। अधः[3]शयीयाताम् (१.८.२१)।।

त्रिरात्रमित्यनुवर्त्तते। अधो भूमौ। अध इत्यनेन खट्वाया निवृत्ति[4]र्नास्तरणस्येति सर्वे भाष्यकाराः। **श्रौतसूत्रे**ऽप्येवमेव व्याख्यातं सर्वैः।

।।श्रीः।। संवत्सरन्न मिथुनमुपेयाताम् (१.८.२१)।।

संवत्सरं यावन्मिथुनं सम्भोगन्नोपेयातां संवत्सरं ब्रह्मचारिणौ स्यातामित्यर्थः। संवत्सरात्पूर्वमेवर्त्तुदर्शने संविशतो न ब्रह्मचर्यस्खलनदोषो यथा श्राद्धादिष्विति मिताक्षराकारः[5] ।

।।श्रीः।। द्वादशरात्रꣳ षड्रात्रं त्रिरात्रमंततः (१.८.२२)।।

अंततः[6] पूर्वोक्तानां पक्षाणामशक्तौ। अंततस्त्रिरात्रं ब्रह्मचर्यनियमो भवत्येव। अयं संवत्सरादिनियमस्तु चतुर्थी कर्मोत्तरं ततः

---

१ ऽहोत्रपरो०-स

२ वधूवरो-स

३ शय्याताम्-स,ग

४ निर्वृति-स

५ कालः - स; *याज्ञ. स्मृ.*, आचारा. विवाह. ३.७६ "अतो यत्र यत्र ब्रह्मचर्यं श्राद्धादौ चोदितं तत्र गच्छतोऽपि न ब्रह्मचर्यस्खलनदोषोऽस्ति" इति मिताक्षराकारः। अपि च द्रष्टव्यम् - *मनु.* ४.१५५

६ अंतता-स

प्राग्भार्यात्वाऽसिद्धेः। किमेते नियमा विवाहदिनतः किं वा चतुर्थी[1]कर्मण इति किमत्र युक्तम्। चतुर्थीकर्मणः। कुतः। तत्प्राग्भार्यात्वानुत्पत्तेः। न वा। सूत्रप्रवृत्तिसामर्थ्यात्। एवं हि सूत्रप्रवृत्तिः समर्थिता भवति। विरोधादंत्ये[2] तत्कर्मण इति चेन्न। तुल्यशास्त्रत्वात्। तत्कर्मशेषे रात्रौ वोभयसामर्थ्यात्।

शांखायन[3]सूत्रे विशेषः। त्रिरात्रं ब्रह्मचर्यं चरेयाताम्। अधः शयीयाताम्[4]। दध्यौदनं[5] संभुञ्जीयातां पिबतञ्च तृष्णुतञ्चेति तृचेन। तथा दश[6]रात्रमिव प्रवास इति। अत्र पाणिग्रहणादारभ्यैते नियमा इति तद्भाष्ये। संवत्सरः ब्रह्मचर्यं चरतो द्वादशरात्रं[7] वेति **मानवे**[8]। **आश्वलायनसूत्रे**[9] विशेषः। "ब्राह्मण्याश्च वृद्धाया जीवपत्न्या[10] जीवप्रजाया अगार एतां रात्रीं वसेदिति[11]। तथा। "अत ऊर्द्ध्वमक्षारालवणाशिनावधःशायिनौ ब्रह्मचारिणौ स्याताम्। त्रिरात्रं द्वादशरात्रं सम्वत्सरमेक"[12] इति। **छन्दोग[13]सूत्रे**। " तावुभौ तत्प्रभृति[14] त्रिरात्रमक्षारा[1]लवणाशिनौ ब्रह्मचारिणौ[2] भूमौ सह

---

१ चतुर्थीकर्त्तव्य कर्मण-स

२ दंत्यो- स

३ *शां.गृ.सू.* १.१७, ५,७,१०

४ शयीयांता-स

५ 'दध्योदनं' केचित् पठन्ति

६ दशरात्रमविप्रवासः-शां.गृ.सूत्रे पाठः

७ त्रिरात्रमेकरात्रं वा इत्यधिकः मानवे

८ *मानव गृ.सू.* १.१४.१४.

९ *आ.गृ.सू.* १.७.२१

१० नास्ति- स- मातृकायाम्। जीवपप्रजाया - स

११ प्रतिश्रयेत् - आ.गृह्ये।

१२ ऋषिजार्यत इत्यधिकः आ. गृह्ये। व्रतचर्यया ऋषिकल्पः पुत्रो जायत इति भावः।

१३ *गो.गृ.सू.* २.३.१५-१८

१४ तत्प्रति-ग, ता प्रति-स

शयीयाताम्। अत्रार्घ्यमित्याहुः[३]। आगते[४]ष्वित्येके। हविष्यमन्नं प्रथमं परिजपितं भुञ्जीतेति। तस्माद्विवाहकर्मणस्त्रिरात्रम्। त्रीण्यहोरात्राणि सज्जीकादिक्षाररहितं सैन्धवादिलवणरहितमलवणमक्षारं च तदलवणं चाक्षारालवणं तदशिनौ[५] स्वभोजनकाले। ब्रह्मचारिणाविति।

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।

त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः[६]।।

इत्येतस्मिन्पक्षे मिथुनस्यापि संभवाद्विवाहोत्तरकालं च प्राप्तत्वात्प्रतिषेधः क्रियते। भूमाविति खट्वाप्रतिषेधार्थं न स्रस्तरकम्बलादीनामपीति। सहेत्येकस्रस्तरनियमार्थम्। एवं शयीयातामिति तद्भाष्ये[७]। अत्र विवाहे ब्राह्मण्या सह भोजनमभ्यनुज्ञातम्। यदाहांगिराः।

ब्राह्मण्या सह योऽश्नीयादुच्छिष्टं वा कदाचन।

न तत्र दोषं मन्यन्ते सर्व एव मनीषिणः। इति

एतद्विवाहविषयमापद्विषयं वेति मिताक्षराकारः।

स्मृत्यर्थसारे।

---

१ ०मक्षारलवणाशिनौ-गोभिलगृह्ये। त्रिरात्रमक्षा-स। "गोक्षीरं गोघृतञ्चैव धान्यं मुद्गास्तिला यवाः। अक्षारलवणा ह्येते क्षाराश्चान्ये प्रकीर्त्तिताः"।। इति स्मृतौ। "अयुक्तमम्ललवणैरपर्य्युषितमेव च। हविष्यमेतदन्नाद्यमसुरैश्चाप्य-संयुतम्" इति गृह्यासंग्रहे।

२ ब्रह्मचर्यमिह व्यवायवर्ज्जनमुच्यते। विवाहस्य वृत्तत्वात् व्यवायः प्राप्नोति। वैदेहेषु च सद्य एव व्यवायो दृष्टः। सोऽयमिदानीं प्रतिषिध्यते इति भाष्यकारः।

३ कन्यापित्रा वरस्य अर्हणं कर्त्तव्यम्

४ विवाहार्थमागतमात्रेष्वेवार्हणं कर्त्तव्यमिति।

५ तदर्शिनौ-स

६ *मनुस्मृ.*, ९.९४; त्रिंशद्वर्षो वहेत् .... अष्टवर्षोऽष्टवर्षा .... सीदति सत्वरम् इति ग–स मातृकयोः पाठः। गार्हस्थ्यधर्मेऽवसादं गच्छति त्वरावान् इति कुल्लूकः।

७ "खट्वाव्युदासार्थोऽयमधः शब्दो नास्तरणव्युदासार्थः इति कर्काचार्याः।

विवाहे दम्पती स्यातां त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणौ।
अलंकृतावधश्चैव सह शय्यासंनाशनौ।
अधर्म्येषु विवाहेषु ताम्बूलमनुमोदनम्।
वाहनं भोजनं चैव वर्जयेत्सर्वथा द्विजः
आसुरे तूपवासः स्याद्गान्धर्वे तु त्रिरात्रकम्।
राक्षसे चैव पैशाचे कार्यं चान्द्रायणं तथा। इति

इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठकश्रीरामचन्द्रसूनुमहायाज्ञिकश्रीगंगाधरकृतायां पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तौ प्रथमकाण्डेऽष्टमी कण्डिका ।।८।।



।। नवमी कण्डिका ।।

मूलम् - *उपयमनप्रभृत्यौपासनस्य परिचरणम्।।१।। अस्तमितानुदितयोर्दध्ना तंडुलैरक्षतैर्वा।।२।। अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति सायम्।।३।। सूर्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति प्रातः।।४।। पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ। पुमानिन्द्रश्च सूर्यश्च पुमाꣳसं वर्त्ततां मयि पुनः स्वाहेति पूर्वां गर्भकामा।।५।। (९)*

गृह्यस्थालीपाकानां कर्मेति गार्ह्यं कर्मोपक्रान्तम्। तत्रावसथ्याधानं दारकाले इत्यनेन दारकाले गृह्याग्नेराधानं विधाय षडर्घ्या भवन्तीत्याद्यस्तमिते ध्रुवं दर्शयतीत्यन्तेन विवाहकर्म परिसमाप्यास्तम[1]योत्तरं ध्रुवदर्शनानन्तरं क्रमप्राप्तं गृह्याग्नेः परिचरणमाह।

।।श्रीः।। उपयमनप्रभृत्यौपासनस्य परिचरणम् (१.६.१)।।

उपयमनप्रभृत्युपयमनान्कुशाना[2]दायेत्यारभ्यौपासनस्यावसथ्यस्य गृह्याग्नेः परिचरणं कर्त्तव्यमिति शेषः। परिचरणमिति संज्ञा संव्यवहारार्था। ततोऽस्तमितेऽस्तमितेऽग्निं परिचर्येत्यादौ। एतत्परिचरणं नित्यमावसथ्याधानादारभ्य यावज्जीवं कर्त्तव्यम्। "[3]ततोऽस्तमितेऽस्तमितेऽग्निं परिचर्य दर्व्योपघातꣳ सक्तून्त्सर्पेभ्यो बलिꣳ हरेदिति बलिहरणविधिपरे वाक्ये परिचरणस्य नित्यत्वदर्शनात्। उपयमनप्रभृतिग्रहणमितरेषां सन्निपत्योपकारकाणामारादुपकारकाणां च परिसंख्यार्थम्। तेन परिसमुह्येत्याम्नातस्याघारावित्याद्येतन्नित्यꣳ सर्वत्रे[4]त्येतस्य चाज्यहोमस्य निवृत्तिः। ब्रह्मणोऽभावात् "पूर्णपात्रो दक्षिणा वरो वे"त्यस्यापि निवृत्तिः। जुहोतीति वक्तव्ये परिचरणग्रहणं

---

१ ०स्तमत्योत्त० –स

२ पयमनान्कुशानान्कुशानामेत्या०-स

३ *पा.गृ.सू.* २.१४.२२ कर्कभाष्ये, पृ. ११०

४ *पा.गृ.सू.* १.५.३–५ अपि च द्र. *का.श्रौ.सू.* ६.१०.३४

होमसाधनस्रुवस्यापि परिसंख्यार्थम्। अतश्च हस्ते[1]नैवाहुतिप्रक्षेपः। द्रव्यसंस्काराश्च न। हस्ते प्रतपनादयः संस्कारा अपि न भवन्ति। परिसंख्यातत्वादेव। महाव्याहृतिसंयोगात्स्विष्टकृद्धोमोऽपि न प्रवर्त्तते। अत्र भर्तृयज्ञपादाः। उपयमनप्रभृतीति परिसंख्यातत्वादाज्यस्य परिभाषिता आहुतयो न भवन्ति। तदभावे च स्विष्टकृदपि न भवति महाव्याहृतिसंयोगात्। ऊर्ध्वं प्रधानात्स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविरिति सिद्धे महाव्याहृतिसंयोगादयमर्थः। कथं नाम यत्र महाव्याहृतयस्तत्रैव स्विष्टकृत्स्यात्प्राक्ताभ्यो न यत्र सन्ति तत्र निवृत्तिः। हस्तेनैव च होमः स्रुवस्य परिसंख्यातत्वात्। अक्षतपक्षे न शेषप्राशनम्। अनदनीयत्वात्[2]। दधिपक्षे तण्डुलपक्षे च न प्रतिषेध इति। अत्र कर्काचार्याः[3]। होमेऽपि च सति परिचरणग्रहणादितिकर्त्तव्यता न भवति इत्युक्त्वा हस्तेनैवात्र होमः इति कर्त्तव्यताव्युदासात्। "व्युदासः[4] कथमिति चेत् उपयमन-प्रभृतीत्युक्तत्वादित्याहुः। तत्र परिचरणग्रहणादितिकर्त्तव्यता न भवतीति यद्व्याख्यातं तन्न युक्तम्। उपयमनप्रभृतीत्यनेनेतिकर्त्तव्यताव्युदासस्य सिद्धत्वात्। यच्चार्यपादैरुक्तं दधिपक्षे स्रुवस्य प्रतपनम्। सम्मार्गश्च संस्रवपात्रस्थापनम्। स्रुवेण होमः पूर्ववत्। संस्रवप्रक्षेपः। हुत्वा संस्रवप्राशनमिति। तच्च दध्नो द्रवद्रव्यत्वाद्धस्तेन होमस्यासामर्थ्याशाखान्तराच्च। तदुक्तं कात्यायनेन[5]।

''होमपात्रमनादेशे द्रवद्रव्ये स्रुवः स्मृतः। पाणिरेवेतरस्मिन्निति।

---

१ हस्तेनैधाहुः - स

२ "दधिपक्षे तण्डुलपक्षे च शेषप्राशनम् अक्षतपक्षे त्वभावः, अनदनीयत्वादिति भर्तृयज्ञः" इति गदाधरः *पा.गृ.सूत्रभाष्ये*, पृ. ११४

३ *स्मार्तसूत्रव्याख्यायाम्*, पृ.११०

४ कर्काचार्याः स्मार्तसूत्रव्याख्यायाम्।

५ *गो.गृ.भाष्ये* १.२.६ ''पाणिरेवेतरस्मिन्स्तु स्रुचा चात्र न हूयते इति। *कात्या. स्मृतौ* ८.११'' स्रुचैवात्र तु हूयते'' इति।।

तथा च **छन्दोगसूत्रे**[१]।'' अथ यदि दधि पयो यवागूं वा कंसेन वा चरुस्थाल्या वा स्रुवेण वैवेति। **आश्वलायनकारिकायाञ्च।**

द्रवं हविः स्रुवेणैव पाणिना कठिनं हविः।

जुहुयादग्नये स्वाहा सुसमिद्धे हुताशने।

ध्यात्वा शब्दं चतुर्थ्यन्तं प्रजापतय इत्यथ।

स्वाहाकारेण जुहुयात्ततः परिसमूहनमिति।

शाङ्खायनगृह्यकारिकायाम्।

असंस्कृते च कठिने पाणिहोमो जुहोतिषु।

पाणिना जुहुयाद्धाना इति सूत्रेण दर्शितम्। इति

केचिद्दध्नः संघातादित्यद्रवत्वान्नैवाऽक्षेपतः स्रुव इत्याहुः। एतच्च दारकाले आधानपक्षे ध्रुवदर्शनानन्तरं प्रवर्त्तत एव। पाठक्रमात्सन्दंश-पतितत्वाच्च। सर्वशाखान्तरसूत्रे एवमेव दृष्टत्वात्। तथा च **शाङ्खायनः**[२]। ''ध्रुवं पश्यामि प्रजां विन्देयेति[३] ब्रूयात्। त्रिरात्रं ब्रह्मचर्यं चरेयाताम्। अधः शयीयाताम्। दध्यौदनं संभुञ्जीयातां पिबतञ्च तृप्णुतं चेति[४] तृचेन। सायंप्रातर्वैवाह्यमग्निं परिचरेयातामग्नये स्वाहाऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति। पुमान्सौ मित्रावरुणौ पुमासांवश्विनावुभौ। पुमानिन्द्रश्चाग्निश्च पुमांसं वर्द्धतां मयि स्वाहेति पूर्वां गर्भकामा। दशरात्र[५]मिव प्रवासोऽथ चतुर्थीकर्मेति। [६]**आश्वलायनसूत्रे**प्येवम्। [७]सूर्याविदे वधूवस्त्रं दद्यात्। अन्नं

---

१ *गो. गृ. सू. १. ३. ८*

२ *शां.गृ.सू.* १.१७.४-१०

३ विन्दयेति-शां.गृह्ये।

४ तेति-ग. स.

५ दशरात्रमविप्र.-शां.गृह्ये।

६ *आ.गृ.सू.* १.८.१२-१४;१.६.१-३

७ चरितव्रतः सूर्याविदे-आ.गृह्ये पाठः।

ब्राह्मणेभ्यः। अथ स्वस्त्ययनं वाचयीत। [1]पाणिग्रहणादिगृह्यं परिचरेत्स्वयम्। पत्न्यपि वा। पुत्रः कुमार्यन्तेवासी वेत्यादि। परिचरणकालमाह।

।।श्रीः।। अस्तमितानुदितयोः (१.९.२.)।।

तदौपासनाग्नेः परिचरणमस्तमिते सूर्येऽनुदिते च कर्त्तव्यम्। अस्तमितं चानुदितं चास्तमितानुदिते तयोः। अस्तमितोत्तरावधिरुक्तश्छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनेन[2]।

यावत्सम्यङ् न भाव्यन्ते नभस्यृक्षाणि सर्वतः।

[3]न च लोहितिमापैति तावत्सायञ्च हूयत[4] इति।

अनुदितस्य द्वैविध्यम्। अनुदितः समयाध्युषितश्च। तथा च मनुः[5]।

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।

सर्वथा वर्त्तयेद्यज्ञ[6] इतीयं वैदिकी श्रुतिरिति।

अनुदितसमयाध्युषितलक्षणमाह कात्यायनः।

रात्रेः षोडशगे भागे ग्रहनक्षत्रभूषिते।

कालं त्वनुदितं ज्ञात्वा होमं कुर्याद्विचक्षणः।

तथा प्रभातसमये नष्टनक्षत्रमण्डले।

रविर्यावन्न दृश्येत समयाध्युषितञ्च तत्। इति

---

१ *आ. गृ.* १.९.१. "पाणिग्रहणमादिर्यस्य तदिदं पाणिग्रहणादि। .... यावन्नोपशाम्येत गृह्योऽग्निस्तावत् परिचरणं स्यात्। ... तत्र गृहसंयोगादस्य गृह्य इत्येषा संज्ञा भवति। एतत्परिचरणं सहोमकमेके मन्यन्ते। अन्ये पुनर्लौकिकमेवेच्छन्ति इति देवस्वामिभाष्ये।

२ *कात्या. स्मृ.* ९.३ न च लौहित्यमापैति तावत्सायञ्च हूयते

३ "लोहितत्वं च नोपैति" इति पाठः गदाधरभाष्ये

४ 'तु हूयते' इत्यपि पाठः। हूयंते– ग

५ *मनुसंहिता-* २.१५.

६ "वर्त्तते यज्ञ "इति "वर्तते यज्ञ इत्यर्थो" इति च केचित् पठन्ति।

शाखान्तरे तूदितहोम उक्तः स तु तेषामेव। अस्माकं त्वनुदित एव। सूर्यो ह वा अग्निहोत्रमित्युपक्रम्य तस्मादुदितहोमिनां विच्छिन्नमग्निहोत्रं मन्यामह इत्युदितहोमनिन्दापूर्वकमनुदितहोमसमर्थनात्। अहुतोदये प्रायश्चित्तविधानाच्च। उदितलक्षणं यथा।

रेखामात्रश्च दृश्येत रश्मिभिश्च समन्वितः।

उदितं तं विजानीयात्तत्र होमं प्रकल्पयेदिति।

अत्र परिचरणात् पूर्वमग्नेः प्रादुष्करणं तत्कालश्च **छन्दोगपरिशिष्टे** कात्यायनेनोक्तः[१]।

सूर्येऽस्तं शैलमप्राप्ते षट्त्रिंशद्भिः सदाङ्गुलैः।

प्रादुष्करणमग्नीनां प्रातर्भासाञ्च दर्शनादिति।।

''तस्याग्निहोत्रेण प्रादुष्करणहोमकालौ व्याख्याताविति**त्याश्वलायनः**[२] अपराह्णे प्रादुःकरणमित्या**श्वलायनः**। **तत्कारिकायाञ्च** ज्वलयेदपराह्णेऽग्निमिति। शांखायनः[३]। ''**तस्य प्रादुष्करण**-[४]**होमकालावग्निहोत्रेण व्याख्याताविति''**। पुरा छायानां संसर्गात्प्रभात्यां प्रातरिति **शाङ्खायनसूत्रो**क्तेः। प्रादुःकरणं प्रगटीकरणं प्रज्वालनमित्यर्थः। **शाङ्खायनकारिकायाम्**।

तस्येत्यौपासनस्याग्नेः प्रादुःकरणहोमयोः।

कालमात्रानुवादोऽयं कल्पैक्यादग्निहोत्रतः।

उत्तरेणापि सूत्रेण कालयोराप्तिरिष्यते।

पृथक् सूत्रात्कर्मणोस्तद्व्रतोपस्थानवर्जनम्।

छायासंसर्जनात्प्राक्तु प्रादुष्करणमिष्यते।

---

१ *कात्यायनस्मृतिः* ६.१

२ *आ. गृ. सू.* १.६.६.

३ *शां. गृ. सू.* १.१.१२.

४ 'हवनकाला' इति *शां. गृह्ये*

प्रातः प्रभात्यां च रात्र्यां होमकालो यथा श्रुतेः।

सायमस्तमिते कालस्तमसश्च पुरागमात्।

प्रातः सूर्योदयाद्धोमो ध्वस्ते तमसि सर्वदा। इति

अत्र प्रसंगात्सकलनित्यनैमित्तिककर्मोपयोगितया मुख्यकालातिक्रमे गौणकालो निरूप्यते। तत्र तावद्गोभिल[1]**सूत्रे**। अथ यदि गृह्येऽग्नौ सायंप्रातर्होमयो[2]र्दर्शपूर्णमासयोर्वा हव्यं[3] होतारं वा नाधिगच्छेत्कथं कुर्यादिति। आसायमाहुतेः प्रातराहुतिर्नापेत्या[4]ऽऽप्रातराहुतेः सायमाहुतिरामावास्यायाः पौर्णमासं नापे[5]त्याऽऽपौर्णमास्या आमावास्यामिति''। **निदानसूत्रेऽपि**। सर्वमहः प्रातराहुतेः संस्थानं सर्वा रात्रिः सायमाहुतेः पूर्वपक्षो दर्शस्य कृष्णपक्षः पौर्णमासस्येति। **छन्दोगपरि**[6]**शिष्टे** कात्यायनोऽपि।

स्वकाले सायमा[7]हुतेरप्राप्तौ होतृहव्ययोः।

प्राक्प्रातराहुतेः कालः प्रायश्चित्ते हुते सति।

प्राक् सायमाहुतेः प्रातर्होमकालाऽनतिक्रमः।

प्राक्पौर्णमासाद्दर्शस्य प्राग्दर्शादितरस्य तु। इति

अतएवाह त्रिकाण्डमण्डनः।

मुख्यकाले यदावश्यं कर्म कर्त्तुन्न शक्यते।

गौणकालेऽपि कर्त्तव्यं गौणोप्यत्रेदृशो भवेत्। इति

---

१ *गो. गृ. सू. १.६.१३-१४.*

२ ०होमयोर्वा दर्श०- *गो. गृह्ये* पाठः

३ हव्यं वा - *गो. गृह्ये.*

४ ० नात्येत्या० *गो० गृह्ये*

५ नात्येत्या०- *गो. गृह्ये* . . . वास्यमिति– ग, स

६ *कात्या. स्मृ. २७.७-८*

७ सायमाहुत्या- *का. स्मृतौ* पाठः

तथा स एवाह होमे।

आसायमाहुतेः कालात्कालोऽस्ति प्रातराहुतेः।

प्रातराहुतिकालात्प्राक्कालः स्यात्सायमाहुतेः।

पक्षादिषु।

पौर्णमासस्य कालोऽस्ति पुरादर्शस्य कालतः।

पौर्णमासस्य कालात्प्राग्दर्शकालोऽपि विद्यते।

नवप्राशने।

श्यामाकैर्व्रीहिभिश्चैव यवैरन्योन्यकालतः।

प्राग्यष्टुं युज्यतेऽवश्यं न त्[1]वत्राग्रयणात्ययः।

अन्यत्रापि।

एवमागामियागीयमुख्यकालादधस्तनः।

स्वकालादुत्तरो गौणः कालः पूर्वस्य कर्मणः।

यद्वागामिक्रियामुख्यकालस्याप्यन्तरालवत्।

गौणकालत्वमिच्छन्ति केचित्प्राक्तनकर्मणि।

गौणेष्वेतेषु कालेषु कर्म चोदितमाचरेत्।

प्रायश्चित्तप्रकरणे प्रोक्तन्निष्कृतिमाचरेत्।

प्रायश्चित्तमकृत्वा वा गौणकाले समाचरेत्।

नित्येष्टिमग्निहोत्रं च भारद्वाजीयभाष्यतः। इति

नित्येष्ट्यग्निहोत्रशब्दौ पक्षादिकर्मौपासनहोमयोरप्युपलक्षकौ। तथा स एव।

मुख्यकाले हि मुख्यं चेत् साधनन्नैव लभ्यते।
तत्कालद्रव्ययोः कस्य मुख्यत्वं गौणतापि वा ।

---

१ नैव त्वाग्रयणात्ययः- *गोभिलगृह्यभाष्ये* पाठः।

मुख्यकालमुपाश्रित्य गौणमप्यस्तु साधनम्।
न मुख्यद्रव्य[1]लोभेन गौणकालप्रतीक्षणम् इति।

कारिकायाम्।

मुख्यकाले यदा न स्यात्पौर्णमासः कथञ्चन।
कृत्वा नादिष्टमादर्शात्कर्त्तव्यो यत्र कुत्रचित्।
न चेत् प्राग्दर्शात्सः स्याद्दर्शेन सह तत्क्रिया।
तत्राज्यभागसंयाज्ये दार्शिके तत्प्रधानतः।
तन्त्रेणाङ्गानि भेदेन प्रधानानि भवन्ति च।
यदि दर्शोऽप्यतिक्रान्तस्तदा पाथिकृती भवेत्
एवं दर्शोऽतिपन्नः प्राक्पौर्णमासान्न चेत्कृतः।
पितृयज्ञं विना सोऽपि कर्त्तव्यो यत्र कुत्रचित्।
न पौर्णमासतन्त्रं स्याद्दर्शो भिन्नप्रयोगतः।
पौर्णमासेऽप्यतिक्रान्ते प्रतिपत्तिः पथिकृत्तदा। इति

पाथिकृतीष्टिराज्यभागसंयाज्ययोर्विशेषश्चाहिताग्नेः। अनाहिताग्नेरित्त्वष्टिस्थाने चरुरेव सर्वत्र। य एवाहिताग्नेः पुरोडाशास्त एवानाहिताग्नेश्चरव इत्युक्तत्वात्। अमावास्यायां पिण्डपितृयज्ञास्याऽकरणे विशेषस्तत्रैव।

पितृयज्ञः स्वकाले स्यादभावाद्गौणकालतः।
न चेत्सम्पद्यते तत्र प्रायश्चित्तं भवेन्न स। इति

छन्दोगपरिशिष्टे कात्यायनो[2]ऽपि।

---

१ लाभेन – *म. पारि*–२, १८५ (मण्डनमिश्रमहाभागानाम् इति)

२ *गोभिलस्मृतिः*, स्मृतीनां समुच्चयः, आनन्दाश्रम, १९२६ २.१५०-१५१

परेणाग्नौ हुते स्वार्थं परस्याग्नौ हुते स्वयम्।

पितृयज्ञात्यये चैव वैश्वदेवद्वयस्य च।

अनिष्ट्वा नवयज्ञेन नवान्नप्राशने[1] तथा।

भोजने पतितान्नस्य चरुर्वैश्वानरो भवेत्। इति

अतः पितृयज्ञलोपे वैश्वानरश्चरुः प्रायश्चित्तमात्रमेवोक्तं न दिनान्तरे पितृयज्ञो गौणकालभावादेव। आहिताग्नेस्तु चरुस्थाने वैश्वानरेष्टिरेव। यत्तु **प्रायश्चित्ताध्यायस्य देवयाज्ञिकपद्धतौ –**

कालातीतेषु सर्वेषु प्राप्तवत्स्वपरेषु च।

कालातीतानि कृत्वैव विदध्यादुत्तराणि च।

इत्यभिधाय

पक्षादिः पिण्डयज्ञादि प्रमादादकृतं यदि।
प्रायश्चित्तं ततो हुत्त्वा कर्त्तव्यं तद्दिनान्तरे।
लुप्ते कर्मणि सर्वत्र प्रायश्चितं [2]विनिर्द्दिशेत्।
प्रायश्चित्ते हुते पश्चान्नित्यं कर्मविधीयते।

इति पिण्डपितृयज्ञस्यापि प्रायश्चित्तपूर्वं दिनान्तरे कर्त्तव्यविधानं तस्यायमर्थः। यदि मुख्यकाले प्रमादात्पक्षादिकर्माऽकृतं ततस्तदा दिनान्तरे गौणकाले प्रायश्चित्तं हुत्त्वा तत्कर्त्तव्यम्। एवमादिशब्दात्पिण्ड-पितृयज्ञवैश्वदेवौ प्रागुक्तौ कात्यायनोक्तावकृतौ तदाऽकरणनिमित्तं यथोक्तं प्रायश्चित्तं तन्मात्रं कर्त्तव्यं न तु तौ दिनान्तरे कार्यौ गौणकालाभावादेवेत्यविरोधः।

वैश्वदेवे प्रजापतिः।
अकृते वैश्वदेवे चेदस्तमेति गभस्तिमान्।
वैश्वदेवं ततः कृत्त्वा सायं होमं समाचरेत्। इति

---

१ "प्राशनेन च" इति *गोभिलस्मृतौ*

२ विनिद्दिशेत्. ग. स.

नैमित्तिकस्य तु निमित्तापाते तत्कालो मुख्यकालः। तदुक्तं कात्यायनेन।[1] [2]**"कर्मोपपाते प्रायश्चित्तं तत्कालमिति"।**

अत्रान्ये विशेषास्तु **प्रायश्चित्ताध्यायदेवभाष्ये** तत्पद्धतौ **त्रिकाण्डमण्डनकारिकायां** मत्कृते **पर्वनिर्णिये** चाऽवगन्तव्या विस्तरापत्तेरुपरम्यते। एवं प्रासंगिकमुक्त्वा प्राकृतमुच्यते। एवं परिचरणकालमभिधाय द्रव्यदेवतयोः कर्मरूपत्वात्तत्र तावद्द्रव्यमाह।

।।श्रीः।। दध्ना तण्डुलैरक्षतैर्वा (१.६.२)।।

वा शब्दः प्रत्येकं द्रष्टव्यः। दध्ना वा तण्डुलैर्वाक्षतैर्वा सायं प्रातः परिचरणं होमः कर्त्तव्य इति। दधि प्रसिद्धम्। तच्च गव्यमेव। तण्डुलाश्च व्रीहिश्यामाकयवादयस्त्वग्रहिता उच्यन्ते तैर्होमः कर्त्तव्यः। तदुक्तम्।

व्रीहिश्यामाकनीवारा यवगोधूमशालयः।

एतेषां तण्डुला होम्या यावनालाः प्रियंगवः।।

इति। अक्षतास्त्वकण्डिता यवा एव। "अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ता"[3] इति कात्यायनोक्तेः। **आथर्वणसूत्रे**। सायं प्रातर्व्रीहीनावपेद्यवान्वाग्नये स्वाहेत्यादि। एतच्च परिचरणं सायमादिप्रातरपवर्गकमेकमेव कर्म। तदुक्तम्।

सायमादिप्रातरन्तमेकं कर्म प्रचक्षते।

पौर्णमासादिदर्शान्तमेकमेव मनीषिणः । इति

तेन सायंकाले येन द्रव्येण होमः कृतः प्रातस्तेनैव होमः कर्त्तव्यः कर्मैक्यात्। तदुक्तम्।

---

१ *का. श्रौ. सू.* २५. १. १.

२ कर्मोपपाते अकरणे, न्यूनकरणे, अतिरिक्तकरणे अयथाकरणे इत्येवं कर्मणः विनाशे सति तत्कालमेव प्रायश्चित्तानुष्ठानं करणीयम्।

३ ... भ्रष्टा धाना भवन्ति ते। भ्रष्टास्तु व्रीहयो लाजा घटाः खाण्डिक उच्यते। *कात्या. स्मृ.* २८.१. 'षण्डिक' इति *गोभिलस्मृतौ*, ३.१३३

सायं होमेषु यद्द्रव्यं प्रातर्होमेषु तद्भवेत्।

भिन्नद्रव्यहुतं यस्य चाहुतं तस्य तद्भवेत्। इति

अतश्च सायं दध्ना होमे कृते प्रातर्यदि दध्यभावस्तदाऽश्रुतेन माहिष्येणाऽजेन वा दध्ना दधि सदृशेन पयसा वा दधि प्रतिनिधित्वेन होमः कर्त्तव्यो न श्रुतैस्तण्डुलैरक्षतैर्वा। द्रव्यभेदेन कर्मान्यत्वात्। तदुक्तम्। नियते सामान्यतः प्रतिनिधिः स्यात्। विकल्पे प्रवृत्तं कर्मान्तरत्वादिति च। सायंकाले होमसंकल्पे कृते द्रव्यनाशदोषादावेवमेव। सायंकाले दधिद्रव्यके विहितान्यद्रव्यके वा होमसंकल्पे कृते सति च तस्मिन्द्रव्ये भ्रमात्तत्सदृशद्रव्येणाश्रुतेन श्रुतेन वा द्रव्यान्तरेण यागे कृते प्रायश्चित्तपूर्वकं साङ्गस्य कर्मणः संकल्पितश्रुतद्रव्येणवृत्तिः। मुख्यद्रव्याभावे प्रतिनिधिना यागे प्रारब्धे प्रधानयागात्प्राङ्मुख्यद्रव्यलाभे मुख्यद्रव्येणैवानुष्ठानम्। प्रधाने निर्वृतेनावृत्तिः। इदं विस्तरतः **साधारणाध्यायतो** ज्ञातव्यम्। [1]**छन्दोगसूत्रे** तु विशेषः।

अथ हविष्यस्याग्नौ जुहुयात्कृतस्य वाऽकृतस्य वा। अकृतञ्चेत्प्रक्षाल्य जुहुयात्प्रोदकं कृत्वा। अथ यदि दधि पयो यवागूं वा कंसेन वा चरुस्थाल्या वा स्रुवेण वै वेति।

हविष्यं तु **छन्दोगपरिशिष्टे** [2]कात्यायनः।

हविष्येषु[3] यवा मुख्यास्तदनु व्रीहयः स्मृताः।

माषको द्रवगौरा[4]दिसर्वालाभे [5]विवर्जयेत्। इति

---

१ *गो. गृ. सू.* १.३.६-८ "हविष्यस्यान्नस्य०" इति पाठभेदः।

२ *कात्या. स्मृ.* ६.१० द्रष्ट. मदनपारिजातः स्त. ३., पृ. ३१४

३ हविष्ये तु-मदनपारिजाते पाठः।

४ गौरादीन्-मदनपारिजाते पाठः।

५ सर्वालाभेऽपि वर्जयेत् इति कात्या. स्मृतौ

गौरागोआर इति गूर्जरदेशे प्रसिद्धाः। "गौराःगौरसर्षपा" इति [1]**मदनपारिजात**कारः। कृताऽकृतलक्षणं च तत्परिशिष्ट एव।

कृतमोदनसक्त्वादि तण्डुलादिकृताकृतम्।

व्रीह्यादि चाकृतं प्रोक्तमिति हव्यं त्रिधा बुधैः। इति

प्रक्षालनं च त्रिः कर्त्तव्यम्। त्रिर्देवेभ्यः प्रक्षालयेदित्याहुरिति तत्सूत्रे आम्नातत्वात्। हविष्यपक्षे पाणिनैव होमः।

[2]**होमपात्रमनादेशे द्रवद्रव्ये स्रुवः स्मृतः।**

पाणिरेवेतरस्मिंस्तु स्रुचैवात्र तु हूयते। इति

वचनादिति तद्भाष्यकारः। **आश्वलायनसूत्रे**[3] "हौम्यं च मांसवर्जं कामं तु व्रीहियवतिलैरिति"। तत्**कारिकायाम्।**

पयः प्रभृतिषु त्वेकं संस्कुर्यादग्निहोत्रवत्।

अलंकरोति पुष्पाद्यैरनलायतनं बुधः।

द्रवं हविः स्रुवेणैव पाणिना कठिनं हविः।

जुहुयादित्यादि।

आहुतिपरिमाणं तु **छन्दोगपरिशिष्टे** [4]कात्यायनेनोक्तं यथा–

पाण्या[5]ऽहुतिद्वादशपर्वपूरिका कंसादिना चेत्स्रुवपूर[6]मात्रिका।

---

१ *मदनपारिजातः*। स्त० ३., पृ. ३१४

२ *कात्या. स्मृ.* ८.११; द्रव्यद्रव्ये – ग. स.

३ *आ.गृ.सू.* १-६.७-८

४ *कात्या. स्मृ.* ६.११

५ पाण्याहूतिर्द्वादशपर्वपरिका - *कात्या. स्मृतौ*

६ स्रुवमात्रपावका - *कात्या. स्मृतौ*

दैवेन तीर्थन च हूयते हविः स्वङ्गारिणि स्वर्चिषि तच्च पावके। इति **स्मृत्यर्थसारे** तु विशेषः[1]।

व्रीहीणाञ्च यवानाञ्च शतमाहुतिरिष्यते।

व्रीहिवदेव तण्डुला अपि।

यद्वा धान्यं[2] चतुःषष्टिराहुतेः परिकीर्त्तितम्।

तिलानान्तु तदर्द्धं स्यात्तदर्द्धं स्याद्घृतस्य तु। इति

"यावति प्रदेशे उक्तसंख्य[3]कास्तिलास्तिष्ठन्ति, तदर्द्धदेशव्यापिघृतमाहुतौ भवतीत्यर्थ" इति **मदनपारि[4]जात**कारः। **शाङ्खायनसूत्रे[5]**।

नित्याहुत्योर्व्रीहियवतण्डुलानामन्यतमद्धविः कुर्वीत। अभावेऽन्यदप्रतिषिद्धम्। तण्डुलांश्चेत्प्रक्षाल्यैक इतरेषामसंस्कार इति। **शाङ्खायनकारिकायाम्।**

अत्राग्निहोत्रहोमेन कर्मप्रकरणैक्यतः।

कल्पैक्यं स्यात्पर्वान्ते त्रयोपात्तमपि यन्न तत्।

अथा स्युः पय आदीनि तत्र व्रीह्यादि चात्र तु।

मुख्यत्वेन त्रयं त्वन्यत्प्रतिषिद्धमयज्ञियम्।

तिलमुद्गमसूरांस्तु मुक्त्वा शैव्यन्नायज्ञियम्।

सस्यं प्रियंगुश्यामाकगोधूमा एव शौकके।

---

१ द्रष्टव्य': *मदनपारिजातः* श्रीमदनपालविरचितः आसियिकसमित्या प्रकाशितः कलिकाता, १८६३, *म० पारि०* स्त० २, पृ. १७७

२ प्रस्थधान्यमिति *माधवीये* पाठः; "घृतस्य च" इति *म. पारि.*।

३ संख्यास्तिला० - र्द्धदेश० – ग.स.

४ द्वितीये स्तबके, पृ. १७७.

५ *शां. गृ. सू.* १.३.१०.-१३.

तथा–

तन्त्रान्तराच्च नियतं हविरिच्छन्ति केचन।

व्रीहिभिर्यवसिद्धेरायवैराव्रीहिसिद्धतः।

स्रुवैश्चतुर्भिरात्तं यत्पंचभिर्वा द्विधा कृतम्।

नित्याहुतिप्रमाणं तद्धविरर्द्धं तिलादिकम्। इति

स्मृत्यर्थसारे। अग्निं परिसमुह्य पर्युक्ष्याक्षतपुष्पैरलंकृत्य समिधं क्षिप्त्वा समिधं ह्यङ्गुलमतिक्रम्य देवायतनं संपूज्य हौम्यं देवतीर्थेन कायेन सौम्येन वा हुत्वा पुनः समिधं क्षिप्त्वोपस्थाय परिसमुह्य पर्युक्ष्य हुतशेषं ब्राह्मणाय दत्त्वा नमेत्।

पयो दधि यवागूश्च सर्पिरोदनतण्डुलाः।

सोमो मांसं तैलमापो दशैतान्यग्निहोत्रके।

स्यादग्निहोत्रवद्गृह्ये संस्कारो मंत्रवर्जितः।

यद्वा त्रिः प्रोक्षणं तेषां मांसमौपासनेन च।

श्यालिश्यामाकनीवारा व्रीहिगोधूमयावकाः।

एतेषां तण्डुला होम्या यावनालाः प्रियङ्गवः।

प्रियङ्गवः शालयश्च गोधूमा व्रीहयो यवाः।

स्वरूपेणापि होम्याः स्युः स्वरूपेणैव वै तिलाः।

द्रवं स्रुवेण होतव्यं पाणिना कठिनं हविरि[1]**ति।**

---

[1] "पयो दधि सर्पिर्यवागूरोदनं तण्डुलाः सोमस्तैलमापो व्रीहयो यवास्तिला इति होम्यानि, तण्डुला नीवारश्यामाकयावनालानां, व्रीहिशालियवगोधूमप्रियङ्गवः स्वरूपेणपि होम्याः, तिलाः स्वरूपेणैव। शतं चतुःशष्टिर्वाऽऽहुतिर्व्रीहितुल्यानां तदर्द्धं तिलानां तदर्द्धं सर्पिस्तैलयोः। तैलं च तिलजर्तिलातसीकुसुम्भानाम्। येन प्रथमां देवतां जुहुयात्तेनैव द्वितीयां जुहुयाद्येन च सायं जुहुयात्तेनैव प्रातरिति *प्रयोगरत्ने*। अत्र तेनैव प्रातरिति प्रतिनिधिवर्जम् इति *गदाधरभाष्ये*।

एवं द्रव्यमुक्त्वा कालव्यवस्थापूर्वकं देवतामाह।

।।श्रीः।। **अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति सायम्** (१.६.३)।।

सायंकालेऽस्तमिते सूर्येऽग्नये स्वाहेति पूर्वामाहुतिं जुहोति। प्रजापतये स्वाहेत्युत्तराम्।

।।श्रीः।। **सूर्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहेति प्रातः** (१.६.४)।।

प्रातरनुदिते सूर्ये। अत्र स्मार्त्तेषु स्वयं कर्त्तृत्वनियमात्स्वयं होमः। स्वयंकर्त्तृके त्यागाभाव इत्यार्यपादाः। वाचनिकत्यागाभाव इत्यर्थः। देवतोद्देशेन त्यक्तस्य स्वाहाकारान्तेन प्रक्षेपविधानात्। न ह्यत्यक्तस्य प्रक्षेपः कर्त्तुं युज्यते। मानसिकत्यागस्तु प्रवर्त्तत एव। संकल्पः कर्म मानसमित्युक्तेः। अन्यथारूपासिद्धेः। तदुक्तं **कारिकायाम्** –

आदौ द्रव्यपरित्यागः पश्चाद्धोमो विधीयते।
प्रयोग इदमिन्द्राय न ममेति यथार्थतः।
अवक्तुं तु त्यजेद्द्रव्यं मनसा वचसापि च।
ततश्च प्रक्षिपेदग्नावेष धर्मः सनातनः।
अत्यक्त्वा जुहुयाद्यस्तु मोहेनामोघमानसः।

देवा हव्यन्न गृह्णन्ति कव्यं च पितरस्तथा। इति

त्यागस्तु मनसैव। तस्य मानसिकत्वात्। वचसेति तु ब्रह्मादीनां प्रज्ञप्त्यर्थम्। अग्नाविति विहिताधिकरणोपलक्षणार्थम्। यदि च सूतक-प्रवासाशक्त्यादिना स्वयं होमाकरणासंभवस्तदा प्रतिनिधिना कारयेत्। वक्ष्यति ह्याचार्योऽन्य एतानि कुर्युरिति। तथा च स्मृतौ।

सूतके मृतके चैव चाशक्तौ श्राद्धभोजने।
एवमादिनिमित्तेषु हावयेन्न तु हापयेदिति[1]**।**

---

१ द्रष्ट. – *कात्या. स्मृ.* २४.४

सूतके च प्रवासेषु चाशक्तौ श्राद्धभोजने।
एवमादिनिमित्तेषु हावयेदिति योजयेत्।।

तथा –

सूतके तु समुत्पन्ने स्मार्त्तं कर्म कथं भवेत्।

पितृयज्ञं चरुं होममसगोत्रेण कारयेत्। इति

प्रतिनिधिनियमश्च स्मृतौ[1]।

यजमानः प्रधानः[2] स्यात्पत्नी पुत्रश्च कन्यका।

ऋत्विक् शिष्यो गुरुर्भ्राता भागिनेयः सुतापतिः।

एतैरेव हुतं यत्तु तद्धुतं स्वयमेव तु।

पत्नी कन्या च जुहुयाद्विना पर्युक्षणक्रियाम्। इति

तथा **षड्विंशब्राह्मणे[3]** विशेषः।

अन्यैः शतहुताद्धोमादेकः शिष्यहुतो वरम्।

शिष्यैः शतहुताद्धोमादेकः पुत्रहुतो वरम्।

पुत्रैः शतहुताद्धोमादेको ह्यात्महुतो वरमिति।

[4]**छन्दोगसूत्रे** तु विशेषः। कामं गृ[5]ह्याग्नौ पत्नी जुहुया[6]त्सायं प्रातर्होमौ गृहाः पत्नी गृह्य[7] एषोऽग्निर्भवतीति। **शाङ्खायनगृह्यकारिकायाम्।**

---

१ *स्मृत्यर्थसारे*। द्रष्ट. *मदनपारिजातः* स्त. २, पृ. १७७. अपि च *स्मृतौ*- "पत्नी कुमारी पुत्रो वा शिष्यो वाऽपि यथाक्रमम्। पूर्वपूर्वस्य चाभावे विदध्यादुत्तरोत्तरः"।

२ "प्रधानं स्यात्"; "स्वयमेव हि " इति *स्मृत्यर्थसारे*।

३ *यज्ञपार्श्वेऽपि* इति *स्मार्तोल्लासे*, पृ. १६५, ० हुतान्होमाने. – ग, स

४ *गो.गृ.सू.* १.३.१५

५ गृह्येऽग्नौ इति *गोभिलगृह्ये*।

६ जुहुतात्- *गोभिलगृह्ये*

७ गृह-ग.स

स्वयं पत्नी सुतः शिष्यो ब्राह्मणोऽन्योऽथवा शुचिः।
नियुक्तोऽग्निं परि[1]चरेत्पूर्वालाभे परः परः।
न हविर्जुहुयात् पत्नी त्या[2]गादि कुरुतेऽन्तिके।
उपविष्टा दक्षिणतः[3] पश्चादनलतः शुचिः।
सन्निधौ तु स्वयं त्यागान्पत्नीताननुमन्यते।
तौ वा पृथक्पृथक्त्या[4]गान्दम्पती कुरुतः स्वय[5]म्।
स्वयं होमेऽपि तान्कुर्यात् कर्माङ्गत्वात्तु मन्त्रवत्।
असन्निधाने तु दम्पत्योर्नियुक्तोऽनुज्ञया त्यजेत्।
असन्निधानं तु तयोरत्यन्तापद्यशुद्धितः।
शक्त्योरसमक्षं तु हुतमप्यहुतं यतः। इति

मण्डनः।

तुल्य एवाधिकारः स्याद्दम्पत्योरुभयोर्मिथः।
कर्तृत्वं च तयोस्तुल्यं द्रव्यत्यागे प्रचक्षते।
यद्वा त्यागं पतिः कुर्यात्पत्नी तदनुमन्यते ।
अधिकारेऽपि वैषम्यं प्रोक्तं शब्दानुसारिणा[6]। इति

आश्वलायनकारिकायाम्।

---

१ चरेत्-स ('परि' नास्ति)

२ सांगादि कुरुतेन्ति-स

३ दक्षिणता-स

४ पृथक्यागान्-स

५ 'स्वयं' नास्ति-स

६ अपि च। "त्यागं तु सर्वथा कुर्यात्तत्राप्यन्यतरस्तयोः। उभावप्यसमर्थौ चेन्नियुक्तः कश्चन त्यजेत्"। इति मण्डनः

अथ यस्मिन्विवाहाग्निरुत्पन्नोऽहनि तस्य तु।

यत्सायं तत आरभ्य गृह्यं परिचरेत्स्वयम्।

आत्मनोऽसम्भवे पत्नी पुत्रादय इति स्थितिः।

अन्ये तु मन्वते पत्नीकुमार्योस्तदहोमकम्।

तन्त्रं नास्त्यत्र भगवद्वृत्तिकारवचो यथा। इति छन्दोगपरि[1]शिष्टे विशेषः।

असमक्षन्तु दम्पत्योर्होतव्यं नर्त्विगादिना।

द्वयोरप्यसमक्षं [2]चेद्भवेद्धुतमनर्थकमिति। इति

तत्रापि त्यागास्तु यजमानेनैव कार्याः। प्रधानस्य स्वामी फलयोगादि[3]त्युक्तेः। यत्तु

"सन्निधौ[4] यजमानः स्यादुद्देशत्यागकारकः।

असन्निधौ तु पत्नी स्यादुद्देशत्यागकारिका।

असन्निधौ तु पत्नी[5] स्यादध्वर्युस्तदनुज्ञया।

उन्मादे प्रसवे चर्त्तौ कुर्वीतानुज्ञ[6]या विना"।

इत्यनेन स्वामिनोऽसन्निधाने पत्न्यादीनां त्यागकर्त्तृत्वं तन्नैमित्तिकपरम्। नित्यस्य तु यजमानेनैव कर्त्तव्याः। तदुक्तमाचार्येण[7]।

---

१ *कात्या. स्मृ.* २०.१

२ समक्षं हि भवेद्धुत० - कात्या.स्मृ.

३ *का.श्रौ.सू.* १.७.१६ यत्प्रधानं स्वद्रव्यपरित्यागरूपं तत्स्वामी करोति। तच्च कुर्वन् फलेन युज्यते इति कर्काचार्याः।

४ स्मृत्यर्थसारे। द्रष्टव्यः *मदनपारिजातः* स्त०, पृ.१७७–७८

५ पत्न्याः-ग.स

६ नुज्ञयां-ग.स.

७ कात्यायनेन इत्याशयः।

"प्रव[1]सन्याजमानं कुर्याद्यथाकालमात्मसंस्काराद्धर्ममात्रत्वाच्छ्रुतेश्चेति"। यच्च सर्वदा यजमानो वा त्यजेत्तद्दिङ्मुखः शुचिरिति तन्नित्यपरमेव। नैमित्तिकानां पत्न्यादेः कर्तृत्वविधानात्। यजमानस्य नैमित्तिकाज्ञानात् प्रवासे। एवन्नित्यमग्निपरिचरणमुक्त्वेदानीं तत्रैव गुणफलसंबंधमाह।

।।श्रीः।। **पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ। पुमानिन्द्रश्च सूर्यश्च पुमाꣳसंवर्द्धतां[2] मयि पुनः स्वाहेति पूर्वां गर्भकामा** (१.६.५)।।

गर्मकामा पत्नी पुमाꣳसाविति मंत्रेण पूर्वामुभयत्र जुहुयात्। सायं प्रातःकालीनाग्निपरिचरणस्य या पूर्वा सायंकालेऽग्नये स्वाहेति प्रातः सूर्याय स्वाहेति पूर्वा तयोः स्थानेऽनेन मंत्रेण पत्न्या होमः कार्यः। प्रजापतये स्वाहेत्युत्तराहुतिस्तु यजमानेनैव होतव्या। तत्र यजमानेन पर्युक्षणान्ते कृते पत्नी यजमानहस्तादुपयमनकुशानादायाग्नेरुत्तरत उपविश्य दक्षिणं जान्वाच्य पुमाꣳसावित्यनेन पूर्वाहुतिं जुहुयात्। एवं दधिपक्षे तण्डुलपक्षे चाऽसर्वं हुत्वा शेषस्य पात्रान्तरे स्थापनम्। ततो यजमानस्तानेव कुशानादाय जुहोति स्थान उपविश्योत्तराहुतिं जुहुयात्। स्वस्वहोमशेषस्य प्राशनम्। नाक्षतपक्षे।

---

१ *का.श्रौ.सू.* ४.१२.१५ " प्रोषितोऽपि याजमानं करोति। यथाकालमिति अग्नि-होत्रकाले आग्निहोत्रं याजमानं, पौर्णमासकाले पौर्णमास्यम् एवं सर्वत्र। कुत एतत्? आत्मसंस्कारात्-हेतुश्चायमुपदेशश्च। यदात्मसंस्कारकं तत्कर्त्तव्यम्। यथा व्रतग्रहणपावनमुण्डनादि। यजमानस्य ह्यसौ संस्कारः। प्रोषितोऽपि च यजमानो यजमान एव। यच्च धर्ममात्रं तत्कर्त्तव्यम्। यथा विष्णुक्रमादि। कुत एतत्। धर्ममात्रत्वादेव। न ह्येतत्कर्मणि सन्निपतितम्। श्रुतेश्च। श्रुति-रप्यमुमर्थं ज्ञापयति- यथा प्रोषितेनापि याजमानं कर्त्तव्यम् इति कर्काचार्याः।

२ वर्ततामित्यपि पाठः

[1]**छन्दोगसूत्रे** तु विशेषः। गृहा[2]गतां पतिपुत्रशीलसम्पन्ना [3]ब्राह्मण्योऽवरोप्यानडुहे रोहि[4]ते चर्मण्युपवेशय[5]न्तीह गावः[6] प्रजायध्वमिति। तस्याः कुमारमुपस्थ आदध्युः। तस्मै शकलो[7]टानञ्जलावावपेयुः। फलानि[8] वेति। शकलोटाः कुमुदनीलोत्पलमूलगोलका इति तद्भाष्ये।

इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठकश्रीरामचन्द्रसूनुमहायाज्ञिकश्रीगङ्गाधरकृतायां पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तौ प्रथमकाण्डे नवमी कण्डिका।।



---

१ *गो.गृ.सू.* २.४.६-६

२ गृहगतां-ग.स.

३ ब्राह्मण्यो-नास्ति ग.–स. मातृकयोः।

४ नास्ति *गो.गृह्ये*।

५ वेशयतीह- ग.स.

६ गवः- स

७ तस्मै–इति व्यत्ययेन षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। तस्य वधूत्सङ्गोपविष्टस्य कुमारस्याञ्जलौ शकलोटान् आवपेयुर्दद्युस्ता एव ब्राह्मण्यः। शके कर्दमे लोटन्ति इति शकलोटाः शालूकान्युच्यन्ते। तानि च कह्लारकुमुदनी–लोत्पलमूलानि इति *गो. गृह्यभाष्यकारः*।

८ फलानि वा चूतादीनि तस्याञ्जलावावपेयुः इति *गो. भाष्ये*।

।। दशमी कण्डिका ।।

मूलम् - *राज्ञोऽक्षभेदे नद्धविमोक्षे यानविपर्यासेऽन्यस्यां वा व्यापत्तौ स्त्रियाश्चोद्वहने तमेवाग्निमुपसमाधायाज्यꣳ संस्कृत्येह रतिरिति जुहोति नानामंत्राभ्याम्।।१।। अन्यद्यानमुपकल्प्य तत्रोपवेशयेद्राजानꣳ स्त्रियं वा प्रति क्षत्र इति यज्ञान्तेनात्वाऽहार्षमिति चैतया।।२।। धुर्यौ दक्षिणा।।३।। प्रायश्चित्तिः।।४।। ततो ब्राह्मणभोजनम्।।५।। (१०)*

क्रमप्राप्तमग्निपरिचरणं विधाय "अपरस्मिन्नह्नः संधौ गृहान्प्र[1]तिपादयीतेति" **मानव**[2]**सूत्रा**द्विवाहदिनोत्तरदिनसंधौ प्रातरग्निपरिचरणानन्तरं सूर्योदयसमकालं वध्वाः स्वगृहे नयनं प्राप्तं तत्र मार्गे रथविपत्तौ कर्मसामान्याद्राज्ञो रथविपत्तौ चैकप्रयत्नेन नैमित्तिकमाह।

।।श्रीः।। राज्ञोऽक्षभेदे नद्धविमोक्षे यानविपर्यासेऽन्यस्यां वा व्यापत्तौ स्त्रियाश्चोद्वहने तमेवाग्निमुपसमाधायाज्यꣳ संस्कृत्येह रतिरिति जुहोति नानामंत्राभ्याम् (१.१०.१)।।

राज्ञोऽभिषेकादिगुणयुक्तक्षत्रियस्याक्षभेदे रथस्या[3]क्षसंज्ञकावयवविशेषस्य भेदे भङ्गे नद्धस्य बंधनस्य युगादेर्मोक्षे यानस्य रथस्य विपर्यासे न्युब्जीभवे अन्यस्यां वा व्यापत्तौ हयछत्रिकादेर्वा व्यापत्तौ विनाशे भ्रंशे[4] स्त्रियाश्चोद्वहने विवाहोत्तरं पितृगृहाद्भर्तृगृहे प्रथमतो नयने एतस्मिन्निमित्ते तमेवाग्निमुपसमाधाय राज्ञः सेनाग्निं स्त्रियाश्चोद्वहने विवाहाग्निमुपसमाधायोपलेपनादिसंस्कृते प्रदेशे स्थापयित्वाऽऽज्यं संस्कृत्याज्यसंस्कारं कृत्वेह रतिरिति नानामन्त्राभ्यां पृथङ्मन्त्राभ्यां

---

१ प्रपादयी०-ग.स

२ *मा.गृ.सू.* १.१४.१. अपरस्मिन्नह्नो दिवसस्यापरस्मिन् यस्मिन् सन्धौ निशायामित्यर्थः। गोधूलिके वधू गृहे प्रपादयेत् प्रवेशयेदित्यर्थः।

३ रथस्याअंसंज्ञ०- स

४ भ्रेषे-ग.स

समाम्नायपरिपठितस्वाहाकारांताभ्यां द्वे आज्याहुती जुहोति। इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहेत्येकाम्। उपसृजन्धरुणं मात्रे धरुणो मातरन्धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत्स्वाहेत्यपराम्।

तथा च **मानव[1]सूत्रे**। यदि रथाक्षः शम्याणी वा रिष्येतान्यद्वा रथाङ्गं तत्रैवाग्निमुपसमाधाय जयप्रभृतिभिर्हुत्वा सुमङ्गलीरियं वधूरिति जपेत्। तथा। गोभिः सहास्तमिते ग्रामं प्रविशन्ति ब्राह्मणवचनाद्वा। अपर[2]स्मिन्नह्नः संधौ गृहान्प्रपादयीतेति।

छन्दो[3]गसूत्रे। अक्षभङ्गे नद्धविमोक्षे यानविपर्यासेऽन्यासु चापत्सु यमेवाग्निमभि[4]हरन्ति तमेवोपसमाधाय व्याहृतिभिर्हुत्वाऽन्यद्द्रव्यमानीय। ''य ऋते चिदभि श्रिष इत्याज्यशेषेणाभ्यञ्जेत्। [5]वामदेव्यं गीत्वाऽऽवरोहे[6]दिति। यानविपर्यासे उत्तरा[7]धर्यप्रातिलोम्ये। अन्यासु चापत्सु यानात्पतनसुवर्ण-नाशाद्यास्विति तद्भाष्ये।

अत्रार्यपादाः। यस्मिन्स्थानेऽक्षभङ्गादिनिमित्तमुत्पद्यते तस्मिन्नुपलिप्त उद्धतावोक्षिते विवाहाग्निमुपसमाधायाज्यभागान्ते विशेषः। आज्यस्थालीद्वयम्। दक्षिणार्थे धुर्यौ दक्षिणा। द्वितीयाज्यनिर्वापः। अधिश्रयणम्। पर्यग्निकरणम्। उद्वासनम्। उत्पवनम्। अवेक्षणम्।

---

१ *मा.गृ.सू.* १.१३.१७

२ *मा.गृ.सू.* १.१४.१

३ *गो.गृ.सू.* २.४.३-४.

४ वाग्निᳬ हरन्ति- *गो.गृह्ये।* "यमेवाग्निमौपासनं हरन्ति नयन्ति, यमेव वा कञ्चिदग्निं लौकिकं सन्निधौ लब्ध्वा आनयन्ति स तमेवाग्निमुपसमाधाय इन्धनादिना सन्धुक्ष्य। सायमाहुतेः पूर्वमक्षभङ्गादौ जाते होमोऽयं विवाहाग्नौ न प्राप्नोति तदर्थं 'यमेवाग्निं हरन्ति' इति सूत्रितम् इति भाष्यकारः।

५ वामदेव्य-स

६ गीत्वाऽऽरोहेत्- *गो.गृह्ये*। वामदेव्यं नाम साम गीत्वा वधूसहितः पतिर्यान–मारोहेत् इति। आरोहयेत् इति केचित् पठन्ति।

७ अन्तराधर्य- स

इहरतिरिति नानामंत्राभ्यां होमः। इदमग्नय इति त्यागः। ततो महाव्याहृत्यादिदक्षिणादानान्तम्। अन्यद्यानोपकल्पनम्। तस्मिन्वरः प्रतिक्षत्र इति यज्ञान्तेन मंत्रेणात्वाहार्षमिति मंत्रेण च वधूमुपवेशयेत्। ततो बर्हिर्होमादिब्राह्मणभोजनान्तमित्याहुः। आज्यं संस्कृत्येति वचनमाघारयोरपि पूर्वकालत्वज्ञापनार्थमिति कर्काचार्याः। आज्यं संस्कृत्येति ग्रहणमन्येतिकर्त्तव्यतापरिसंख्यार्थम्। नैमित्तिकेन विधानेनेति भर्तृयज्ञपादाः। नैमित्तिकेन विधानेन पूर्णाहुतिविधानेनेत्यर्थः। अतश्च तन्मतेऽग्निनिधानोत्तरं पूर्णाहुति[1]वदाज्यं संस्कृत्याहुतिद्वयमेव जुहुयादिति। तमेवाग्निमुपसमाधायेति वदता राज्ञः सेनाग्निः शान्तिकपौष्टिकार्थं लौकिको भवतीति ज्ञापितम्।

।।श्रीः।। अन्यद्यानमुपकल्प्य[2] [3]तत्रोपवेशयेद्राजानꣳ स्त्रियं वा प्रतिक्षत्र इति यज्ञान्तेनात्वाहार्षमिति चैतया (१.१०.२)।।

ततो होमानन्तरमन्यद्या[4]नं रथान्तरं प्रकल्[5]प्य तत्र तस्मिन्प्रक्लृप्ते रथे[6] राजानं पुरोहित उपवेशयेत्। उद्वाहे स्त्रियं वर उपवेशयेत्प्रतिक्षत्र इति मन्त्रेण यज्ञान्तेन प्रतिक्षत्र इत्यारभ्य प्रतितिष्ठामि[7] यज्ञ इत्यन्तेनात्वाहार्षमिति चैतया ऋचा। चकारो मंत्रसम[8]च्चयार्थः। तेनोभाभ्यामृग्यजुर्भ्यामुपवेशयेत्। अत्र" [9]'परादिना पूर्वान्तः इति

---

१ ० द्वयमेव जुहुयादिति-स। "वदाज्यं . . . आहुति" नास्ति।

२ कल्प-स

३ मत्रो-स

४ मन्यथानरथा०-स

५ प्रकप्य-स

६ रथै-स

७ प्रतिष्ठामि-स

८ मंसमुच्चयार्थः-स

९ *का.श्रौ.सू.* १.३.६. परस्य मन्त्रस्यादिना पूर्वस्यान्तः प्रतिपत्तव्यः इति कर्काचार्याः। परादिना पूर्वान्ताभावाद्यज्ञान्तग्रहणम् इति। *स्मा.सू.व्या.* प्रतितिष्ठामि यज्ञ इत्यन्तो मन्त्रः।

यजुषोंतलक्षणाभावात्प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामीत्येतावतापि वाक्यस्य निराकाङ्क्षत्वाद्यज्ञान्तेनेत्युक्तम्।

।।श्रीः।। **धुर्यौ दक्षिणा** (१.१०.३)।।

धुरि भवौ धुर्यौ बलीवर्दौ दक्षिणा। युक्तौ बलीवर्दौ दक्षिणेति श्रीभर्तृयज्ञपादाः।।

।।श्रीः।। **प्रायश्चित्तिः** (१.१०.४)।।

रथाङ्गव्यापत्तावेषा प्रायश्चित्तिः। प्रायश्चित्तिरित्युपदेशान्नियमेनानुष्ठानम्। न याथाकाम्यम्। [1]न नियमनिमित्तेति सूत्रणात्। अत्रो[2]द्वहनं परिणीतयोः रथेनैवेति सूचितं भवति। रथारोह[3]विधिस्तु तृतीयकाण्डोक्तो ज्ञेयः।

।।श्रीः।। **ततो ब्राह्मणभोजनम्** (१.१०.५)।।

ततः समाप्ते कर्मणि ब्राह्मणभोजनम्।

इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठकश्रीरामचन्द्रसूनुमहायाज्ञिकश्रीगङ्गाधरकृतायां पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तौ प्रथमकाण्डे दशमी कण्डिका।।१०।।



---

१ *का.श्रौ.सू.* १.२.११ "न नियमनिमित्ताग्निहोत्रदर्शपूर्णमासदाक्षायणाग्रयणपशुषु प्रवृत्तेः"। नियमेषु न याथाकाम्यम् इति कर्काचार्याः।

२ अहोद्वहन-स। ० हनपरि० – ग

३ *पा.गृ.सू.* ३.१४.१-१५

।। एकादशी कण्डिका ।।

मूलम् - *चतुर्थ्यामपररात्रेऽभ्यन्तरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य स्थलीपाकꣳ श्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति।।१।। अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा। वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै प्रजाघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा। सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै पशुघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा। चंद्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै गृहघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा। गंधर्व प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै यशोघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहेति।।२।। स्थालीपाकस्य जुहोति प्रजापतये स्वाहेति।।३।। हुत्वा हुत्वैतासामाहुतीनामुदपात्रे सꣳस्रवान्त्समवनीय तत एनां मूर्द्धन्यभिषिंचति। या ते पतिघ्नी पशुघ्नी गृहघ्नी यशोघ्नी निंदिता तनूर्ज्जारघ्नीं तत एनां करोमि सा जीर्य त्वं मया सहासाविति।।४।। अथैनाꣳ स्थालीपाकं प्राशयति प्राणैस्ते प्राणान्त्संदधाम्यस्थिभिरस्थीनि माꣳसैर्मांसानि त्वचा त्वचमिति।।५।। तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति।।६।। तामुदुह्य यथर्तु प्रवेशनम्।।७।। यथाकामी वा काममाविजनितोः संभवामेति वचनात्।।८।। अथास्यै दक्षिणाꣳसमधिहृदयमालभते। यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चंद्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतमिति।।९।। एतमत ऊर्ध्वम्।।१०।। (११)*

नैमित्तिकं परिसमाप्य विवाहाङ्गभूतं चतुर्थीकर्माह।

।।श्रीः।। **चतुर्थ्यामपररात्रेऽभ्यन्तरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्योत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य स्थालीपाकꣳश्रपयित्वाऽऽज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीर्जुहोति। अग्ने**

प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा। वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि याऽस्यै प्रजाघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा। सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै पशुघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा। चंद्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै गृहघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा। गन्धर्व प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै यशोघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहेति (१.११.१-२)।।

विवाहदिवसाच्चतु[1]र्थ्यां तिथावपररात्रे[2] रात्रेः पश्चिम[3]प्रहरे न तु तृतीये तस्य प्रतिषिद्धत्वात्। अभ्यन्तरतो गृहमध्येऽग्निमुपसमाधाय[4]। एष एवेत्यनेन प्राप्तमप्यग्न्युपसमाधानमभ्यन्तरगुणविधानार्थम्। चतुर्थीकर्मणो

---

१ अत्र *गो.गृह्यम्* २.५.१ अथातश्चतुर्थी कर्म। विवाहरात्रेर्या चतुर्थी रात्रिः तस्यां कर्म चतुर्थी कर्म। "विवाहे चैव निर्वृते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु। एकत्वमागता भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके" अपि च - "चतुर्थीहोममन्त्रेण त्वङ्मांस–हृदयेन्द्रियैः। भर्त्रा संयुज्यते पत्नी तद्गोत्रा तेन सा भवेत्"। अतः शब्दो हेत्वर्थः। यस्मादेतस्मिन् कर्मण्यकृते याऽस्याः पापी लक्ष्मीः - इत्यादयो दोषाः शरीरादस्या नापयन्ति, अतः एतस्मात् कारणात् इदमवश्यं कर्त्तव्यम् इत्यर्थः इति *गोभिलभाष्यकारः*, पृ. ३५५-५६

२ "पूर्वाह्णव्युदासार्थञ्चापररात्रस्य "इति कर्काचार्याः। "चतुर्थ्यां रात्रौ रात्रेऽपरभागे, यद्वा चतुर्थीतिथिसम्बन्धिरात्र्यपरभागे। यत्तु चतुर्थ्यां तिथौ भविष्यद्रात्र्यपरभाग इति। तस्य रात्र्यंशस्य पञ्चमतिथिसम्बन्धित्वात्। तथा च पञ्चमीकर्मत्वापत्त्या चतुर्थीकर्मेति नाम व्याकोपः। त्रिरात्रे निर्वृते चतुर्थी-कर्मेति (१.१८.१-२) शांखायनविरोधाच्चेति विश्वनाथः, पृ.१२६

३ ऽपमप्रहरे-स

४ समाधात्-स

विवाहाङ्गभूतत्वाद्बहिः शालायां प्राप्तत्वादभ्यंतरत इत्युच्यते। अग्निस्तु वैवाहिक एव। तमेवाग्निमुपसमाधा[1]येति नैमित्तिकहोमे तदग्नेर्द्धारणानुवृत्तिदर्शनात्। यदीहान्येऽग्नौ होमः क्रियेत तदा तद्धारणमदृष्टार्थं स्यात्। न च दृष्टे सति तद्युक्तम्। तस्माच्चतुर्थी-कर्मार्थमग्नेर्द्धारणम्। ततश्च तन्नाशे[2] प्रायश्चित्तपूर्वकं पूर्वाऽऽ[3]हृतवल्लौकिकारणेययोरन्यतरस्य स्थापनम्। तत्र चोपलेपनादयस्त्रय[4] एव संस्कारा भवन्ति। अगृह्यत्वात्। दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्य। येषां प्रत्यक्षो ब्रह्मा तेषामुदपात्रप्रतिष्ठा[5]पनक्रमार्थं पुनर्ग्रहणम्। येषामासनमात्रं तेषामिह प्रत्यक्षोपवेशनविधा[6]नार्थम्। ब्रह्मोपवेशनानन्तरमुत्तरतोऽग्नेरुदपात्रं प्रतिष्ठाप्य प्रणीताप्रणयनातिरिक्तं संस्रवासेचनार्थं स्थापयित्वा स्थालीपाकꣳ श्रपयित्वा प्रजापतये स्वाहेति वक्ष्यमाणत्वात्प्राजापत्यस्थालीपाकविधिना श्रपयित्वाऽऽ आज्यभागाविष्ट्वाऽऽज्याहुतीरग्ने प्रायश्चित्त इत्याद्याः पञ्च जुहोति। आज्यभागग्रहणमाज्याहुतिकालविधित्सया। **छन्दोग[7]सूत्रे**। अग्निमुपसमाधाय प्रायश्चि[8]त्ताहुतीर्जुहोत्यग्ने प्रायश्चित्त इति[9]।

---

१ समायेति-स

२ पुनराधाननिमित्तानि- अग्नावनुगते यस्य होमकालद्वयं व्रजेत्। उभयोर्विप्रवासे वा लौकिकाग्निर्विधीयते।१। विहायाग्निं सभार्यश्चेत्सीमामुल्लंघ्य गच्छति। होमकालात्यये तस्य पुनराधानमिष्यते।२। अनो विना समारूढमूर्ध्वं शम्यापरासनात्। हृतोऽग्निर्लौकिको ज्ञेयः श्रुतौ सर्वत्र दर्शनात्।३। इति गदाधरभाष्ये, पृ. ३७।

३ पूर्वाह्नवल्लौकिककारणं ययोरत्यतरस्य-स

४ उपलिप्त उद्धतावोक्षितेऽग्निमुप समाधायेति। *पा.गृ.सू.* १.४.३

५ प्रतिष्ठापन-नास्ति स-मातृकायाम्।

६ विप्पधानार्थ-स

७ *गो.गृ.सू.* २.५.२

८ ०चित्ताज्याहुती०- *गो.गृह्ये*

९ इति चतुः- *गो.गृह्ये*। "अग्नेः स्थाने वायु-चन्द्र-सूर्याः" इति *गो.गृ.* २.५.३ "प्रायश्चित्तलिङ्गैर्मन्त्रैराज्याहुतयः प्रायश्चित्ताज्याहुतयः ताः जुहोति। प्रथमा

।।श्रीः।। स्थालीपाकस्य जुहोति प्रजापतये स्वाहेति (१.११.३)।।

स्थालीपाकस्येत्यवयवलक्षणाषष्ठी। अवदानधर्मेणावदाय प्रजापतये स्वाहेत्यनेन मंत्रेण जुहुयात्।

।।श्रीः।। हुत्वा हुत्वैतासामाहुतीनामुदपात्रे सᳫंस्रवान्त्समवनीय तत एनां मूर्द्धन्यभिषिञ्चति। या ते पति[1]घ्नी प्रजाघ्नी पशुघ्नी गृहघ्नी यशोघ्नी निन्दिता तनूर्ज्जारघ्नीं तत एनां करोमि सा जीर्य त्वं मया सहासाविति (१.११.४)।।

एतासामाज्यभागानन्तरमाम्नातानामाज्याहुतीनां स्थालीपाका[2]हुतेश्च हुत्वा हुत्वा[3] होमं कृत्वा कृत्वा प्रति होमं संस्रवान्हो[4]मार्थमवत्तं सशेषं हुत्वा हुताऽवशिष्टान्होमपात्रस्थान्त्छेषानुदपात्रे पूर्वमग्नेरुत्तरतः स्थापितेऽवनीय प्रक्षिप्य। ततः यत्र संस्रवप्रक्षेपः कृतस्ताभ्योऽप आदायैनां वधूं मूर्द्धनि शिरस्याभिषिञ्चति या ते पतिघ्नीत्यादिमंत्रेण। असाविति स्थाने संबुध्यन्तं वध्वा नाम ग्रांह्य[5]म्। असावित्यपनोद[6] इत्युक्तत्वात्। मया सहेति लिङ्गात्पतिरभिषिञ्चेत्। **छन्दोगसूत्रे**[7]। आहुतेराहुतेस्तु सम्पातमुद-

---

तावदाहुतिर्यथापठितेनैव मन्त्रेण होतव्या। अन्यासु पुनराहुतिषु वायु-चन्द्र-सूर्यपदप्रक्षेपेत्यादि इति गो.गृह्यभाष्यकारः।

१ पतिप्रजाघ्नी-स

२ पाकहुतेश्च-स

३ "सर्वाहुत्यन्ते मा भूदिति हुत्वा हुत्वेत्युक्तम्"। मूर्द्धाभिषेकश्चागन्तुकत्वात्सर्वान्ते भवति। इति कर्काचार्याः।

४ संस्रवा होमार्थ०-स

५ त्राह्यं-स

६ *का.श्रौ.सू.* १.१०.१७. "यत्र" असौ यजासौ यज " इति यथा पुनरभ्युन्नीतेषु तत्र देवता विभक्तिश्चापनोदे वर्त्तते। अथवा असावित्यपनोदे इति। यत्र मन्त्रेऽसाविति सर्वनामशब्दस्तस्यापनोदं कृत्वा यस्तत्राभिधेयस्तन्नामादेशः कार्यः" इति कर्काचार्याः।

७ *गो.गृ.सू.* २.५.५-६

पात्रेऽवनयेत्। तेनैनाꣳ सकेशन[1]खामभ्यज्य ह्रा[2]सयित्वाऽऽप्लावयन्तीति। ह्रास[3]यित्वा देशान्तरं नीत्वेत्यर्थः। "मूर्द्धाभिषेकश्च[4] सर्वान्ते भवतीति" कर्काचार्याः। संस्रवावनयनोत्तरमेवेत्यार्यपादाः। युक्तं चैतत्। ल्यबादेशेन श्रौतक्रमावबोधनात्।

।।श्रीः।। अथैनाꣳ स्थालीपाकं प्राश[5]येत्प्राणैस्त इति (१.११.५)।।

स्थालीपाकमिति द्वितीयासंयोगात्सकलम्। लिङ्गाद्[6]वर एव। अत्र प्राणैस्त इत्यारभ्य त्वचा त्वचमित्यन्तेनैकेन मंत्रेणेति कर्काचार्याः। अपरे तु प्राणैस्ते प्राणान्त्संदधामीति प्रथमो मन्त्रः। अस्थिभिरस्थीनीति द्वितीयः। माꣳसैर्माꣳसानीति तृतीयः। त्वचा त्वचमिति चतुर्थः। अत्रोत्तरेषु त्रिषु मंत्रेषु संदधामीत्यनुषङ्गः। प्रतिमन्त्रं च प्राशनमित्याहुः। युक्तं चैतत्। [7]प्रतिमन्त्रं वा वाक्यभेदादिति हेतोर्निदर्शनात्। [8]मंत्रपृथक्त्वात्कर्मपृथक्त्वमिति शाङ्खायनः। कर्काचार्यैरपि ब्रह्मचारिणोऽग्निपरिसमूहने [9]"पाणिनाग्निं परिसमूहत्यग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मां कु[10]र्वित्यादि भूयासमित्यन्ते सूत्रे, अग्ने

---

१ नस्था-स

२ द्रासयित्वा-स, क्रामयित्वा इत्यपि केचित् पठन्ति।

३ उद्वर्तनं नखच्छेदो रोमच्छेदनमेव च। स्रंसनं मेखलायाश्च ह्रासनानि विदुर्बुधाः। इति गृह्यासंग्रहे। एतदविद्वांस एव क्रामयित्वा इति पठन्तिं। आप्लावयन्ति स्नापयन्ति। बहुवचनादनियतः कर्त्ता। अत्र चतुर्थीकर्मणः परिसमाप्तिः इति गोभिलभाष्यकारः, पृ. ३६०

४ चागन्तुकत्वात् इत्यधिकं कर्कभाष्ये पृ. ११८

५ प्राशयति-स। प्राणान्त्संदधाम्यस्थिभिरस्थीनि माꣳसैर्माꣳसानि त्वचा त्वचमिति। अथाभिषेकानन्तरमेवैनां वधूं स्थालीपाकं प्राशयेत्प्राणैस्त इति-स।

६ लिङ्गाद्वा-ग

७ *का. श्रौ. सू.* २६.२.२७

८ *शां. श्रौ. सू.* १.२.२४

९ *पा.गृ.सू.* २.४.२ समिदाधानं कर्म।

१० कुर्वीत्यादि–स

सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असी[1]त्येवमादिभिर्मन्त्रैः प्रतिमंत्रं परिसमूहनं च संधु[2]क्षणम् "इति व्याख्यातम्। न च तत्र सूत्रकृता प्रतिमन्त्रमित्युक्तम्। नापि मध्येऽवसानाम्ना[3]नम्। न वेतिकरणं मध्ये। तस्मात्प्रतिमंत्रं वा वाक्यभेदादिति न्यायेनैवमादिभिर्मन्त्रैः प्रतिमंत्रं समूहनमित्युक्तम् तथा पाणी[4] प्रतप्य मुखं विमृष्टे तनूपा अग्नेऽसी[5]त्यादि सूत्रे तेषां वाक्यं निराकाङ्क्षमिति लक्षणेन नानामंत्रवाक्यभेदाच्च प्रति वाक्यं पाणी प्रतप्य मुखविमार्जनमिति वदता प्रतिमंत्रं क्रियावृत्तिर्दर्शिता। मेधाम्म[6] इत्यनयोरादधात्वित्यध्याहारोऽपि दर्शितः। तेनोत्तरग्रन्थविरोधात् [7]कर्कोक्तमेतादृशेष्वन्येष्वप्युपेक्ष्यम्। अत्र प्रधानाहुतिहोमानन्तरं त्वयवाऽभिषेकाभिधानं ततोऽप्यथेति श्रौतक्रमेण सकलस्य स्थालीपाकस्य प्राशनमभिहितम्। द्वितीयासंयोगात्। तेन स्विष्टकृदर्थं प्रधानशेषस्य स्थालीपाकस्याऽभावादाज्यतन्त्रवदाज्येनैव प्राजापत्यान्ते स्विष्टकृद्धोमः कर्त्तव्यः। एवमेवार्यपादैः प्रयोग उपनिबद्धः। कर्काचार्यास्त्वभिषेकश्चा– गन्तुकत्वात्सर्वान्ते भवतीत्याहुः। अभिषेकोत्तरं च प्राशनमिति। तन्मते

---

१ "एवं माᳫं सुश्रवः सौश्रवसं कुरु यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा अस्येवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासमिति" २.४.२

२ सिंधुक्षणम्-ग.स.। "पाणिनेत्येकवचनमेकत्वनियमार्थम्। उभाभ्यामपि संधुक्षणप्रसिद्धिरस्ति" इति कर्काचार्याः, पृ.२१४

३ नाम्नातम्-स

४ *पा.गृ.सू.* २.४.७

५ "तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि व्वर्चोदा अग्नेऽसि व्वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्मा आपृण" इति।

६ *पा.गृ.सू.* २.४.८. "मेधां मे देवः सविता आदधातु मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु मेधामश्विनौ देवा वाधत्तां पुष्करस्रजाविति"।

७ "वाक्यभेदाच्च प्रतिवाक्यं पाणी प्रतप्य मुखविमार्जनम्। मेधां मे देवः सविता मेधां मे देवी सरस्वती इत्यनयोरादधात्वित्यध्याहारः साकांक्षत्वात्। अत्र प्रसिद्ध्या त्र्यायुषकरणानन्तरं गोत्रनामपूर्वकं वैश्वानरादीनामभिवादनम्। त्र्यायुषकरणमनुक्तमपि सूत्रकारेण" इति कर्काचार्याः २.४.८., पृ. २१४।

स्थालीपाकेनैव स्विष्टकृद्धोमस्तु तन्त्रकाले। तन्न। ल्यवादेशसंयुक्तत्वादभिषेकादेः।

।।श्रीः।। तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति (१.११.६)।।

यस्माद्भर्तृप्राणादिभिर्दारप्राणादीनामैक्यं[1] संवृत्तं तस्मादेवं-विच्छ्रोत्रियस्य। एवं[2] प्राणादीनामैक्यकरणविदः श्रोत्रियस्य वेदाध्यायिनः। श्रोत्रियं छंदो धीत इति निपातात्। दारेण। दारेणेति छान्दसम्। दारैर्जायया सहोपहासमभिगमनन्नेच्छेन्नाकाङ्क्षेत्। कुत एतत्। उत ह्येवंवित्परो भवति। हि हेतौ। यस्मात्। उत शब्दोऽप्यर्थे। हि यस्मादेवंविच्छ्रोत्रियोऽपि परः शत्रुर्भवति। तथा च **श्रुतिः**[3]। अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद्द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ शरबर्हिस्ती[4]र्त्वा तस्मिन्नेतास्तिस्रꣳ शरभृष्टीꣳ प्रतिलोमाꣳ सर्पिषाक्ता जुहुयान्मम समिद्धे[5]हौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति नाम गृह्णाति मम समि[6]द्धेहौषीꣳ पुत्रपशूँस्त आददेऽसाविति नाम गृह्णाति मम[7] समि[8]द्धेहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति नाम गृह्णाति। स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृदस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद् ब्राह्मणः शप[9]ति। तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य जायाया उपहासन्नेच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवतीति।

---

१ नामैकां-स

२ दैवं-स

३ *शतपथ ब्रा०*, १४.६.४.११ अपि च– *ऋ. सं.* १०.१०६, *अथर्व.* ५. १७–१६, *कौ. सू.* ४.३५, ६–४८, ११, १३

४ तीर्या-स

५ समद्धैहौषी०-स

६ समं-स

७ सम-स

८ समद्धैहौषीः-स

६ शयति-स

अत्र सूत्रकृता ''तस्मादेवंविदिति'' श्रुत्युपसंग्रहणं कृतं तच्छ्रुत्युक्तानां ''काम्यानां'' गर्भाधानादीनां कल्पानामुपसंग्रहणार्थम्। ततश्च तत्तत्कामनायां तत्तच्छ्रुत्युक्तं कर्म कर्त्तव्यमेव[1]। तस्य च विधिः[2] श्रुतावतिस्पष्टत्वादिह न विवरितः स च श्रुतितो ज्ञेयः। ग्रन्थभूयस्त्वभयान्नेह विविच्यते। अथ काम्यं गर्भाधानमाह।

।।श्रीः।। तामुदुह्य यथर्त्तुप्रवेशनम् (१.११.७)।।

तां भार्यामुदुह्योक्तेनोद्वाहप्रकारेणोद्वाहं विधाय यथर्त्तुप्रवेशनम्[3]। ऋतुमनतिक्रम्येति यथर्त्तुप्रवेशनमभिगमनं कुर्यात्। भार्याया रजोदर्शनादारभ्य षोडशनिशा ऋतुसंज्ञा भवन्ति। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन[4]।

"षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणामिति"।

तत्र विशेषस्तेनैवोक्तः। यथा।

"तासु[5] युग्मासु संविशेत्।

ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रश्च[6] वर्जयेदिति।

तस्मिन्षोडशनिशात्मके गर्भधारणयोग्ये ऋतुसंज्ञके काले युग्मासु समासु रात्रिषु संविशेत्पुत्रार्थं स्त्रियं गच्छेत्। रात्रिग्रहणाद्दिवाप्रतिषेधः।

''न दिवा मैथुनं व्रजेत्क्लीवा अल्पवीर्या दिवा प्रसूयन्तेऽल्पायुषश्च। तस्मात्परिवर्जयेदिति" *शङ्खलिखित*वचनात्। एवं गच्छन् ब्रह्मचारी एव भवति। "अतो[7] यत्र ब्रह्मचर्यं श्राद्धादिषु चोदितं तत्र गच्छतोऽपि न

---

१ कर्त्तव्यमे-स

२ विधिश्रुतायतिष्टत्वात्-स

३ ऋतुकालाभिगमनं कार्य्यं पुंसा प्रयत्नतः। सदैव वा, पर्व्ववर्ज्जं स्त्रीणामभिमतं हि यत्।। इति स्मृतं गोभिलभाष्यकारेण २.५.७ सूत्रे

४ *याज्ञ.स्मृ.* आचा. विवाह ३.७९

५ 'तस्मिन्' इति *याज्ञ. स्मृतौ.*।

६ 'चतस्रस्तु' इति याज्ञ. स्मृतौ।

७ *याज्ञ. स्मृ.* आचा. वि. ३.७९

ब्रह्मचर्यस्खलनदोषोऽस्तीति'' मिताक्षराकारः। अन्ये त्वर्त्तुकाले श्राद्धाहे न गच्छेदित्याहुः।

पर्वाण्याद्याश्चतस्रश्च रात्रीर्वर्जयेत्।

पर्वाणि चतुर्दश्यष्टमी चैव त्वमावास्या च पूर्णिमा।

चत्वार्येतानि पर्वाणि रविसंक्रमणं तथा।

इति **गार्ग्यो**क्तानि। पर्वग्रहणं च स्मृत्यन्तरोक्तनिषिद्ध-कालोपलक्षणार्थम्। तेन प्रतिपत्पंचमीषष्ठ्यष्टमीदशम्येकादशीद्वादशीत्रयो-दशीचतुर्दश्यमावास्यापौर्णमासीसंक्रमणव्यतीपातवैधृतिजन्मतिथिबुधवासर[1]-कृत्तिकामघोत्तराफल्गुनीमूलोत्तराषाढोत्तराभाद्रपद्रेवतीषु स्त्रीसङ्गन्न कुर्यात्। [2]आद्याश्चतस्रग्रहणमुपलक्षणार्थम्। एकादश्यां त्रयोदश्यामपि निषिद्धत्वात्। तथा च **मनुः**[3]।

"तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी तथा।

त्रयोदशी च शेषाः स्युः प्रशस्ता दशरात्रयः। इति

अत्रैकादशीत्रयोदश्यावृतोर्न पक्षस्य। **देवलेन** त्वाद्यास्तिस्रो रात्रीर्वर्जयेदित्युक्तम्।

अशुद्धदिवसेष्वेतां मैथुनार्थं यदि व्रजेत्।

आयुः प्रज्ञा च धर्मश्च तस्य पुंसः प्रहीयते।

तस्मात्त्रिरात्रं चाण्डालीं पुष्पितां परिवर्जयेत्। इति

तथा हारीतेन चतुर्थ्यामाधानमुक्तम्। "चतुर्थेऽहनि स्नातायां युग्मासु च गर्भाधानं तदुपेतं ब्रह्मगर्भं संदधातीति"। ततश्च व्यवस्थितविकल्पः। चतुर्थेऽहनि रजोनिवृत्तौ विधिर्वैपरीत्ये तु निषेधः। अतएव गोभिलः[4]।

---

१ वासरस्-स

२ अद्या०-स

३ *मनु०स्मृ० - ३.४७*

४ *गो.गृ.सू. २.५.८.*

यदर्तुमती[1] भवत्युपरतशोणिता तदा संभवकाल इति। तथा[2] **मनुः।** रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वलेति। साध्वी गर्भाधानादि-विहितकर्मयोग्या। युग्मास्विति बहुवचनसामर्थ्यादेकस्मिन्नप्यृतावप्रतिषिद्धासु युग्मासु सर्वासु गच्छेत्। तत्राप्युत्तरोत्तरैव प्रशस्ता। यदाहा**पस्तम्बः।** चतुर्थी प्रभृत्याषोडशसूत्तरामुत्तरां युग्मां प्रजान्यपमृत्युगमन इति। युग्मास्विति पुत्रोत्पत्त्यर्थम्। युग्मासु पुत्रा जायन्तेऽयुग्मासु स्त्रिय[3] इति वाक्यात्। वस्तुतस्तु शुक्राधिक्ये पुत्रः शोणिताधिक्ये कन्या जायते। शुक्रातिरेके पुमान्भवति शोणितातिरेके स्त्री भवति द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवतीति[4] **यास्क**वाक्यात्। तत्र "युग्मा[5]यामपि रात्रौ शोणिताधिक्यं चेत्तदा स्त्र्येव

---

१ यदा ऋतुमती भवति। ऋतुर्नाम गर्भधारणयोग्यावस्थोपलक्षितः कालविशेषः। स च शोणितनिःसरणादारभ्य षोडशाहोरात्रात्मकः ... पर्व्व वर्जम् मनुः (३. ४५)। तदाह *मनुः* (३.४६)। "ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः"। इति तथा च स्मृत्यन्तरम्। ऋतुमतीन्तु यो भार्य्यां सन्निधौ नोपगच्छति। अवाप्नोति स मन्दात्मा भ्रूणहत्यामृतावृतौ इति गोभिलभाष्यकारः, पृ. ३६१-६२

२ *मनु. स्मृ.* ५.६६, ३.४८

३ *मनुस्मृ.* ३.४८-४९ युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु। तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम्। पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे भवत्यधिके स्त्रियाः। समेऽपुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः इति। अपि च हेमाद्रौ शङ्खः।

४ *निरुक्तम्* १४.६ "पार्थिवाँस्त्वष्टौ गुणान् विद्यात्। त्रीन् मातृतस्त्रीन् पितृतोऽस्थिस्नायुमज्जानः पितृतस्त्वङ्मांस–शोणितानि मातृतोऽन्नं पानमित्यष्टौ सोऽयं पुरुषः सर्वमयः सर्वज्ञानोऽपि क्लृप्तः (१४.५)। स यद्यदनुरुध्यते तद् भवति, यदि धर्मोऽनुरुध्यते, तद्देवो भवति, यदि ज्ञानमनुरुध्यते तदमृतो भवति, यदि काममनुरुध्यते संच्यवते इमां योनिं सन्दध्यात् तदिदमत्र मतं श्लेष्मा रेतसः सम्भवति, श्लेष्मणो रसः, रसाच्छोणितम्, शोणितान्मांसम् मांसान्मेदः, मेदसः स्नावा, स्नाब्नोऽस्थीनि, अस्थिभ्यो मज्जा मज्जातो रेतः तदिदं योनौ रेतः सिक्तं पुरुषः सम्भवति। शुक्रातिरेके पुमान्भवति इत्यादिः।

५ मिताक्षराकारः, *याज्ञ.स्मृ.वि.* ३.८०

भवति पुरुषाकृतिः। अयुग्मायामपि शुक्राधिक्ये पुमानेव स्त्र्याकृतिः। कालस्य निमित्तत्वाच्छुक्रशोणितयोश्चोपादानकारणत्वेन प्राबल्यात्"। अतएव याज्ञ[१]वल्क्यः।

एवं गच्छन्स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत्।

सुस्थ इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्सु[२]तम्। इति

सकृ[३]देकस्यां रात्रावेकवारं न[४] वारं वारम्। सुस्थ इंदावनुकूले चन्द्रे। अत्रान्ये विशेषा हेमाद्रिप्रभृतिनिबन्धेभ्योऽवगन्तव्याः। एतच्चर्त्वभिगमनं सन्निधौ शक्तेन नियमेन कर्त्तव्यम्।

[५]ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति।

घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः। इति

यः स्वदारानृतुस्नातां छक्तः सन्नोपगच्छति।

भ्रूणहत्यामवाप्नोति प्रजां प्राप्तां विनश्य सः।

इत्यादिवाक्येन दोषाभिधानात्। अत्र केचिदाहुः। एतदजातपुत्रविषयमिति। [६]जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान्जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। एष वाऽनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वाऽसीत्यस्याः [७]श्रुतेरेकपुत्रोत्पादनेनैव चरितार्थत्वात्। उक्तञ्च **कूर्मपुराणे**।

---

१ *याज्ञ. स्मृ.*, आचा०, वि० ३.८०

२ पुमान्- *याज्ञ.स्मृतौ* पाठः

३ "सकृदेकस्यां रात्रौ न द्विस्त्रिर्वा" इति मिताक्षराकारः।

४ च-ग

५ *पराशरः* इति गदाधरभाष्ये, पृ. १२३

६ *तै. सं.* ६.३.१०.५

७ शृते-स

ऋतुकालाभिगामी [1]स्याद्यावत्पुत्रोऽभिजायत। इति

ननु पुत्रान्तरोत्पत्तिविधायकापि काप्यस्ति **श्रुतिः**[2]। दशास्यां पुत्रानाधेहीति। सत्यम्। यदीयं विधायका स्यात्। किन्तु बह्वपत्यप्रशंसार्था। अन्ये त्वाहुः। नैतदजातपुत्रविषयम्।

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्[3]।

यजेद्वा चाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्।।

इत्यादिभिर्वचनैर्बहुपुत्राश्रयणा[4]त्। **कूर्मपुराणवचनस्य** त्वयमर्थः। ऋतुकाल एव यावद्गर्भसंभवो भवति तावद्गंतव्यमेव। गर्भसंभवे न गन्तव्यम्। गर्भसंभवचिह्नानि तु **सुश्रुते**[5] दर्शितानि। सद्यो गृहीतगर्भायाः श्रमो ग्लानिः पिपासा [6]सक्थिस्पन्दनं शुक्रशोणितयोरनुबन्धः स्फुरणं च योनेरिति। यदा तु बह्व्यो भार्या भवन्ति तासां च यौगपद्येनर्त्तूद्गमे गमने क्रममाह **देवलः**[7]।

यौगपद्ये तु तीर्थानां विप्रादेः[8] **क्रमशो व्रजेत्**।

रक्षणार्थमपुत्रां[9] **वा ग्रहणक्रमशोऽपि वा**। इति

तीर्थमृतुस्तद्यौगपद्ये वर्णक्रमेण वा विवाहक्रमेण वा गच्छेत्। अपुत्रां वा पूर्वमित्यर्थः। ऋतुकालगमनं च स्त्रीणामप्यावश्यकम्।

---

१ मीत्याद्या०-स। *कू.पु.,* उ.वि.अ. १५.११

२ *ऋ. सं.* १०.८५.४५। प्रशंसार्थाः – स

३ व्रजेयुः-स

४ श्रयत्रात्-स

५ *शारीरस्थानम्,* तृतीयोऽध्यायः।

६ सक्थि– ग, स। 'सक्थिसदनं' सुश्रुते।

७ देवला-स

८ विप्रादि-गदाधरभाष्ये, पृ. १२३

९ ०मपुत्राणां-गदाधरभाष्ये, पृ. १२३. विप्रादि-क्रमो वर्णक्रमः ग्रहणक्रमो विवाहक्रमः इति।

ऋतुस्नाता तु या नारी भर्त्तारन्नोपगच्छति।

तां ग्राममध्ये विख्याप्य भ्रूणघ्नीं तु विवासयेत्।

इति वाक्यात्। ऋत्वभिगमोत्तरं शौचं कृत्वा स्नानं कार्यम्। अनृताभिगमने शौचमेव न स्नानम्।

ऋतौ[1] तु गर्भशंकायां[2] स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्।

अनृतौ तु यदा[3] गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत्।

इति स्मृतेः। एतच्च पुरुषविषयम्।

शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचिः पुमानित्युक्तेः[4]।

।।श्रीः।। याथा[5]कामी वा काममाविजनितोः संभवामेति वचनात्

(१.११.८)।।

भार्यायाः काममिच्छामनतिक्रम्य प्रवृत्तिरस्यास्तीति यथाकामी पुरुषो भवेत्। काममनतिक्रम्य यथाकामम्। यथाकाममेव याथाकामं स्वार्थेऽण्। तत अत इति ठनाविति याथाकामी। अनृतावपि भार्येच्छायां सत्यां गच्छेदेव। " वा[6] शब्दो नियमान्तरपरिग्रहार्थो न पूर्वनियमनिवृ[7]त्त्यर्थः। कुत एतत्[8]। काममाविजनितोः संभवामेति वचनात्। श्रुतिमूलत्वादेवास्यार्थस्य

---

१ *आपस्तम्बः*। अपि च द्रष्टव्यम् *गो.गृ.सू.* २.५.८ इत्यस्य भाष्यम्।

२ गर्भशंकित्वात्- *गो.गृह्य.*

३ सदा कार्य- *गो.गृह्य.*

४ स्त्रीणां तु न स्नानम्। "उभावप्यशुची स्यातां दम्पती शयनं गतौ। शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचिः पुमान्" इति *वृद्धशातातप*वचनात् द्रष्ट. गदाधरभाष्यम्. पृ.१२३

५ यथाकामी इति केचित् पठन्ति।

६ मिताक्षराकारः, *याज्ञ.स्मृ.आ.* विवा०३.८१ "यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन्। स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्ष्या यतः स्मृताः"।

७ निवृत्त्यर्थ-स

८ एत-स

श्रुतिमेव हेतुत्त्वेन व्यपदिशति। **तैत्तिरीयके** इन्द्रं स्त्रियश्च प्रकृत्य" ता[1] अब्रुवन्वरं वृणी[2]महा ऋत्वियाः प्रजां विन्दामहै काममाविजनितोः संभवामेति तस्मादृत्वियाः स्त्रियः प्रजां विन्द[3]न्ते काममाविजनितोः संभवामेति वरे[4] वृतः ह्यासामिति। [5]आऽऽविजनितोराप्रसवात्संभवाम पुरुषेण सह संगता भवाम इति वरप्रार्थनावाक्यात्।

अत्र **गौतमः।** ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्ध[6]वर्जम्। ऋतावुपेयादेव। सर्वत्र वा। स्वपदविभाषेयम्। सर्वत्राऽनृतावुपेयान्न वा । विकल्पस्तु स्त्रीणामिच्छावशात्। तदिच्छायामुपे[7]यादेव। ''स्त्रियो रक्ष्या यतः स्मृता'' इति **याज्ञवल्क्येन**[8] स्त्रीरक्षणरूपदृष्टप्रयोजनाम्नानात्। तथा च **देवलः**।

ऋतुकालाभिगमनं पुंसा कार्यं प्रयत्नतः।
सदैव पर्व वर्जं च नृणामभिहितं हि तत्। इति

यत्तु **बौधायन**वचनम् –

---

१ *तै० सं०* २.५.५.१ (पं० दा० सातवलेकर, स्वा० मंडल, पारडी, १९८३)

२ मिताक्षराकारः। वृणीमहै इति केचित् पठन्ति। वृणामहा– ग, स। वृणामहा ऋत्वियात् – सातवलेकर।

३ विन्दते-ग, स। सातवलेकर।

४ वारे-मिताक्षरायाम्, तत्रैव वृत्त-स, वरं वृतं तासां इति केचित् पठन्ति।

५ या– ग, स।

६ प्रतिषिद्धं-स

७ "स्त्रीणां वरमिन्द्रदत्तमनुस्मरन्" भवतीनां कामविहन्ता पातकी स्यात्" इति मिताक्षराकारः। *याज्ञ.स्मृ.* आ.वि. ३.८१

८ "अपि च स्वदारेष्वेव निरतः नितरां रतस्तन्मनस्को भवेदित्यनुषज्यते। एवकारेण स्त्र्यन्तरगमनं निवर्तयति, प्रायश्चित्तस्मरणात्। उभयत्रापि दृष्टप्रयोजनमाह स्त्रियो रक्ष्या० इतिं यस्मात्स्त्रियो रक्ष्याः स्मृता उक्ताः ' कर्तव्याश्च सुरक्षिताः' इति। तत्र सुरक्षितत्वं यथाकामित्वेन स्त्र्यन्तरागमनेन च भवतीति" इति मिताक्षराकारः।

ऋतौ नोपैति यो भार्यामनृतौ वोपगच्छति।

तुल्यमाहुस्तयोर्द्दोषमयोनौ यश्च सिञ्चति। इति

तत्स्त्रीणामिच्छाभावे वेदितव्यम्। यश्च गर्भिणीगमननिषेधः सोऽपि गर्भिण्या अनिच्छायामेव वेदितव्यः। काममाविजनितोः संभवामेत्युक्तेः।

।।श्रीः।। **अथास्यै दक्षिणाꣳसमधिहृदयमालभते यत्ते सुशीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ श्रृणुयाम शरदः शतमिति** (१.११.६)।।

अस्या इति षष्ठ्यर्थे। अथाऽभिगमनोत्तरमस्या जायाया दक्षिणांसमधि दक्षिणांसमुपरि स्वीयं दक्षिणं हस्तन्नीत्वाऽस्या हृदयमालभते स्पृशति यत्ते सुशीम इत्यनेन मन्त्रेण। केचिदभिगमात्प्राग्घृदयालम्भनमिच्छन्ति। अप्रयतत्वात्। तन्न। अथ शब्दार्थानन्तर्यश्रौतक्रमात्। अतएव भर्तृयज्ञपादाः। अभिगमनोत्तरमनाचांत एव दक्षिणांसमधिहृदयमालभत इतिं। समाप्तेऽर्थे जपेदिति **शाङ्खायनः**[१]।

श्रीः।। **एवमत ऊर्ध्वम्** (१.११.१०)।।

अत[२] ऊर्ध्वमृतावनृतौ च स्त्र्यभिगमनं कृत्त्वैवमनेन प्रकारेण हृदयालम्भनं कार्यम्। " ऋतावेवेति" कर्काचार्याः[३]।

इति श्रीमन्महायाज्ञिकपाठकश्रीरामचन्द्रसूनुमहायाज्ञिकश्रीगङ्गाधरकृतायां पारस्करगृह्यसूत्रवृत्तौ प्रथमकाण्डे एकादशी कण्डिका।।११।।



---

१ *शां.गृ.सू.* १.१६.३.

२ अत एव-स

३ ऋतावृतावेव कर्म कर्तव्यम् इति

।। द्वादशी कण्डिका ।।

मूलम् - *पक्षादिषु स्थलीपाकꣳ श्रपयित्वा दर्शपूर्णमासदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति ब्रह्मणे प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो द्यावापृथिवीभ्यामिति।।१।। विश्वेभ्यो देवेभ्यो बलिहरणं भूतगृह्येभ्य आकाशाय च।।२।। वैश्वदेवस्याग्नौ जुहोत्यग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहाग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति प्राशनान्ते।।३।। बाह्यतः स्त्रीबलिꣳ हरति नमः स्त्रियै नमः पुꣳसे वयसेऽवयसे नमः शुक्लाय कृष्णदंताय पापिनां पतये नमः। ये मे प्रजामुपलोभयंति ग्रामे वसंत उत वाऽरण्ये तेभ्यो नमोऽस्तु बलिमेभ्यो हरामि स्वस्ति मेऽस्तु प्रजां मे ददात्विति।।४।। शेषमद्भिः प्रप्लाव्य ततो ब्राह्मणभोजनम्।।५।। (१२)*

दारकाले आधाने क्रियमाणे विवाहादनन्तरमक्षतहोमस्तावद्भवतिं। चतुर्थ्यां चतुर्थीकर्म। अतः प्रयोगक्रमेण पूर्वमक्षतहोम उपदिष्टस्ततश्चतुर्थीकर्म। तत्प्रसङ्गाद्गर्भाधानम्। इदानीं गार्ह्येऽग्नौ दर्शपूर्णमासस्थालीपाककर्माह।

।।श्रीः।। पक्षा[1]दिषु स्थाली[2]पाकꣳ श्रपयित्वा दर्शपूर्णमासदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति ब्रह्मणे प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो द्यावापृथिवीभ्यामिति (१.१२.१)।।

---

१ पक्षादिष्विति बहुवचनोपदेशात्सर्वपक्षादिषु क्रिया स्थालीपाकं श्रपयित्वे– त्युच्यते तद्भूतोपादानं मा भूदिति तेनैव स्थालीपाकेन दर्शपूर्णमासदेवताभ्यो विनिष्कृष्य दर्शे दर्शदेवताभ्यो हुत्वा पौर्णमासे पौर्णमासदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति ब्रह्मणे प्रजापतये इत्येवमादिभ्यः इति कर्काचार्याः।

२ "उक्तेन विधिना स्थालीपाकं श्रपयित्वा तेनैव स्थालीपाकेन दर्शपूर्णमास-देवताभ्यो विभागेन होमः पौर्णमासे पक्षादौ पौर्णमासदेवताभ्यो हुत्वा दर्शकालपक्षादौ दर्शदेवताभ्यो हुत्वा ब्रह्मण इत्येवमादिभ्यश्चतुर्भ्यो जुहोति स्थालीपाकेनैव। दर्शपौर्णमासे च विधिः समान इति कृत्वा ग्रन्थगौरव-भयादाचार्येण समस्तोपदेशः कृतः। अतो यादृशस्ताभ्यो होमो विभागेन सिद्धस्तादृश एवेहापीति। एवञ्च स्मृत्यन्तरैः सहानुगतार्थो भवति। केचित्तु समस्तोपदेशात्सर्वाभ्यो होममिच्छन्ति। सिद्धचरोरुपादानं माभूदिति

पक्षाणामादयः पक्षादयस्तेषु पक्षादिषु। बहुवचनोपदेशाद्यावज्जीवं सर्वपक्षादिषु नित्यत्वेनानुष्ठानम्। स्थालीपाकं श्रपयित्वा वक्ष्यमाणदेवतोद्देशेन स्थालीपाकविधिनैकस्य स्थालीपाकस्य श्रपणं कृत्वा। स्थालीपाकं श्रपयित्वेति ग्रहणं प्रतिदैवतस्थालीपाकनिवृत्त्यर्थम्।

दर्शपूर्णमासदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति ब्रह्मणे प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यो द्यावापृथिवीभ्याम्।

दर्शे दर्शदेवताभ्यः पौर्णमासे पौर्णमासदेवताभ्यो हुत्वा होमं कृत्वा ब्रह्मादिभ्यस्तस्मादेव स्थालीपाकाच्चतस्र आहुतीर्जुहोति। अत्र पक्षादिषु यागविधानात्पक्षान्तेषूपवासः सिद्धो भवति ।

तदुक्तं गोभिलेन[1]। "अत्र[2] दर्शपूर्णमासयोः। संध्यां[3] पौर्णमासीमुपवसेत्। उत्तरामित्येके। अथ यदहश्चन्द्रमा न दृश्येत साममावास्याम्। पक्षांता उपवस्तव्याः पक्षादयोऽभियष्टव्याः। आमावास्येन हविषा पूर्वपक्षमभियजते पौर्णमासेनापरपक्षम्। यः परमो विकर्षः सूर्या-चन्द्रमसोः सा पौर्णमासी यः परमः संकर्षः सामावास्या। यदहस्त्वेव चन्द्रमा न दृश्येत साममावास्यां कुर्वीत। दृश्यमानेऽप्येकदा गताध्वा भवतीति। त्रयः पौर्णमासीकाला भवन्ति संध्या वास्तमितोदिता वोच्चैर्वा। अथ यदहः पूर्णो भवति पृथगेवैतस्य ज्ञानस्याध्यायो भवत्यधीयीत वा तद्विद्भ्यो वा [4]पर्वावगमयेत। अथ यदहरुपवसथो भवति तदहः पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिं हुत्वैतदग्नेः स्थण्डिलं गोमयेन समन्तं पर्युपलिम्पतीत्याद्युक्त्वा" न तदहः

श्रपयित्वेत्युच्यते। यद्यप्यत्र पक्षादिष्विति सामान्येनोक्तं तथापि स्मृत्यन्तरोक्तो यागकालो ग्राह्यः। *वृद्धशातातपः* - "पर्वणो यश्चतुर्थोंश आद्याः प्रतिपदस्त्रयः। यागकालः स विज्ञेयः प्रातर्युक्तो मनीषिभिः इति गदाधरभाष्ये, पृ.१३२.

१ *गो.गृ.सू.* १.५.१-१३, २१. २६,

२ अत्र दर्शनपूर्णविमासयोः - स; अथ- *गो. गृह्ये*।

३ अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्य्यनक्षत्रवर्जितः। सा च सन्ध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।। इति *स्मृतौ* इति *गो.गृ.* भाष्यकारः।

४ पर्वागमयेत - ग, स

प्रसृ[1]ज्येत। दूरादपि गृहानभ्येयात्। अन्यतस्तु धनं परि[2]क्रीणीयान्न विक्रीणीत। "अबहुवादी स्यात् सत्यं विवदिषेत्। अथापराह्ण एवाप्लुत्यौपवसथिकं दम्पती भुञ्जीयातां यदेतयोः काम्यꣳ स्यात्सर्पिर्मिश्रꣳ स्यात्कुशलेन।

मान[3]तन्तव्यो होवाच। आहुता वा एतस्य मानुष्याहुतिर्भवति य औप[4]वसथिकं नाश्नाति। अनीश्वरो ह क्षो[5]धुको भवत्यकाम्यो जनानाम्। पापवसीयसी हास्य प्रजा भवति। य औपवसथिकं भुंक्त ईश्वरो ह भवत्यक्षोधुकः काम्यो जनानाम्। [6]वसीयसी हास्य प्रजा भवति। तस्माद्यत्कामयेतौपवसथिकं भुञ्जीयाताम्। अध एवैताꣳ रात्रिꣳ शयीयाताम्। तौ खलु जाग्रन्मिश्रावेवैताꣳ रात्रिं विहरेयाताम्। इतिहासमिश्रेण वा केनचिद्वा। जुगुप्सेयातां त्वेवाव्रत्येभ्यः कर्मभ्यः। न प्रवस[7]न्नुपवसेदित्याहुः। पत्न्या व्रतं[8] भवतीति। यथा कामयेत तथा कुर्यात्। एवमेवाहिता[9]ग्नेरप्युपवसथो भवति। यच्चाम्नायो[1] विदध्यात्। अथ पूर्वाह्ण एव प्रातराहुतिꣳ हुत्वाऽग्रेणाग्निं परिक्रम्ये"त्यादि स्थालीपाकविधिरिति।

---

१ प्रसज्येत- ग, स

२ क्रीणीयान्न- गो.गृह्ये। परिक्रीणीमान्न०-स

३ *गो.गृ.सू.* १.६.१-१३

४ अपवसथिकं-स;

५ क्षोधुकः क्षुद्युक्तः, अतृप्तः सदा भवतीत्यर्थः।

६ वसीयसी कल्याणी पुण्यवती इति *गो.गृह्यभाष्ये*।

७ प्रवसन् प्रवासमनुतिष्ठन् न उपवसेत् इत्याहुरेके आचार्याः। एतस्मादेवावगम्यते-प्रवसन्नप्युपवसेत्-इत्यन्ये आचार्या मन्यन्ते इति *गो.गृह्य-भाष्यकारः*।

८ पत्न्या व्रतमौपवसथिकं भवति इति आहुराचार्य्याः।

९ आहिताग्निः पञ्चाग्निरुच्यते-स च, "पवनः पावनस्त्रेता यस्य पञ्चाग्नयो गृहे "इति स्मृत्युक्तः इति *गो. गृह्यभाष्ये*।

तथा [२]**शाङ्खायनगृह्यसूत्रे।** अथ दर्शपूर्णमासा उपोष्य। प्रातर्यत्रैतन्महावृक्षाग्राणि सूर्य आतपति स होमकालः स्वस्त्ययनतमः सर्वासामावृतामन्यत्र निर्देशात्। सुमनाः शुचिः शुचौ वरूथ्यदेशे पूर्णविघनं चरुं श्रपयित्वा दर्शपूर्णमासदेवताभ्यो यथा विभागं स्थालीपाकस्य जुहोति। स्थालीपाकेषु च ग्रहणासादनप्रोक्षणानि मंत्रदेवताभ्यः। अवदानधर्माश्च। पूर्वे[३] तु दर्शपूर्णमासाभ्यामन्वारम्भणीयदेवताभ्यो जुहुयात्। आपौर्णमासाद्दर्शस्यानतीतः कालः आदर्शात्पौर्णमासस्य। प्रातराहुतिं चैके सायमाहुतिकालेत्ययान्मन्यन्ते। नियतस्त्वेव कालोऽग्निहोत्रे प्रायश्चित्तदर्शनाद्भिन्नकालस्येति।

तच्छ्रौतसूत्रेऽपि[४]।" उपोष्य पौर्णमासेन हविषा यजते। तथामावास्येन। द्वे पौर्णमास्यौ अमावास्ये च। यां पर्यस्तमयन्पूर्ण उदियाद्यां [५]चास्तमिते ते पौर्णमास्यौ। श्वो न द्रष्टेति यदहश्च न दृश्येत ते अमावास्ये। तत्रेज्यायां याथाकामी। इति पौर्णमास्यामित्यमावा–स्यायामित्युपदेशाद्व्यवतिष्ठन्ते। तत्संयुक्ताश्च शब्दाः। समानमन्यदिति।"

[६]**आश्वलायनसूत्रे**ऽपि। अथ [७]पार्वणः स्थालीपाकः। तस्य दर्शपूर्णमासाभ्यामुपवासः[१]। इध्माबर्हिषोश्च सन्नहन[२]मिति। अत्र

---

१ आम्नायते अभ्यस्यते, इत्याम्नायो वेद उच्यते। स खल्वाम्नायः शाखान्तरीयोऽपि यदन्यद्विदध्यात्, तदपि कर्त्तव्यम् इति वाक्यशेषः"। *गो.गृ.भाष्ये*।

२ *शां.गृ.सू.* १.३.१-६

३ पूर्व- *शां.गृह्ये*

४ *शां. श्रौ. सू.* १.३.१–१०

५ वा-स

६ *आ.गृ.सू.* १.१०.१-३

७ पर्वणि भवः पार्वणः। तत्र पक्षसंधिः पर्वेत्युच्यते। पौर्णमासी चामावास्या च। दर्शपूर्णमासव्यपदेशादुपवास एव प्रसज्येत। न कर्मणः कालः। पाणिग्रहणादिवचनादहरहः क्रिया प्राप्नोति। सा मा भूदिति कृत्वा पार्वणग्रहणं क्रियते। स्थालीपाक इति कर्मणो नामधेयम् इति *आ.गृ.सूत्रभाष्ये*।

दर्शपूर्णमासेति समस्तोपादानात्तद्गताद्व्यहादयो धर्माः पक्षादिज्ञानं च गोभिलाद्युक्तप्रकारेण ज्ञेयम्। परमार्थतस्त्वपराह्णे पर्वसंधानुपक्रमः परेद्युर्यागः। न तत्र चन्द्रदर्शननिमित्तनैमित्तिकम्। रात्रिसंधिवत्। अपराह्णेऽथवा रात्रावित्युक्तेः[३]। यत्तु रात्रिसंधावेवेदं वाक्यं प्रवर्त्तते नापराह्णसंधाविति तदपराह्णसंधावेतद्वाक्यस्याऽप्रामाण्यं रात्रिसंधौ च प्रामाण्यमिति न युक्ततरम्। अतएव **स्मृत्यर्थसारा**दिभिः सर्वैरपराह्णसंधौ न चन्द्रदर्शनदोष इत्युक्तम्। मध्याह्नसंधौ तु तस्मिन्नहनि यागः पूर्वेद्युरुपक्रमः। पूर्वाह्णे वाऽथ मध्याह्न इत्युक्तेः[४]। संधिज्ञानं तु[५]

तिथेः परस्या घटिकास्तु याः स्यु –
र्न्यूनाऽथवास्त्वभ्यधिकास्तु तासाम्।
अर्द्धं वियोज्यं च तथा प्रयोज्यं
ह्रासे च वृद्धौ प्रथमे दिने तत्। इति

अत्र विशेषतो विस्तरतश्चोपवासयागकालयोर्निर्णयोऽस्म[६]त्कृते **प्रकृतिविकृतियागकालनिर्णये**ऽवगन्तव्यो विस्तरापत्तेः पुनरत्र नोच्यते।

अत्र समस्तोपदेशेऽपि विभागेन होमः। पौर्णमासपक्षादौ पौर्णमासदेवताभ्यो हुत्वा ब्रह्मणे प्रजापतय इत्यादि जुहोति। दर्शकालपक्षादौ दर्शदेवताभ्यो हुत्वा ब्रह्मणे प्रजापतय इत्यादि जुहोति। पौर्णमासदेवतास्त्वग्निरग्नीषोमाविति। दर्शदेवतास्त्वग्निर्विष्णुरिन्द्राग्नी इति।

---

१ "तत्रायमुपवासशब्दोऽभोजने प्रसिद्धो भवति लोके। इह तु नाभोजने। कुतः। सकृद्भोजने शास्त्रान्तरे विहितत्वात् इति भाष्यकारः।

२ "इध्माबर्हिषोश्च संनहनं, बन्धनमित्यर्थः। शास्त्रान्तरे यथादृष्टं संनहनं तथा कर्त्तव्यं समन्त्रकममन्त्रकं वा इति देवस्वामिभाष्ये।

३ *लौगाक्षिः* - अपराह्णेऽथवा रात्रौ यदि पर्व समाप्यते। उपोष्य तस्मिन्नहनि श्वोभूते याग इष्यते।

४ *लौगाक्षिः* - पूर्वाह्णे वाथ मध्याह्ने यदि पर्व समाप्यते। उपोष्य तत्र पूर्वेद्युस्तदहर्याग इष्यते। (द्रष्ट. विश्वनाथभाष्ये, पृ. १३६)

५ *लौगाक्षिः*। (० स्तथैवाभ्यधिकाश्च ...)

६ स्मृत्-स

इत्यनाहिताग्नेराहिताग्नेरसन्नयतश्च। सन्नयतस्तु दर्शे विष्णुस्थानेऽग्नीषोमाविन्द्राग्नीस्थान इन्द्रो महेन्द्रो वेति विशेषः। पौर्णमासे पूर्वोऽग्नीषोमीयो दर्शे विष्णुरग्नीषोमौ [1]चोपांशु भवन्त्यन्या उच्चैः।

अत्र भर्तृयज्ञपादाः। समस्तोपदेशस्तु[2] विधेः समान इति कृत्त्वा ग्रन्थगौरवभयादाचार्यस्य कृतसिद्धवदुपदेशाच्च[3] यादृशस्ताभ्यो होमो विभागेन सिद्धस्तादृश एवेहापीति। एवं च स्मृत्यन्तरैः[4] सहानुगतार्थो भवति। केचित्तु समस्तोपदेशबलात्समस्तानां होममिच्छन्तीत्याहुः। अतः श्रौतातिदेशेनात्र देवतोपदेशः। ततश्चाऽनाहिताग्निदशायां दर्शे कृतयोर्विष्णुरिन्द्राग्न्योः स्थाने आहिताग्निदशायां [5]सन्नयतोऽग्नीषोमाविन्द्रो महेन्द्रो वा भवतः। आतिदेशिकत्वबला[6]देवाऽत्र परिगृहीतशंका नेति। समस्तहोमपक्षस्तु सर्वभाष्यकारैरुपेक्षित एव।

श्रीः।। विश्वे[7]भ्यो देवेभ्यो बलिहरणं भूतगृह्येभ्य आकाशाय च[8] (१.१२.२)।।

अतः परं वृद्धैर्नैवेयं वृत्तिर्व्याख्याता। संवदष्टादशशताऽधिके पञ्चविंशे १८२५ वर्षे मार्गशीर्षशुक्लतृतीयायां चन्द्रेऽस्या वृत्तेः कर्त्तुर्वंशसंभूतेन पाठकश्रीबलभद्रात्मजेन देवभद्रेण काश्यामस्य

---

१ वोपांशु-स

२ ०स्तो-स

३ ०देशाच-स

४ स्मृत्यन्तरेः-स

५ मन्न०-स

६ ०बलाऽत्र-स

७ "स्थालीपाकादेव द्रव्यान्तरानुपदेशात्, बलिहरणे च नमस्कारः" इति कर्काचार्याः। हरणं दानं, तच्चैवं - चरोरुत्तरतः प्राक्संस्थमुदक्संस्थं वा विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः। भृतगृह्येभ्यो नमः इदं भूतगृह्येभ्यः। आकाशाय नमः इदमाकाशाय। समुच्चयार्थश्चकारः इति विश्वनाथः।

८ अतः परं श्रीगंगाधरपाठककृता वृत्तिर्खण्डिता वर्तते।

ग्रन्थकर्त्तुर्हस्तलिखितं जीर्णमेतावदेव खण्डितं पुस्तकं गोत्र[1]जस्य गृहाल्लब्धं दृष्ट्वा तत्र च हंसकाकपदचिह्नयोर्विना पत्र[2]समासेष्वध ऊर्ध्वं तिर्यक्च लिखितान् शोधान्सम्यक् परिभाव्य ग्रन्थस्य खण्डितत्वात्कण्डिकान्ते नामाऽलंकारं प्रक्षिप्य लिखितमस्ति। एतावत्कालं वृद्धैः पुस्तकान्तरन्नैव लिखितमत इदमेव द्वितीयं पुस्तकमित्यत्र न संदेह इति। अथास्य ग्रन्थकर्त्तुः पूर्वजेभ्यरारभ्याऽद्य यावद्वृद्धैः परिगणितानां पुस्तकपृष्ठेषु लिखितानां मच्छ्रुतानाञ्च गोत्रजानामवबोधायोत्तरत्र सापिण्ड्यनिर्णयार्थं वंशावलीलिख्यते[3]।

सर्वेषां समानं गौतमसगोत्रम्। गौतम आङ्गिरस औतथ्येति त्रयः प्रवराः। नागरज्ञातिः। काशीवासिनः सर्वे यजुर्वेदिनो वाजसनेयीमाध्यन्दिनी-शाखाध्यायिनः पाठकोपनामका वेदशास्त्रसम्पन्नाः कात्यायन-सूत्रानुसारिणो याज्ञिकाश्च। तत्रादिपुरुषो महानन्दपाठकाख्यः।१।। तत्सुतो द्वितीयो रामकृष्णः।२। तृतीयो नृसिंहः।३। चतुर्थो रामचन्द्रः।४। पञ्चमो गङ्गाधरः स्वयम् ।५। पष्ठः पुनः रामकृष्णः।६। सप्तमो महादेवः श्यामा इति द्वितीय नामकः।७। अष्टमो रामभद्रो बाबा इति द्वितीय नामकः।८। नवमो बलभद्रः।६। तत्सुतो दशमोऽहं देवभद्र (१०) इत्येवं दशजातास्तेषु पूर्वेषां पञ्चानां महानन्द-रामकृष्ण-नृसिंह-रामचन्द्र-गङ्गाधरांणा-मुत्सर्गोऽवशिष्टाः पुना रामकृष्णप्रभृतयो मत्सह पञ्च। षष्ठी मत्कन्योद्वाहिता विद्यमाना जीवकुअरीति ख्याता। इति मत्पक्षे। अथ मद्भ्रातृपक्षे। मत्तो ज्येष्ठो विद्यमानो वामनभद्रः पञ्चमः। तत्सुतः षष्ठो ज्येष्ठो विद्यमानः शिवभद्रः। तत्पुत्रः सप्तम उद्वाहितो विद्यमानो रवीभद्रः। भ्रातुः कनिष्ठपुत्रः षष्ठो बालमुकुन्दः। तत्सुतः सप्तम उद्वाहितो विद्यमानो विजयभद्र इति। अथ पितृव्यपक्षे। पितृव्यो रामाख्यश्चतुर्थः। तत्सुतो गणपतिः पञ्चमः। तत्पुत्राः षष्ठा विद्यमाना जयकृष्ण-श्रीकृष्ण-रामजी

---

१ गोत्रस्य-स

२ ममासे-स

३ स–मातृकायामेतावदेव। अन्ते।। छें।। छें।। छें।। इति। मातृकेयं चतुस्त्रिंश-दधिकं शततमा पृष्ठात्मिका वर्तते।

नामकास्त्रय इति। अथाऽन्यगोत्रजेषु। तत्रादिः पुना रामकृष्णः। तत्पुत्रौ द्वौ द्वितीयो ज्येष्ठो श्यामा कनिष्ठो गणेशाख्यः। श्यामस्य द्वौ सुतौ तृतीयो ज्येष्ठो बाबा कनिष्ठो वीरभद्रश्च। तत्र ज्येष्ठस्योक्ताः। वीरभद्र- सुतः पुनर्महानन्दश्चतुर्थः। तत्पुत्रः पञ्चमो विद्यमानो यज्ञभद्रः। तत्सुतो विद्यमानश्चन्द्रभद्रः षष्ठ इति। अथ गणेशस्य पुत्रो बैजनाथस्तृतीयः। तत्सुतश्चतुर्थः शिवशङ्करः। तत्पुत्रौ द्वौ विद्यमानौ पञ्चमो ज्येष्ठो कृपाशङ्करः कनिष्ठ उदयशङ्करश्च। कृपाशङ्करस्य द्वौ सुतौ विद्यमानौ षष्ठो ज्येष्ठो गौरीशङ्करः कनिष्ठो दयाशङ्कर इति। एतत्सर्वमाशौचे कन्यासापिण्ड्ये विवाहादिषु चिन्त्यमिति दिक्।

।। शुभं भवतु।।

संवत् १८२५ वर्षे मार्गशीर्षशुक्लतृतीयायां चन्द्रे इदं पुस्तकं लिखितं पाठक-श्रीबलभद्रात्मजदेवभद्रेण काश्यां कालभैरवसन्निधौ। अतो देवभद्रपाठकस्यैवेदम्पुस्तकम्[1] ।।श्रीः।।



१ समाप्ता चेयं पञ्च पञ्चाशत् पृष्ठात्मिका ग-मातृका।

परिशिष्ट-१

सन्दर्भग्रन्थानुक्रमणिका

अमरकोश- चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १९५७, द्वितीय संस्करण।

अष्टाध्यायी- पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रपाठ (सं.) पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट, (ग्रन्थमाला-२४) सम्वत् २०२४, सन् १९६७, अमृतसर।

आथर्वण परिशिष्ट बोलिंग तथा नैगालिन, लीपजिग, १९०९

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र- (सं०) श्री चिन्नस्वामि शास्त्री, वाराणसी १९२८ (हरदत्त और सुदर्शनाचार्य की टीका सहित); आपस्तम्ब गृ.सू. (सं०) डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय (हिन्दी व्याख्या सहित) चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १९७१।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र- (सं.) रिचर्ड गार्वे, मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली १९८३।

आपस्तम्ब शुल्ब सूत्र- (करविन्द सुन्दरराज भाष्य सहित) (सं.) सत्यप्रकाश, दि० रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ एन्शिएन्ट साइन्टिफिक स्टडीज, नई दिल्ली-८, १९६८। श्री निवासाचार्य, मैसूर, १९३१।

आश्वलायनगृह्यसूत्र- (देवस्वामि भाष्यसहित) (सं.) के.पी. ऐथल, चेन्नई (सीरीज-३) १९८०; आश्वलायन गृह्यसूत्र, (नारायण भाष्य सहित) (सं.) डॉ० नरेन्द्र नाथ शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली १९७६।

ऋग्विधान- (शौनक) डॉ० रुडाल्फ मेयर द्वारा लैटिन में १८७८ में संपादित; प्रो. जे. खोंदा द्वारा अंग्रेजी अनुवाद नीदरलैण्ड से प्रकाशित; डॉ० एम.एस. भट्ट द्वारा बृहद्भूमिका से युक्त मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली से प्रकाशित।

ऋग्वेदसंहिता- चौखम्बा, वाराणसी १९६६; स्वाध्याय मण्डल, पारडी।

कर्मप्रदीप- (कात्यायन स्मृति) आनन्दाश्रम, पूना से गोभिलस्मृति नाम से प्रकाशित।

कात्यायन स्मृति- धर्मशास्त्र संग्रह, (सं.) जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता, १८७९

कात्यायन शुल्बसूत्र- (सं.) विद्याधर शर्मा, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, सम्वत् १९८५; म.म. विद्याधर गौड़ (वृत्तिसहित) वाराणसी १९२८ ।

कात्यायन श्रौतसूत्र- (श्रीमत्कर्काचार्य विरचित भाष्य सहित) महा० श्री नित्यानन्द पर्वतीय कृत टिप्पणी आदि से संशोधित, जयकृष्ण दास हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९८५; श्री विद्याधर शर्मा (शुल्ब वृत्ति सहित) चौखम्बा, वाराणसी ।

कुण्डरत्नाकर- विश्वनाथ द्विवेदी, 'कुण्डग्रन्थ विंशति' में प्रकाशित।

कुण्डाहिति- रामचन्द्र विरचित, वर्ष १६४३, फोटो प्रति सं. वि.वि., वाराणसी।

कर्मपुराण- कूर्म पुराणांक, वर्ष ७१(१), गीताप्रेस, गोरखपुर, १९९७।

कौशिकसूत्र-दारिल-भाष्य- तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पुणे १९९२, (सं.) एम्. ब्लूमफील्ड, दारिल-केशव-व्याख्या-अंशों सहित, सन् १८८९-९० संस्करण दुष्प्राप्य; (सं) चिन्नस्वामि, मद्रास, १९४४ ।

गृह्यकारिका- रेणुकाचार्य, १२६६ ई०।

गृह्यपरिशिष्ट- (सं.) आर. विद्यारत्न तथा ए. वेदान्त वागीश (आश्वलायन गृह्यसूत्र के साथ) कलकत्ता, १८६६-६९ ।

गृह्यसंग्रहपरिशिष्ट- गोभिल-पुत्र कृत (सं.) एम. ब्लूमफील्ड; (सं.) सत्यव्रत सामश्रमी।

गृह्यासंग्रह- (गोभिलाचार्य-पुत्र प्रणीत)। चन्द्रकान्त तर्कालंकार के भाष्य के साथ प्रकाशित। कलकत्ता, शक सम्वत् १८३१ ।

गोभिलगृह्यसूत्र- सत्यव्रत सामश्रमी की संस्कृत व्याख्या और उदयनारायण सिंह के हिन्दी अनुवाद सहित, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, (व्रजजीवन प्राच्य भारती ग्रन्थमाला-५७); काशी संस्कृत सीरीज, नं. ११८, बनारस १९३६ ।

गौतमधर्मसूत्र- (सं.) स्टेन्सलेर, लन्दन, १८७६; (सं.) डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १९६६ ।

छन्दोग परिशिष्ट- (गोभिल प्रणीत) कात्यायन स्मृति के नाम से धर्मशास्त्र संग्रह, (सं.) (जीवानन्द) द्वितीय भाग में प्रकाशित। आनन्दाश्रम पूना से 'गोभिलस्मृति' के नाम से १९२९ में प्रकाशित।

तैत्तिरीयसंहिता- (सं.) महादेव शास्त्री, मैसूर, १८८४;- सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९८३;- आनन्दाश्रम संस्कृत-ग्रन्थ-माला, सायण-भाष्य के साथ।

धर्मशास्त्र का इतिहास- पी.वी. काणे, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ (ग्रन्थमाला-७४) १९६३ ।

निदानसूत्र- (सं.)कैलाशनाथ भटनागर, मेहरचन्द्र लक्ष्मण दास, दिल्ली।

निरुक्त- मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दरियागंज, दिल्ली-६ (छज्जूराम शास्त्री टीका) १९६३ ।

पराशरस्मृति- (माधवाचार्य वृत्ति सहिता) (पराशरमाधव), दि एशियाटिक सोसायटी, १९७४,

पर्वनिर्णय- (गंगाधर पाठक कृत)

प्रवासकृत्य कारिका- (गंगाधर पाठक कृत)

पारस्करगृह्यसूत्र- (भाष्यपंचकसमलंकृतम्) (सं.) महादेव गंगाधर बाक्रे, मुन्शी राममनोहर लाल, गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस, बम्बई १९७३;-चौखम्बा, बनारस; गुजराती प्रेस, बम्बई १९१७ ।

मदनपारिजात- (श्री मदनपाल विरचित), आसियिक समिति प्रकाशन, कलकत्ता १८९३ ।

मानवगृह्यसूत्र- (अष्टावक्र-भाष्य-सहित), रामकृष्ण हर्षे जी शास्त्री, पाणिनि, नई दिल्ली, १९८२;-(सं.) विनयतोष भट्टाचार्य (भाष्य सहित), गायकवाड ओरियन्टल सीरीज-३५, बड़ौदा।

मनुस्मृति- (कुल्लूक भट्ट कृत मन्वर्थ मुक्तावली सहित), निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९४६, दसवाँ संस्करण

मनुसंहिता- श्री अरुणोदय राय, कलकत्ता, सं. १[illegible]५५ ।

याज्ञवल्क्य-स्मृति- (मिताक्षरासंवलिता), निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, १९२६, मित्रमिश्र रवि ज्ञानेश्वर की टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३०;- (अपरार्क-टीका सहित), आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९०२।

शतपथ ब्राह्मण- (सं.) वंशीधर शास्त्री, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, संवत् १९९७ ।

शांखायनकारिका-

शांखायन गृह्य - कारिका-

शांखायनगृह्यसूत्र- (सं.) एस.आर.सहगल, मुन्शीराम मनोहर लाल, दिल्ली, १९६०,- एच.ओल्डेनबर्ग कृत जर्मन अनुवाद (नारायण-भाष्य तथा रामचन्द्र कृत पद्धति के उद्धरणों सहित।

शुल्बवार्तिक- (रामचन्द्राचार्य कृत)

षड्विंशब्राह्मण- पं. जीवानन्दविद्यासागर, कलकत्ता, सन् १८६१;- केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६७।

सर्वतोमुख पद्धति -गंगाधर पाठक कृत।

स्मार्त्तोल्लास- (सं.) म.म. गोपीनाथ कविराज, (श्रीशिवप्रसादकृत), प्रथम भाग, १९३३।

स्मृतिचन्द्रिका-

स्मृत्यर्थसार-

स्मृतिसंग्रह-

सुश्रुत संहिता- खेमराज श्री कृष्णदास, मुम्बई ।



परिशिष्ट-२

आचार्यानुक्रमणी



परिशिष्ट-३

ग्रन्थानुक्रमणी









गङ्गानाथझापरिसरः

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (मानितविश्वविद्यालयः)

आजादोद्यानम्, प्रयागः-211 002